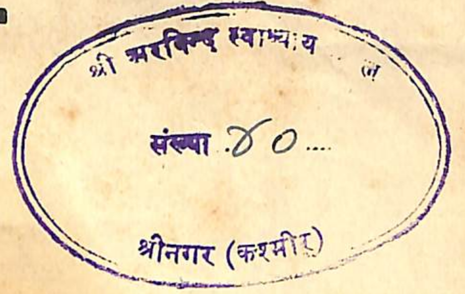
अदिति

सह

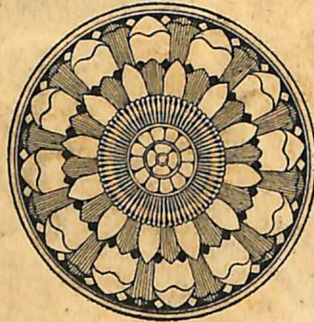
भारत माता



तैंतालीसवीं कला

श्रीअरविन्द के जन्म-दिवस, १५ अगस्त १९५३ के उपलक्ष्य में



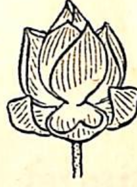


अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

*

इस अंक का मूल्य ३॥)



विषय-सूची

पहला अध्याय	चार साधन	१
दूसरा अध्याय	आत्म-निवेदन	२२
तीसरा अध्याय	कर्म में आत्मसमर्पण–गीता का मार्ग	३८
चौथा अध्याय	यज्ञ, त्रिदल पथ और यज्ञ के अधीश्वर	५२
पांचवां अध्याय	यज्ञ का आरोहण (१) : ज्ञान के कर्म–चैत्य-पुरुष	७५
छठा अध्याय	यज्ञ का आरोहण (२): प्रेम के कर्म–प्राण के कर्म	९५
सातवां अध्याय	आचार के मानदंड और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य	११९
आठवां अध्याय	परम इच्छाशक्ति	१३५
नवां अध्याय	समता की प्राप्ति और अहं का नाश	१४६
दसवां अध्याय	प्रकृति के तीन गुण	१५५
ग्यारहवां अध्याय	कर्म का स्वामी	१६४
बारहवां अध्याय	दिव्य कर्म	१८१

यह विशेषांक

"अदिति सह भारत माता" का यह विशेषांक प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष आनंद होता है। सन् '५१, '५२ के अगस्त अंकों तथा '५३ के फरवरी अंक की तरह यह भी एक मौलिक विषय को प्रस्तुत करता है।

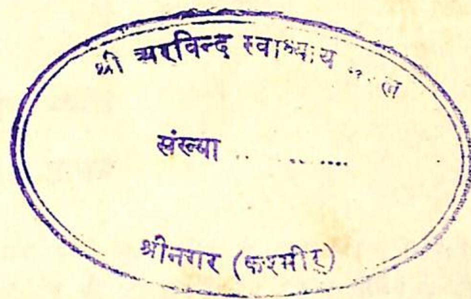
श्रीअरविन्द का सबसे बड़ा काम उनका वह यौगिक यत्न था, जिससे उन्होंने मानव के चेतना-स्तर को उठाने का यत्न किया और उनकी सबसे बड़ी देन उनकी योगविद्या है, जिससे उन्होंने मानव को क्रियात्मक रूप में अपने जीवनविकास के मार्ग पर अग्रसर होने का रास्ता बताया। यह योगविद्या 'पूर्ण योग' के नाम से प्रसिद्ध हुई है और वर्तमान मानव व्यक्ति तथा समाज के लिये आध्यात्मिक जीवन का एक विस्तारपूर्ण मार्ग प्रशस्त करती है। इसी का व्याख्यापूर्ण निरूपण उन्होंने अपने बृहद् ग्रंथ "योग-समन्वय" में किया है। यह ग्रंथ उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ–"दिव्य जीवन" (Life Divine) के समकक्ष रचना है। इसके चार प्रधान भाग हैं, पहला है कर्मयोग, दूसरा ज्ञानयोग, तीसरा भक्ति-योग और चौथा आत्म-सिद्धि अथवा अतिमानसिक योग। अंतिम भाग उच्चतर अवस्था का अभ्यास प्रस्तुत करता है, अन्य तीनों भाग सहगामी कहे जा सकते हैं। अंत में उद्देश्य ऐसा व्यक्तित्व है जो अपने पुरुष तथा प्रकृति-भाव में पूर्णतः दिव्य होगा अर्थात् जहां उसे अपने अंदर अपनी आत्मा उपलब्ध होगी और वह भगवान् के साथ तादाम्य अनुभव करेगी वहां मन, प्राण और शरीर भी आध्यात्मीकृत होकर भागवती शक्ति के साथ साधर्म्य अनुभव करेंगे। फलतः ऐसे मानव की सृष्टि होगी जो जीवन के सामान्य व्यवहार में पूर्ण भागवती चेतना को प्रकाशित करेगा। यही वास्तव में श्रीअरविन्द के अतिमानव का स्वरूप है और उनके अनुसार इस मर्यादा का व्यक्तित्व ही संसार के लिये आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इसी से संसार के वर्तमान स्वार्थ, अज्ञान तथा लोभ-लालच का मौलिक निराकरण हो सकता है। मानव जीवन के प्रश्नों का यही उनका मौलिक समाधान था, इसी क्रांति के लिये वे अनथक भाव में कार्य करते रहे और इसी के लिये वीर-आत्माओं को उनका आह्वान है।

"योग-समन्वय" इसी आधारभूत क्रांति का मार्ग दिखाता है। और इसका पहला भाग कर्मयोग अथवा दिव्य कर्मों का योग यहां प्रस्तुत है। कर्मशील आधुनिक मानव के लिये यह अधिक स्वाभाविक प्रवेश है। इससे वह अपनी कर्मशीलता को वैयक्तिक तथा सामाजिक अहंता के स्तर से उठाकर अनंत सत्ता की यथार्थ सार्वभौमता तक ले जा सकता है और अहंता-

जनित स्वार्थ, संघर्ष और दुविधा से मुक्त होकर अपूर्व सर्वात्मभाव, शांति और निश्चलता अनुभव कर सकता है।

इस ग्रंथ से देश-विदेश में कितने ही जीवन-शास्त्र के जिज्ञासुओं और अन्वेषकों ने अपार आनंद उठाया है। फ्रेंच भाषा में यह अरसा हुआ प्राप्य हो गया था। हिन्दी में संकलित अंशों के रूप में यह पहले "अदिति" में निकल चुका है। अब इसे पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष आनंद होता है और हम आशा करते हैं कि हिन्दीभाषी जनता इससे पूरा लाभ उठायगी।

——संपादक



योग-समन्वय

भाग १

दिव्य कर्मों का योग

पहला अध्याय

चार साधन

योग-सिद्धि, अर्थात् वह पूर्णता जो योगाभ्यास से प्राप्त होती है, चार महान् साधनों की सम्मिलित क्रिया द्वारा सर्वोत्तम रूप से संपादित की जा सकती है। पहला साधन है शास्त्र, अर्थात् उन सत्यों, सिद्धांतों, शक्तियों और विधियों का ज्ञान जिनपर सिद्धि निर्भर करती है। दूसरा है उत्साह, अर्थात् शास्त्रोक्त ज्ञान द्वारा निर्धारित पद्धतियों के आधार पर धीर और स्थिर क्रिया,–हमारे वैयक्तिक प्रयत्न का बल। उसके बाद तीसरा है गुरु,–गुरु का साक्षात् निर्देश, दृष्टांत और प्रभाव जो हमारे ज्ञान और प्रयत्न को आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में ऊपर उठा ले जाते हैं। अंतिम है काल, अर्थात् समय का माध्यम; क्योंकि सभी घटनाओं में क्रिया का एक चक्र और ईश्वरीय गति का एक विशेष समय होता है।

★

पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है। नित्य ज्ञान और नित्य पूर्णता का कमल एक अविकसित और मुकुलित कली के रूप में हमारे अंदर ही विद्यमान है। एक बार जब मनुष्य का मन सनातन की ओर मुड़ने लगता है, एक बार जब उसका हृदय सांत रूपों के मोह की संकीर्णता को अतिक्रांत कर, चाहे किसी भी मात्रा में हो, अनंत में अनुरक्त हो जाता है, तब वह कली शीघ्र या शनैः शनैः, एक एक पंखड़ी करके, एक एक उपलब्धि के द्वारा खुलने लगती है। उस समय से उसका सारा जीवन, सारे विचार, उसके शक्ति-सामर्थ्य के सभी व्यापार और समस्त निष्क्रिय या सक्रिय अनुभव बहुविध आघात बन जाते हैं जो आत्मा के आवरणों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और उसके अटल विकास में आनेवाली बाधाओं को दूर कर देते हैं। जो भगवान् को चुनता है वह भगवान् से चुना जा चुका है। उसने वह दिव्य संस्पर्श प्राप्त कर लिया है जिसके बिना आत्मा का जागरण और उन्मीलन होता ही नहीं। बस एक बार संस्पर्श हो जाना चाहिये, फिर सिद्धि तो निश्चित है, चाहे हम उसे अति शीघ्र, एक ही मानव जीवन की अवधि में अधिगत कर लें या अभिव्यक्त जगत् में जन्म-जन्मांतरों की परंपरा में से गुजरते हुए धैर्यपूर्वक उस ओर अग्रसर हों।

मन को ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती जिसका बीज मनुष्य की विकासशील अंतरात्मा में पहले से ही निहित न हो। अतएव मनुष्य का बाह्य व्यक्तित्व जिस पूर्णता को पहुंच सकता है वह भी सारी की सारी उसकी अपनी अंतरस्थ आत्मा की सनातन पूर्णता को उपलब्ध करनामात्र है। हम भगवान् का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि अपनी प्रच्छन्न प्रकृति में हम पहले से वही हैं। शिक्षणमात्र का अर्थ है आविर्भूत

करना, संभूतिमात्र का अभिप्राय है प्रकट होना। आत्म-उपलब्धि ही रहस्य है; आत्म-ज्ञान और वर्धमान चेतना उसके साधन तथा प्रक्रिया हैं।

ज्ञान को आविर्भूत करने का साधारण साधन है 'श्रुत' शब्द, अर्थात् श्रवण किया हुआ 'शब्द'। शब्द हमें अंदर से प्राप्त हो सकता है; वह हमें बाहर से भी प्राप्त हो सकता है। परंतु दोनों अवस्थाओं में वह निगूढ़ ज्ञान की क्रिया शुरू करा देने का साधनमात्र होता है। अंदर का शब्द हमारी उस अंतरतम अंतरात्मा की वाणी हो सकता है जो भगवान् की ओर सदा खुली रहती है, अथवा यह उन प्रच्छन्न और विश्वव्यापी परम गुरु का शब्द हो सकता है जो सबके हृदयों में विराजमान हैं। कुछ एक महापुरुषों के लिये यही पर्याप्त होता है, उन्हें अन्य किसी शब्द की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाकी सारा योग तो उस परम गुरु के सतत संस्पर्श और पथप्रदर्शन की छाया में आवरणों का खुलनामात्र होता है। ज्ञान का कमल आपसे आप, भीतर से ही, खिलता है, वह हृदयकमल के अधिवासी से निःसृत जाज्वल्यमान तेज की शक्ति से विकसित होता है। निःसंदेह ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं जिनके लिये यह आंतरिक आत्म-ज्ञान ही पर्याप्त होता है और जिन्हें किसी लिखित ग्रंथ या जीवित गुरु के प्रबल प्रभाव के अनुसार चलने की आवश्यकता नहीं होती।

किंतु साधारणतया, भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप, बाहर से प्राप्त ईश्वरीय शब्द की जरूरत पड़ती ही है क्योंकि यह आत्म-प्रस्फुटन के कार्य में सहायक होता है। यह या तो किसी प्राचीन गुरु का शब्द हो सकता है या किसी जीवित गुरु का अधिक प्रभावपूर्ण शब्द। प्रतिनिधिभूत गुरु के उपदेश को कुछ साधक अपनी अंतःशक्ति के जगाने और प्रकट करने के लिये केवल एक निमित्त के रूप में ही ग्रहण करते हैं, मानों सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् प्रकृति के संचालक सामान्य नियम की मर्यादा का मान कर रहे हों। उपनिषदों में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के बारे में एक कथा आती है कि घोर ऋषि के एक शब्द से उनके अंदर ज्ञान जागृत हो उठा। इसी प्रकार रामकृष्ण ने अपने निजी आन्तरिक प्रयत्न से केंद्रीय प्रकाश प्राप्त कर योग के विभिन्न मार्गों में अनेक गुरु धारण किये, पर अपनी उपलब्धि के ढंग और वेग से हर बार यह दिखा दिया कि उनका यह गुरु धारण करना उस सामान्य नियम का सम्मान ही था जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान मनुष्य को शिष्य-भाव में मनुष्य से ही प्राप्त करना चाहिये।

परंतु सामान्यतया साधक के जीवन में भगवत्प्रतिनिधिरूप शास्त्र या जीवित गुरु के शब्द के प्रभाव का बहुत ही बड़ा स्थान होता है। यदि साधक किसी ऐसे मान्य प्राचीन शास्त्र के अनुसार साधना कर रहा हो जिसमें कुछ प्राचीन योगियों का अनुभव दिया हो, तो वह केवल वैयक्तिक प्रयत्न से या किसी गुरु की सहायता से अपनी साधना चला सकता है। तब, वह उस शास्त्र में प्रतिपादित सत्यों के मनन-निदिध्यासन से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है और अपनी व्यक्तिगत अनुभूति में उन सत्यों का साक्षात्कार करके उस ज्ञान को जीवित-जागृत करता है। उस शास्त्र या परंपरा के द्वारा उसे योग की कुछ निश्चित विधियों का ज्ञान होता है, और जब वह देखता है कि उसके गुरु भी अपनी शिक्षाओं में उन्हीं विधियों को संपुष्ट और स्पष्ट करते हैं तो वह भी उन्हीं का अनुसरण करके उनके फलस्वरूप योग-मार्ग में आगे बढ़ता है। यह अधिक संकीर्ण पद्धति है, पर अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित और फलप्रद है, क्योंकि यह चिर-परिचित लक्ष्य के लिये सुविदित पथ का अवलम्बन करती है।

परंतु पूर्णयोग के साधक को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी लिखित शास्त्र नित्य ज्ञान के केवल कुछ एक अंश ही प्रकट कर सकता है, भले ही उस शास्त्र की प्रामाणिकता कितनी भी महान् क्यों न हो अथवा उसकी भावना कितनी भी विशाल क्यों न हो। साधक शास्त्र का उपयोग करेगा, किंतु महान् से महान् शास्त्र से भी वह बंध नहीं जायगा। यदि धर्मशास्त्र गभीर, विशाल एवं उदार हो तो वह साधक के लिये अत्यंत हितकर तथा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वह उसके लिये सर्वोपरि सत्यों तथा उच्चतम अनुभूतियों की प्राप्ति का साधन बन सकता है। उसका योग दीर्घकाल तक एक ही शास्त्र या क्रमशः अनेक शास्त्रों के अनुसार चल सकता है, उदाहरणार्थ, यदि वह महान् हिन्दू परंपरा का अनुसरण करता है, तो वह गीता, उपनिषदों और वेद के अनुसार योग का अभ्यास कर सकता है। अथवा उसके विकास का अधिकतर भाग इस प्रकार का हो सकता है कि वह अनेक शास्त्रों के सत्यों के विविध अनुभवों की ऐश्वर्यराशि को अपने विकास के स्वरूप में समाविष्ट कर सकता है और अतीत में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उस सबसे भविष्य को समृद्ध बना सकता है। परंतु अंत में उसे अपनी आत्मा की ही शरण लेनी होगी। अथवा इससे भी अच्छा यह होगा (यदि वह ऐसा कर सके तो) कि वह लिखित सत्य का अतिक्रमण करके[1] और जो कुछ वह श्रवण कर चुका है एवं जो कुछ उसे अभी श्रवण करना है उस सबका[2] अतिक्रमण करके सदा-सर्वदा और प्रारंभ से ही अपनी आत्मा में निवास करे। कारण, वह एक पुस्तक या अनेक पुस्तकों का साधक नहीं है, वह अनंत का साधक है।

एक और प्रकार का भी शास्त्र होता है। यह धर्मशास्त्र नहीं होता; इसमें जिस योगपथ पर साधक चलना पसंद करता है उसकी विद्या एवं विधियों और फलोत्पादक सिद्धांतों तथा क्रिया-प्रणाली का वर्णन होता है। प्रत्येक पथ का अपना अपना शास्त्र होता है, चाहे वह लिखित हो या परंपराप्राप्त अर्थात् गुरुओं की दीर्घ परंपरा द्वारा गुरुमुख से प्राप्त होता चला आ रहा हो। भारतवर्ष में साधारणतः लिखित या परंपराप्राप्त शिक्षा को महान् प्रामाणिकता एवं अतिशय सम्मान तक प्रदान किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योग-विशेष की सभी विधियां नियत और स्थिर होती हैं। इसलिये जिस गुरु ने परंपरा द्वारा शास्त्र को प्राप्त किया है और अभ्यास द्वारा उसे अनुभवसिद्ध कर लिया है वह अति प्राचीन पदचिह्नों के सहारे शिष्य को मार्ग दिखाता है। नई अभ्यास-क्रिया, नई यौगिक शिक्षा और नवीन सूत्र के अंगीकार के विरुद्ध बलपूर्वक उठाई गई इस प्रकार की आपत्ति भी प्रायः हमारे सुनने में आती है कि "यह शास्त्र के अनुसार नहीं है।" परंतु असल में बात ऐसी नहीं है, न योगियों की क्रियात्मक साधना में ही वस्तुतः कोई ऐसी लोह-दुर्ग की सी अभेद्य कठोरता होती है कि उसमें नवीन सत्य, नूतन ईश्वरीय ज्ञान एवं विस्तीर्ण अनुभव का प्रवेश ही न हो सके। लिखित या परंपरागत शिक्षा अनेक शताब्दियों के ज्ञान और अनुभवों को एक शास्त्रीय एवं क्रमबद्ध रीति से प्रकट कर देती है जिससे कि वे योग का आरंभ करनेवाले व्यक्ति के लिये सुलभ हो जाते हैं। अतएव इसकी महत्ता और उपयोगिता अतीव महान् है। परंतु विविधता और विकास के लिये अत्यधिक स्वाधीनता सदा ही प्रयोग में लाई जा सकती है। राजयोग जैसी अत्युच्च कोटि की वैज्ञानिक पद्धति का अभ्यास भी पतंजलि की क्रमबद्ध प्राणाली से

---

[1]शब्दब्रह्मातिवर्तते। गीता–६, ४४। [2]श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। गीता–२, ५२।

भिन्न अन्य परिपाटियों द्वारा किया जा सकता है। त्रिमार्ग[1] के तीनों मार्ग अनेक उपमार्गों में विभक्त हो जाते हैं जो अपने लक्ष्य पर पहुंचकर फिर मिल जाते हैं। जिस सामान्य ज्ञान पर योग आश्रित है वह तो नियत है, किंतु क्रम, पूर्वापर-भाव, उपायों और रूपों में विभेद तो हमें स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि सामान्य सत्य स्थिर और शाश्वत रहते हैं तथापि वैयक्तिक प्रकृति की आवश्यकताओं और विशेष प्रवृत्तियों को तृप्त करना ही होता है।

विशेषकर, पूर्ण और समन्वयात्मक योग को किसी लिखित या परंपरागत शास्त्र से आबद्ध होने की आवश्यकता नहीं। जहां यह योग प्राचीन ज्ञान को अपने अंदर समाविष्ट करता है वहां यह उसे वर्तमान और भविष्य के लिये नवीन रूप में व्यवस्थित करने का यत्न भी करता है। इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है कि इसे अनुभव उपलब्ध करने की और नई परिभाषाओं तथा नए रूपों में ज्ञान का फिर से प्रतिपादन करने की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो। क्योंकि यह संपूर्ण जीवन को अपने अंदर समाविष्ट करने का यत्न करता है, इसकी स्थिति उस यात्री की सी नहीं है जो अपनी मंजिल की तरफ जानेवाले राजपथ पर चलता चला जाता है, बल्कि, कम से कम इस अंश में, इसकी स्थिति एक ऐसे मार्गान्वेषक की सी है जो किसी अपरिचित वन में नए मार्ग बनाता है। कारण, योग चिरकाल तक जीवन से विमुख रहा है और प्राचीन पद्धतियां, उदाहरणार्थ, हमारे वैदिक पूर्वजों की पद्धतियां, जिन्होंने इसका आलिंगन करने का यत्न किया था, हमारे लिये अत्यंत दुर्गम हैं। वे ऐसे शब्दों में वर्णित हैं जो आज हमारे लिये सुबोध नहीं, ऐसे रूपों में विन्यस्त हैं जो आज व्यवहार्य नहीं हैं। तब से मनुष्यजाति नित्य काल की धारा पर आगे बढ़ चुकी है और उसी समस्या पर नए दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

इस योग के द्वारा हम अनंत की केवल खोज ही नहीं करते बल्कि उसका आवाहन भी करते हैं जिससे वह अपने आपको मानव जीवन में प्रस्फुटित करे। अतएव हमारे योग-शास्त्र को ग्रहणशील मानव आत्मा की अनंत स्वतंत्रता के लिये सब प्रकार की सुविधा प्रदान करनी होगी। मनुष्य के पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लिये ठीक अवस्था यह होगी कि विराट् तथा परात्पर पुरुष को अपने में ग्रहण करने के ढंग और प्रकार में उसे हेर-फेर की पूरी स्वतंत्रता हो। विवेकानंद ने एक बार कहा था कि सब धर्मों की एकता चरितार्थ करने के लिये आवश्यक है कि इसके रूपों की विविधता अधिकाधिक समृद्ध हो तथा उस मूलभूत एकता की पूर्ण अवस्था तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्य का अपना धर्म होगा और जब वह संप्रदाय या रूढ़ि-परंपरा से बंधा न रहकर परम पुरुष के साथ अपने संबंधों में अपनी स्वतंत्र और सामंजस्य-साधक प्रकृति का ही अनुसरण करेगा। इसी प्रकार कोई कह सकता है कि पूर्णयोग की पूर्णता तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्य अपने निजी योगमार्ग का अवलंबन कर सकेगा तथा परतत्त्व की ओर उन्मुख अपनी निजी प्रकृति के विकास का ही अनुसरण करेगा। कारण, स्वतंत्रता ही अंतिम विधान और चरम परिणति है।

इस बीच कुछ ऐसी सामान्य पद्धतियां निश्चित करने की जरूरत है जो साधक की चिंतना और साधना का मार्ग-निर्देश करने में सहायक हों। परंतु इन्हें, यथासंभव, व्यापक सत्यों एवं सामान्य सिद्धांत-वाक्यों का और प्रयास एवं विकास की अत्यंत शक्ति-

---

[1]ज्ञान, भक्ति और कर्म का त्रिविध मार्ग

शाली विस्तृत दिशाओं का ही रूप धारण करना चाहिये। ये कोई ऐसी बंधी-बंधायी विधियां नहीं होनी चाहियें जिनका नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं की भांति पालन करना पड़े। शास्त्रमात्र भूत-काल के अनुभव का फल होता ह और साथ ही भावी अनुभव में सहायक होता है। यह एक साधन और आंशिक मार्गदर्शक होता है। यह चिह्नित खंभे गाड़ देता है और मुख्य सड़कों एवं पहले खोजी जा चुकी दिशाओं के नाम बता देता है, जिससे पथिक को पता चल सके कि वह किधर और किन मार्गों से बढ़ रहा है।

शेष सब कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न और अनुभव पर और पथदर्शक की शक्ति पर निर्भर करता है।

★

अनुभव का विकास कितने वेग एवं विस्तार के साथ होता है और उसके परिणाम कितने तीव्र एवं प्रभावशाली होते हैं—यह मार्ग के प्रारंभ में और बाद में भी दीर्घकाल तक मुख्यतः साधक की अभीप्सा और उसके वैयक्तिक प्रयत्न पर ही निर्भर करता है। मानव आत्मा का वस्तुओं के बाह्य रूपों और आकर्षणों में ग्रस्त अहंभावमय चेतना से मुड़ना और उस उच्चतर चेतना को अधिकृत करना जिसमें परात्पर और विराट् ईश्वर अपने आपको व्यक्तिरूपी सांचे के अंदर उंडेल सकें और उसे रूपांतरित कर सकें, यही है योग की मौलिक प्रक्रिया। अतएव सिद्धि का सर्वप्रथम निर्धारक तत्त्व यही है कि आत्मा उच्चतर चेतना की ओर कितनी तीव्रता से अभिमुख होती है अथवा अपने को अंतर्मुख करनेवाली शक्ति उसमें कितनी है। इस तीव्रता के नाप हैं—हृदय की अभीप्सा की शक्ति, संकल्प का बल, मन की एकाग्रता, प्रयुक्त शक्ति का अनवरत उद्योग और दृढ़ निश्चय। आदर्श साधक को बाइ-बल की उक्ति के अनुसार यह कहने में समर्थ होना चाहिये "मेरे भगवत्प्राप्ति के उत्साह ने मुझे पूर्णतः ग्रस लिया है।" भगवान् के लिये ऐसा उत्साह, अपनी दिव्य परिणति के लिये संपूर्ण प्रकृति की व्यग्रता एवं व्याकुलता और भगवान् की प्राप्ति के लिये हृदय की उत्सुकता ही उसके अहं को निगल जाती है और इसके क्षुद्र तथा संकीर्ण सांचे की सीमाओं को तोड़ डालती है। फलतः, अहं अपनी अभीष्ट वस्तु को, जो विश्वव्यापी होने से विशाल-तम तथा उच्चतम व्यष्टिगत आत्मा और प्रकृति को भी अतिक्रांत किये हुए है और, परात्पर होने के कारण, उससे अत्यंत उत्कृष्ट है, पूर्ण तथा विशाल रूप में ग्रहण कर पाता है।

परंतु जो शक्ति पूर्णता के लिये कार्य करती है उसका यह केवल एक पार्श्व है। पूर्ण-योग की प्रक्रिया में तीन अवस्थाएं आती हैं, निश्चय ही वे तीव्र रूप में भिन्न या पृथक् पृथक् तो नहीं हैं, पर किसी अंश में क्रमिक अवश्य हैं। सबसे पहले हमें अपने अहंभाव से ऊपर उठने और भगवान् के साथ संबंध स्थापित करने का यत्न करना होगा जिससे कि हम, कम से कम, योग में दीक्षित होकर उसके अधिकारी बन सकें। उसके बाद यह आवश्यक है कि जो परब्रह्म हमसे अतीत है और जिसके साथ हमने अंतर्मिलन प्राप्त किया है उसे हम अपने अंदर ग्रहण करें ताकि वह हमारी संपूर्ण चेतन सत्ता का रूपांतर कर सके। अंत में, हमें अपनी रूपांतरप्राप्त मानवता का संसार में भगवान् के केंद्र के रूप में उपयोग करना होगा। जब तक भगवान् के साथ संबंध यथेष्ट मात्रा में स्थापित नहीं हो जाता, जब तक कुछ न कुछ सतत तादात्म्य, सायुज्य, प्राप्त नहीं हो जाता

तब तक साधारणतया व्यक्तिगत प्रयत्न का अंग अवश्य ही प्रधान रहता है। परंतु जैसे जैसे यह संबंध स्थापित होता जाता है वैसे वैसे साधक निश्चित रूप में इस बात से सचेतन होता जाता है कि उसकी शक्ति से अन्य कोई शक्ति, जो उसके अहंभावपूर्ण प्रयत्न और सामर्थ्य से अतीत है, उसके अंदर काम कर रही है और वह उत्तरोत्तर उस परम शक्ति के प्रति अपने आपको उत्सर्ग करना सीखता जाता है और अपने योग का कार्यभार उसे सौंप देता है। अंत में उसका अपना संकल्प और सामर्थ्य उच्चतर शक्ति के साथ एक हो जाते हैं; वह उन्हें भागवत संकल्प और उसकी परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति में निमज्जित कर देता है। तब से वह देखने लगता है कि यह शक्ति उसकी मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक सत्ता के आवश्यक रूपांतर का सूत्रसंचालन ऐसे न्यायपूर्ण ज्ञान और दूरदर्शी क्षमता के साथ कर रही है जो उत्कंठित और स्वार्थरत अहं के सामर्थ्य से बाहर की वस्तु हैं। जब यह तादात्म्य और आत्म-निमज्जन पूर्ण हो जाते हैं तब संसार में भगवान् का केंद्र तैयार हो जाता है। विशुद्ध, मुक्त, सुनम्य और ज्ञानदीप्त होकर वह केंद्र मानवता या अतिमानवता के विस्तीर्णतर योग में, अर्थात् इस भूलोक की आध्यात्मिक प्रगति या इसके रूपांतर के योग में, सर्वोच्च शक्ति की साक्षात् क्रिया के लिये साधन के तौर पर उपयोग में आने लग सकता है।

निःसंदेह, हमारे अंदर सदा उच्चतर शक्ति ही काम करती है। हममें जो यह भाव होता है कि स्वयं हम ही यत्न तथा अभीप्सा करते हैं उसका कारण यह है कि हमारा अहंकारमय मन अपने आपको दिव्य शक्ति की क्रियाओं के साथ अशुद्ध और अपूर्ण ढंग से एकाकार करने की चेष्टा करता है। यह अतिप्राकृतिक स्तर के अनुभव पर भी मन की वही साधारण परिभाषाएं लागू करने का आग्रह करता है जिनका प्रयोग यह अपने सामान्य सांसारिक अनुभवों के लिये करता है। संसार में हम अहंकार की भावना के साथ कर्म करते हैं। हमारे अंदर जो वैश्व शक्तियां काम करती हैं उन्हें हम दावे के साथ अपनी कहते हैं। मन, प्राण और शरीर के इस ढांचे में परात्पर की चयनशील एवं निर्माणकारी विकासात्मक क्रिया को हम अपने निजी संकल्प, ज्ञान, बल और पुण्य का परिणाम घोषित करते हैं। प्रकाश की प्राप्ति होने पर हमें यह ज्ञान होता है कि अहंकार तो यंत्रमात्र है। हम यह देखने और समझने लगते हैं कि ये चीजें केवल इस अर्थ में हमारी हैं कि ये हमारी उस सर्वोच्च अखंड आत्मा से संबंध रखती हैं जो यंत्रात्मक अहंकार के साथ नहीं वरन् परात्पर के साथ एकीभूत है। भागवत शक्ति की क्रिया पर हम केवल अपनी सीमाएं और विकृतियां ही थोपा करते हैं; उसमें जो सच्ची शक्ति है वह तो भगवान् की ही है। जब मनुष्य का अहंकार यह अनुभव कर लेता है कि उसका संकल्प तो उपकरण है, उसका ज्ञान अविद्या एवं मूढ़ता है, उसका बल बच्चे का अंधेरे में टटोलना है एवं उसका पुण्य पाखंडपूर्ण अपवित्रता है, और जब वह अपने आपको अपने से अतीत परतत्त्व के हाथों में सौंपना सीख जाता है तभी वह मुक्ति लाभ करता है। हम अपनी वैयक्तिक सत्ता के प्रतीयमान स्वातंत्र्य तथा स्व-ख्यापन में अतीव गहरे आसक्त हैं, पर इनके पीछे उन सहस्रों सुझावों, प्रेरणाओं तथा शक्तियों के प्रति, जिन्हें हमने अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से बाह्य बना रखा है, हमारी अत्यंत दयनीय दासता छिपी रहती है। हमारा अहंकार स्वतंत्रता की डींग मारता हुआ भी प्रतिक्षण विश्व-प्रकृति के अंदर अनगिनत सत्ताओं, शक्तियों, सामर्थ्यों और प्रभावों

का दास, खिलौना तथा कठपुतली बना रहता है। अहं का भगवान् के प्रति आत्म-उत्सर्ग ही उसकी आत्म-परिपूर्णता है; अपने से अतीत तत्त्व के प्रति उसका समर्पण ही बंधनों और सीमाओं से उसकी मुक्ति है और यही है उसकी पूर्ण स्वतंत्रता।

परंतु फिर भी, क्रियात्मक विकास में, इन तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक की अपनी अपनी आवश्यकता और उपयोगिता है और प्रत्येक को अपना समय और अपना स्थान प्राप्त होना चाहिये। अतएव, केवल अंतिम तथा सर्वोच्च अवस्था के द्वारा आरंभ करने से ही काम नहीं चलेगा और न ही ऐसा करना सुरक्षित वा फलप्रद हो सकता है। यह भी ठीक मार्ग नहीं होगा कि हम समय से पूर्व ही एक अवस्था से दूसरी पर छलांग मारकर पहुंच जायं। चाहे हम प्रारंभ से ही मन और हृदय में परम पुरुष पर आस्था रखें तो भी प्रकृति में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो आस्था के उपलब्धि बनने में चिरकाल तक बाधा डालेंगे। परंतु बिना उपलब्धि के हमारा मानसिक विश्वास क्रियाशील वस्तु नहीं बन सकता; वह केवल ज्ञान की प्रतिमूर्त्ति ही रहता है, जीवंत सत्य नहीं बनता, वह केवल भावना ही रहता है, शक्ति नहीं बनता। उपलब्धि होनी चाहे आरंभ हो भी जाय तो भी तुरत-फुरत यह कल्पना कर लेना या यह मान बैठना भयावह हो सकता है कि हम पूरी तरह से परम पुरुष के हाथों में हैं और उसके यंत्र बनकर काम कर रहे हैं। ऐसी कल्पना संकटपूर्ण मिथ्या को जन्म दे सकती है। यह असहाय जड़ता पैदा कर सकती है या भगवान् के नाम पर अहंकार की चेष्टाओं को बहुत अधिक बढ़ाकर योग के संपूर्ण अभ्यासक्रम को दुःखद रूप में विकृत और विनष्ट कर सकती है। आंतरिक प्रयत्न और संघर्ष का एक कम या अधिक लंबा समय आया ही करता है जिसमें वैयक्तिक संकल्प को निम्न प्रकृति के अंधकार तथा विकारजाल का निराकरण करके दृढ़ निश्चयपूर्वक या उत्साह के साथ दिव्य प्रकाश का पक्ष लेना होता है। हमें अपने मन की शक्तियों, हृदय के भावावेगों एवं प्राण की कामनाओं को और यहां तक कि शरीर को भी बाध्य करना होता है कि वे यथार्थ वृत्ति धारण करें, अथवा उन्हें सिखाना होता है कि वे शुद्ध प्रभावों को स्वीकार करें तथा उत्तर दें। जब यह सब कुछ ठीक ठीक पूरा हो जाता है तभी निम्न का उच्चतर के प्रति समर्पण संपन्न किया जा सकता है, क्योंकि तब हमारा यज्ञ स्वीकार करने योग्य हो जाता है।

साधक को पहले अपने वैयक्तिक संकल्प के द्वारा अहंकारमयी शक्तियों पर अधिकार करके उन्हें प्रकाश तथा सत्य की ओर मोड़ देना होता है। जब एक बार वे उधर मुड़ जाती हैं तब भी उसे उन्हें सधाना होता है कि वे सदा उस प्रकाश तथा सत्य को ही स्वीकार करें, सदा उसीका वरण और उसीका अनुसरण करें। आगे बढ़ने पर वह वैयक्तिक संकल्प, वैयक्तिक प्रयत्न एवं वैयक्तिक सामर्थ्यों का प्रयोग करता हुआ भी यह सीख जाता है कि किस प्रकार वह उन्हें सचेतन रूप से उच्चतर प्रभाव के अधीन रखकर उच्चतर शक्ति के प्रतिनिधियों के तौर पर व्यवहार में ला सकता है। जब वह और अधिक प्रगति कर लेता है तो उसका संकल्प, प्रयत्न एवं बल पहले की तरह वैयक्तिक तथा पृथक् नहीं रहते, वरन् व्यक्ति में काम कर रहे उच्चतर बल तथा प्रभाव की क्रियाएं बन जाते हैं। परंतु अभी भी दिव्य उद्गम तथा उसमेंसे निकलनेवाली मानवधारा के बीच एक प्रकार की खाई या दूरी बची रहती है। अनिवार्यतः ही, उसका परिणाम यह होता है कि उच्चतर बल एवं प्रभाव हमारे अंदर अस्पष्ट रूप में पहुंचता है और हम तक उसके पहुंचने की

प्रक्रिया सदा ठीक ही नहीं होती, यहां तक कि कभी कभी तो वह बहुत विकृत करनेवाली भी होती है। विकास के अंतिम छोर पर, अहंकार, अपवित्रता और अज्ञान का उत्तरोत्तर लोप होते होते, यह अंतिम विछोह भी दूर हो जाता है। तब, मनुष्य में जो कुछ भी है वह सब दिव्य क्रिया बन जाता है।

★

जिस प्रकार पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निहित है, उसी प्रकार उसका परम पथप्रदर्शक और गुरु वह अंतःस्थित मार्गदर्शक और जगद्गुरु है जो हमारे भीतर प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है। वही हमारे अंधकार को अपने ज्ञान की जाज्वल्यमान ज्योति से विध्वस्त करता है और उसकी ज्योति हमारे भीतर उसके आत्म-प्राकट्य की वर्धमान महिमा बन जाती है। वह हममें स्वातंत्र्य, आनंद, प्रेम, शक्ति और अमर सत्ता की अपनी ही प्रकृति को उत्तरोत्तर आविर्भूत करता है। वह हमारे लिये अपने दिव्य दृष्टांत को हमारे आदर्श के रूप में उपस्थित करता है और निम्नतर सत्ता को उस वस्तु की प्रतिच्छवि में परिणत कर देता है जिसपर यह अपनी निर्निमेष दृष्टि लगाये रहती है। वह अपने ही प्रभाव और अपनी ही उपस्थिति को हमारे अंदर उंडेलकर हमारी वैयक्तिक सत्ता को विराट् तथा परात्पर सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के योग्य बना देता है।

उसकी पद्धति और उसकी प्रणाली क्या है? उसकी कोई भी पद्धति नहीं है और प्रत्येक पद्धति उसी की है। जिन ऊंची से ऊंची प्रक्रियाओं तथा गतियों के प्रयोग में प्रकृति समर्थ है उनका स्वाभाविक संगठन ही उसकी प्रणाली है। वे गतियां तथा प्रक्रियाएं अपने को तुच्छ से तुच्छ ब्यौरे की बातों में तथा अत्यंत नगण्य दीखनेवाले कार्यों में भी उतनी ही सावधानता तथा पूर्णता के साथ व्यवहृत करती हैं जितनी कि बड़ी से बड़ी बातों और कार्यों में। इस प्रकार वे अंत में सभी चीजों को प्रकाश में उठा ले जाती हैं तथा सभी को रूपांतरित कर देती हैं। कारण, उस जगद्गुरु के योग में कोई भी चीज इतनी तुच्छ नहीं कि उसका उपयोग ही न हो सके और कोई भी चीज इतनी बड़ी नहीं कि उसके लिये यत्न ही न किया जा सके। जिस प्रकार परम गुरु के सेवक और शिष्य को अहंकार या अभिमान से कुछ सरोकार नहीं क्योंकि उसके लिये सब कुछ ऊर्ध्व से ही संपन्न किया जाता है, उसी प्रकार उसे अपनी निजी त्रुटियों या अपनी प्रकृति के स्खलनों के कारण निराश होने का भी कोई अधिकार नहीं। क्योंकि, जो शक्ति उसके अंदर काम करती है वह निर्वैयक्तिक—या अतिवैयक्तिक—और अनंत है।

इस अंतःस्थित पथप्रदर्शक, योग के महेश्वर, समस्त यज्ञ और पुरुषार्थ के भर्त्ता, प्रकाशदाता, भोक्ता और लक्ष्य को पूरी तरह से पहिचानना और अंगीकार करना सर्वांगीण पूर्णता के पथ में अत्यंत महत्त्व रखता है। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हम उसे पहलेपहल इस रूप में देखते हैं कि वह सब चीजों का उद्गम-भूत निर्वैयक्तिक ज्ञान, प्रेम और बल है, या इस रूप में कि वह सापेक्ष वस्तु में प्रकट होनेवाला तथा उसे आकृष्ट करनेवाला निरपेक्ष तत्त्व है, या हमारी सर्वोच्च आत्मा और सबकी सर्वोच्च आत्मा है, या हमारे तथा संसार के भीतर अवस्थित भागवत व्यक्ति है जो अपने स्त्रीपुरुषात्मक अनेक नाम-रूपों में से किसी एक में प्रकटीभूत है, या एक ऐसा आदर्श है जिसकी मन कल्पना करता है।

अंत में हम देखते हैं कि वह सब कुछ है और इन सब चीजों के योगफल से भी अधिक है। तद्विषयक परिकल्पना के क्षेत्र में हमारा मन जिस द्वार से प्रवेश करता है वह स्वभावतः ही हमारे अतीत विकास और वर्तमान प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न होता है।

यह अंतःस्थ पथप्रदर्शक प्रारंभ में प्रायः हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न की तीव्रता के कारण और अपने आप में तथा अपने उद्देश्यों में ही अहंभाव की संलग्नता के कारण आवृत रहता है। ज्यों ही हम चेतना में स्वच्छता प्राप्त करते हैं और अहंमय प्रयत्न के क्षेत्र के स्थान पर एक अधिक प्रशांत आत्मज्ञान प्रतिष्ठित हो जाता है, त्यों ही हम अपने भीतर बढ़ते हुए प्रकाश के स्रोत को पहचान लेते हैं। तब हम इस स्रोत के प्रभाव को अपने पहले के जीवन में भी पहचान लेते हैं क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सब अंधकारमय और संघर्षकारी चेष्टाएं एक लक्ष्य की ओर स्थिर रूप से ले जाई गई हैं तथा तब हम यह भी अनुभव करते हैं कि योगमार्ग में हमारे प्रवेश करने से पहले भी, हमारे जीवन का विकास अपनी निर्णायक दिशा की ओर योजनापूर्वक ले जाया गया है। अब हम अपने संघर्षों एवं प्रयत्नों और सफलताओं एवं विफलताओं का अभिप्राय समझने लगते हैं। अंत में हम अपनी अग्निपरी-क्षाओं और कष्टों का मर्म भी हृदयंगम करने में समर्थ हो जाते हैं तथा उस सहायता का मान कर पाते हैं जो हमें आघात-प्रतिघात पहुंचानेवाली वस्तुओं से प्राप्त हुई। यहां तक कि हम अपने पतनों एवं स्खलनों की भी उपयोगिता समझने में समर्थ हो जाते हैं। आगे चल-कर हम इस दिव्य पथप्रदर्शक को बाद में ही नहीं बल्कि तत्क्षण ही अनुभव करने लगते हैं— हम अनुभव करते हैं कि एक परात्पर द्रष्टा हमारे विचार को, एक सर्वव्यापिनी शक्ति हमारे संकल्प एवं कर्मों को और एक सर्व-आकर्षी एवं सर्व-आत्मसात्कारी आनंद और प्रेम हमारे भावमय जीवन को नए सिरे से गढ़ रहे हैं। हम प्रकाश के इस स्रोत को उस अधिक वैयक्तिक रूप में भी अनुभव करने लगते हैं जिसका स्पर्श हमें प्रारंभ से ही प्राप्त हुआ था अथवा जो हमें अंत में अधिकृत कर लेता है। हम एक परम स्वामी, सखा, प्रेमी एवं गुरु की शाश्वत उपस्थिति अनुभव करते हैं। जब हमारी सत्ता विकसित होते होते महत्तर एवं विशालतर सत्ता के साथ सादृश्य एवं एकत्व लाभ कर लेती है तब हम अपनी सत्ता के सारतत्त्व में भी इसी को अनुभव करते हैं। हम देखते हैं कि यह अद्भुत विकास हमारे अपने प्रयत्नों का फल नहीं है बल्कि एक सनातन पूर्णता हमें अपनी प्रतिच्छवि में परिणत कर रही है। वह एकमेव जो योगदर्शनों में वर्णित ईश्वर है, जो सचेतन सत्ता में विराजमान पथप्रदर्शक है (चैत्य गुरु या अंतर्यामी है), जो विचारक का निरपेक्ष ब्रह्म है, जो अज्ञेयवादी का अज्ञेय तत्त्व है, जो जड़वादी की वैश्व शक्ति है, जो परम आत्मा और परा शक्ति है,—वह एकमेव जिसे नाना धर्म भिन्न भिन्न नाम-रूप देते हैं, वही हमारे योग का स्वामी है।

इस एकमेव को अपनी अंतरात्मा और अपनी संपूर्ण बाह्य प्रकृति में देखना एवं जानना और यही बन जाना तथा इसी को चरितार्थ करना बराबर ही हमारी देहधारी सत्ता का गुप्त लक्ष्य था और यही अब उसका सचेतन उद्देश्य बन जाता है। अपनी सत्ता के अंग-प्रत्यंग में और साथ ही इसके उन भागों में भी, जिन्हें विभाजक मन हमारी सत्ता से बाह्य समझता है, इस एकमेव से सचेतन होना हमारी वैयक्तिक चेतना की पराकाष्ठा है। इससे अधिकृत होना और अपने अंदर तथा सभी चीजों में इसे अधिकृत करना संपूर्ण साम्राज्य और प्रभुत्व का लक्षण है। निष्क्रियता एवं सक्रियता, शांति एवं शक्ति और एकता एवं विभिन्नता

के समस्त अनुभवों में इसी का रस लेना ही वह सुख है जिसे जीवात्मा अर्थात् जगत् में अभिव्यक्त वैयक्तिक आत्मा अंधकार में खोज रही है। पूर्णयोग के लक्ष्य की संपूर्ण परिभाषा यही है। प्रकृति ने जो सत्य अपने भीतर छिपा रखा है और जिसे प्रकाशित करने के लिये वह प्रसव-वेदना भोग रही है उसे वैयक्तिक अनुभव के रूप में प्रकट करना इस योग का उद्देश्य है। यह मानव आत्मा का दिव्य आत्मा में और प्राकृत जीवन का दिव्य जीवन में रूपांतर करना है।

*

इस पूर्ण कृतार्थता का अत्यंत सुनिश्चित पथ यह है कि हम गुह्य रहस्य के उस स्वामी को ढूंढ़ लें जो हमारे अंतर में निवास करता है तथा अपने आपको निरंतर उस दिव्य शक्ति की ओर उद्घाटित करें जो साथ ही दिव्य प्रज्ञा और प्रेम भी है, और फिर रूपांतर करने का कार्य उसके हाथों में सौंप दें। परंतु अहंमन्य चेतना के लिये शुरू में ऐसा करना ही कठिन होता है, और यदि किया भी जाय तो पूर्ण रूप से तथा प्रकृति के अंग अंग में करना तो और भी कठिन होता है। शुरू शुरू में यह इसलिये कठिन होता है कि हमारे विचार, संवेदन एवं भाव-भावनाओं की अहंमूलक आदतें उन द्वारों को बंद कर देती हैं जिनसे हमें आवश्यकीय अनुभव प्राप्त हो सकता है। बाद में यह इस कारण कठिन होता है कि इस पथ के लिये अपेक्षित श्रद्धा, समर्पण और साहस अहंभावाच्छन्न आत्मा के लिये आसान नहीं होते। दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं होती जिसे अहंभावमय मन चाहता या मंजूर करता है। वह तो सत्य पर पहुंचने के लिये भ्रांति को, आनंद पर पहुंचने के लिये दुःख को और पूर्णता पर पहुंचने के लिये अपूर्णता को काम में लाती है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शन के विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएं होतीं तो कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारा अंतःस्थ दिव्य मार्गदर्शक हमारे विद्रोह से रुष्ट नहीं होता, न तो वह हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित होता है और न हमारी दुर्बलता के कारण उदासीन ही हो जाता है। उसमें माता का समस्त वात्सल्य और गुरु का अखंड धैर्य है। परंतु, उसके नेतृत्व से अपनी अनुमति हटा लेने के कारण, हम सचेतन रूप में उसका लाभ अनुभव नहीं कर पाते, यद्यपि वह लाभ किसी अंश में घटित फिर भी होता है और उसका अंतिम परिणाम तो किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होता। और हम अपनी अनुमति इसलिये हटा लेते हैं कि जिस निम्नतर स्व में से वह अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तैयार कर रहा है उसमें और उच्चतर आत्मा में हम विवेक नहीं कर पाते। जैसे हम संसार में ईश्वर को नहीं देख पाते वैसे ही हम अपने अंदर भी ईश्वर को देखने में असमर्थ होते हैं; कारण, उसकी कार्यशैलियां ही ऐसी हैं। हम उसे इसलिये भी नहीं देख पाते कि वह हमारे अंदर हमारी प्रकृति के द्वारा ही काम करता है न कि एक के बाद एक मनमाने चमत्कारों से। मनुष्य चमत्कारों की मांग करता है जिससे वह विश्वास कर सके; वह चकाचौंध होना चाहता है ताकि वह देख सके। परंतु हमारी यह अधीरता और अज्ञान महान् भय और संकट का रूप धारण कर सकते हैं यदि, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति विद्रोह के भाव में, हम किसी अन्य विकारजनक शक्ति को, जो हमारे आवेगों और कामनाओं के लिये अधिक संतोषकारक होती है, अपने अंदर बुला लें, उससे अपना पथप्रदर्शन करने को कहें और उसे ही भगवान् मान बैठें।

परंतु जहां मनुष्य के लिये यह कठिन है कि वह अपने अंदर की किसी अगोचर वस्तु में विश्वास करे वहां उसके लिये यह आसान है कि वह किसी ऐसी वस्तु में विश्वास करे जिसे वह अपने से बाहर चित्रित कर सकता है। अनेकों मानव प्राणियों की आध्यात्मिक उन्नति बाह्य आश्रय की, अर्थात् उनसे बाहर विद्यमान किसी श्रद्धास्पद वस्तु की, अपेक्षा करती है। उन्हें अपनी उन्नति के लिये ईश्वर की बाह्य मूर्त्ति या मानव-रूप प्रतिनिधि–अवतार, पैगंबर या गुरु–की आवश्यकता होती है। अथवा उन्हें इन दोनों की ही आवश्यकता होती है और दोनों को ही वे अंगीकार करते हैं। मानव आत्मा की आवश्यकता के अनुसार भगवान् अपने आप को देवता, मानवरूपी भगवान् या सीधी-सादी मानवता के रूप में अभिव्यक्त करते हैं और अपनी प्रेरणा का संचार करने के लिये, साधन के तौर पर, उस घने पर्दे को प्रयोग में लाते हैं जो देवाधिदेव को अति सफलतापूर्वक छिपाये रहता है।

आत्मा की इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये हिन्दू-अध्यात्म-साधना ने इष्ट देवता, अवतार और गुरु की परिकल्पना की है। इष्ट देवता से हमारा अभिप्राय किसी निम्न कोटि की शक्ति से नहीं, वरन् परात्पर तथा विराट् देवाधिदेव के एक विशेष नाम-रूप से है। प्रायः सभी धर्म या तो भगवान् के किसी ऐसे नाम-रूप पर आधारित होते हैं या वे इसका उपयोग करते हैं। मानव आत्मा के लिये इसकी आवश्यकता स्पष्ट ही है। ईश्वर सर्व है और सर्व से भी अधिक है। परंतु जो सर्व से भी अधिक है उसे भला मनुष्य कैसे अपनी कल्पना में लावे? यहां तक कि सर्व भी पहले पहल उसके लिये अति दुर्बोध होता है; क्योंकि वह स्वयं अपनी सक्रिय चेतना में एक सीमित एवं छंटी-छंटाई रचना है और अपने को केवल उसी चीज की ओर खोल सकता है जो उसकी ससीम प्रकृति के साथ मेल खाती है। सर्व में ऐसी चीजें भी हैं जिन्हें पूरी तरह हृदयंगम करना उसके लिये अत्यंत कठिन है या जो उसके सूक्ष्मग्राही भावावेगों एवं भयाकुल संवेदनों को अतीव भीषण प्रतीत होती हैं। अथवा, सीधी सी बात यह है कि जो कोई भी चीज उसके अज्ञानपूर्ण या आंशिक विचारों के घेरे से अत्यधिक बाहर होती है उसे वह भगवान् के रूप में कल्पित नहीं कर सकता, न ही वह उसके पास पहुंच सकता या उसे अंगीकार ही कर सकता है। उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह ईश्वर को अपनी ही आकृति के रूप में या किसी ऐसे रूप में कल्पित करे जो उससे परे होता हुआ भी उसकी सर्वोच्च प्रवृत्तियों के साथ समस्वर और उसके भावों या उसकी बुद्धि के लिये गोचर हो। नहीं तो, भगवान् से संपर्क और अंतर्मिलन प्राप्त करना उसके लिये कठिन हो जायगा।

इसपर भी, उसकी प्रकृति मानव मध्यस्थ की मांग करती है। वह भगवान् को किसी ऐसी चीज में अनुभव करना चाहती है जो उसकी निजी मानवता के पूर्णतः निकट हो और साथ ही मानवी अनुभव एवं दृष्टांत में प्रत्यक्षगम्य भी हो। यह मांग मानव आकार में व्यक्त हुए भगवान् या अवतार से, अर्थात् कृष्ण, ईसा वा बुद्ध से पूरी होती है। अथवा यदि इसे कल्पना में लाना उसके लिये अति कठिन होता है तो भगवान् एक कम अद्भुत मध्यस्थ के द्वारा,–ईश्वरीय दूत या गुरु के द्वारा भी अपना रूप दिखाते हैं। कारण, बहुत से लोग भागवत मनुष्य को अपनी कल्पना में नहीं ला सकते अथवा उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहते; पर वे भी किसी परमोच्च मनुष्य के प्रति अपने आपको खोलने को उद्यत

होते हैं और उसे वे अवतार के नाम से नहीं बल्कि जगद्गुरु या भगवत्प्रतिनिधि के नाम से पुकारते हैं।

परंतु यह भी पर्याप्त नहीं है; सजीव प्रभाव, जीवंत दृष्टांत और प्रत्यक्ष उपदेश की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि, ऐसे लोग बहुत ही कम होते हैं जो भूतकाल के गुरु और उसकी शिक्षा को, भूतकाल के अवतार और उसके दृष्टांत तथा प्रभाव को अपने जीवन में सजीव शक्ति बना सकते हैं। इस आवश्यकता को भी हिन्दूमर्यादा ने गुरुशिष्य-संबंध के द्वारा पूरा किया है। गुरु कभी कभी अवतार या जगद्गुरु भी हो सकता है; किंतु वैसे इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने शिष्य के समक्ष दिव्य प्रज्ञा का प्रतिनिधि हो, उसे दिव्य आदर्श से यत्किंचित् अवगत कराये अथवा सनातन के साथ मानव आत्मा के अनुभूत संबंध का उसे कुछ अनुभव कराये।

पूर्णयोग का साधक इन सब साधनों का अपनी प्रकृति के अनुसार उपयोग करेगा। परंतु यह आवश्यक है कि वह इनकी न्यूनताओं का परित्याग कर दे और अपने अंदर से अहंभावपूर्ण मन की उस एकांगी प्रवृत्ति को निकाल फेंके जो आग्रहपूर्वक कहती है "मेरा ईश्वर, मेरा अवतार, मेरा पैगंबर, मेरा गुरु" और इसके बल पर सांप्रदायिक या धर्मांध भाव से अन्य सब अनुभवों (तथा उपलब्धियों) का विरोध करती है। समस्त सांप्रदायिकता एवं समस्त धर्मांधता से उसे अलग रहना होगा, क्योंकि यह दिव्य उपलब्धि की अखंडता से असंगत है।

इसके विपरीत, पूर्णयोग का साधक तब तक संतुष्ट नहीं होगा जब तक वह इष्ट देवता के अन्य सभी नामों और रूपों को अपनी परिकल्पना में समाविष्ट नहीं कर लेता, अन्य सभी देवताओं में अपने इष्ट देवता के दर्शन नहीं कर लेता, सब अवतारों को अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् की एकता में एकीभूत नहीं कर लेता और सभी शिक्षाओं में निहित सत्य को नित्य ज्ञान की समस्वरता में समन्वित नहीं कर देता।

परंतु उसे इन बाह्य साधनों का उद्देश्य भूल नहीं जाना चाहिये। इनका उद्देश्य है–उसकी आत्मा को उसके अंतरस्थ भगवान् की ओर उद्‌बुद्ध कर देना। यदि यह कार्य सिद्ध नहीं हुआ है तो कुछ भी अंतिम तौर पर सिद्ध नहीं हुआ है। यदि बुद्ध, ईसा या कृष्ण हमारे अंदर व्यक्त तथा मूर्त्तिमंत नहीं हुए हैं तो केवल बाहर से ही कृष्ण, ईसा या बुद्ध की पूजा करना पर्याप्त नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य सब साधनों का भी इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं है। प्रत्येक साधन मनुष्य की अपरिवर्त्तित अवस्था तथा उसके अंदर होनेवाली भगवान् की अभिव्यक्ति के बीच सेतु भर होता है।

★

पूर्णयोग का गुरु यथासंभव हमारे अंतःस्थित परम गुरु की पद्धति का ही अनुसरण करेगा। वह शिष्य को शिष्य की प्रकृति के द्वारा ही ले चलेगा। शिक्षण, दृष्टांत, प्रभाव–ये गुरु के तीन साधन होते हैं। परंतु ज्ञानी गुरु अपने आपको अथवा अपनी सम्मतियों को (शिष्य के) ग्रहणशील मन की निष्प्रतिरोध स्वीकृति पर लादने की कोशिश नहीं करेगा। वह केवल कोई फलजनक संस्कार ही उसके भीतर डाल देगा जो बीज की तरह, निश्चितरूपेण, अंदर ही अंदर दिव्य पोषण पाकर उपजेगा और वृद्धि को प्राप्त होगा। वह शिक्षा देने की अपेक्षा कहीं अधिक उद्‌बुद्ध करने का ही यत्न करेगा। वह नैसर्गिक प्रक्रिया और स्वतंत्र

विस्तार के द्वारा शक्तियों और अनुभूतियों के विकास को ही लक्ष्य बनायेगा। वह किसी विधि को एक सहायक साधन एवं उपयोगी उपाय के रूप में ही बतलायेगा, किसी अनुल्लंघनीय नियम या नियत नित्याभ्यास के रूप में नहीं। वह इस बात से सावधान रहेगा कि कहीं वह साधन को किसी प्रकार का बंधन न बना डाले और प्रक्रिया को यांत्रिक रूप न दे दे। उसका संपूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह दिव्य प्रकाश को उद्बुद्ध कर दे और उस दिव्य शक्ति की क्रिया प्रारंभ करा दे जिसका वह स्वयं एक साधन एवं उपकरण और आधार या प्रणालिकामात्र है।

दृष्टांत शिक्षण की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। परंतु बाह्य कर्मों तथा व्यक्तिगत चरित्र का दृष्टांत सर्वोत्तम दृष्टांत नहीं है। इनका अपना स्थान और अपनी उपयोगिता अवश्य है; किंतु जो चीज दूसरों में अभीप्सा को अत्यधिक उद्दीप्त करेगी वह गुरु के अंदर विद्यमान दिव्य उपलब्धि का केंद्रीय तथ्य है जो उसके अपने जीवन तथा उसकी आंतरिक अवस्था और उसके सारे कर्मों को नियंत्रित करता है। यह उसके अंदर एक सार्वभौम और सारभूत तत्त्व है। शेष सब कुछ व्यक्ति और परिस्थिति से संबंध रखता है। इस क्रियाशील उपलब्धि को गुरु में प्रत्यक्ष देखकर साधक को इसे अपने अंदर अपनी निजी प्रकृति के अनुसार मूर्तिमान् करना होगा। उसे बाहर से अनुकरण करने का यत्न करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह अनुकरण यथोचित और स्वाभाविक फल पैदा करने के स्थान पर सहज ही पंगु बनानेवाला हो सकता है।

प्रभाव दृष्टांत की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होता है। प्रभाव का अर्थ गुरु का अपने शिष्य पर बाह्य शासन एवं अधिकार नहीं है, बल्कि उसके संस्पर्श एवं उसकी उपस्थिति की शक्ति है, उसकी आत्मा की दूसरे की आत्मा के साथ समीपता की शक्ति है, जो दूसरे की आत्मा के अंदर, चाहे मौन रूप में ही, गुरु के अस्तित्व और गुण को अंतःसंचारित कर देती है। यह है गुरु का सर्वोत्कृष्ट लक्षण। वास्तव में परमोच्च कोटि का गुरु शिक्षक बहुत कम होता है; वह तो एक उपस्थिति होता है जो अपने आसपास के सभी ग्रहणशील लोगों में दिव्य चेतना और उसकी सारभूत ज्योति, शक्ति, पवित्रता और आनंद उंडेलता रहता है।

इसके अतिरिक्त, पूर्णयोग के गुरु का यह भी एक चिह्न होगा कि वह मानवीय अहंकार के तरीके से तथा अभिमानवश गुरुपन का अनुचित दावा नहीं करेगा। उसका काम, यदि कोई काम उसके सुपुर्द है तो, ऊपर से सुपुर्द किया हुआ काम है, वह स्वयं एक प्रणालिका, आधार या प्रतिनिधि है। वह एक मनुष्य है जो अपने मनुष्य-भाइयों की सहायता करता है, एक बालक है जो बालकों का अग्रणी बनता है, एक प्रकाश है जो दूसरे प्रकाशों को प्रदीप्त करता है, एक प्रबुद्ध आत्मा है जो दूसरी आत्माओं को प्रबुद्ध करती है, अपने सर्वोच्च रूप में वह भगवान् की एक शक्ति या उपस्थिति है जो भगवान् की अन्य शक्तियों को अपनी ओर पुकारती है।

★

जिस साधक को ये सब साधन प्राप्त हैं वह अपने लक्ष्य को अवश्यमेव अधिगत करेगा। यहां तक कि पतन भी उसके लिये उत्थान का साधन बन जायगा और मृत्यु परिपूर्णता का पथ। क्योंकि, एक बार जब वह अपने मार्ग पर चल पड़ता है तो जन्म और मरण उसकी सत्ता के विकास में आनेवाली प्रक्रियाएं तथा उसकी यात्रा के पड़ावमात्र बन जाते हैं।

काल या समय एक और साधन है जो साधना की सफलता के लिये आवश्यक है। काल

मानव प्रयत्न के सम्मुख शत्रु या मित्र के रूप में, बाधक, माध्यम या साधन के रूप में उपस्थित होता है। परंतु वास्तव में यह सदा ही आत्मा का एक साधन है।

काल उन परिस्थितियों और शक्तियों का क्षेत्र है जो एकत्र होकर एक परिणामभूत प्रगति को साधित करती हैं। इस प्रगति के पथ को नापने के लिये काल एक साधन है। अहं के लिये यह एक आततायी या प्रतिबंधक है, पर भगवान् के लिये एक यंत्र। अतएव जब हमारा प्रयत्न व्यक्तिगत होता है तब काल हमें प्रतिबंधक प्रतीत होता है, क्योंकि यह हमारे सामने उन सब शक्तियों की बाधा उपस्थित करता है जो हमारी शक्तियों के साथ टक्कर खाती हैं। जब दिव्य क्रिया और व्यक्तिगत क्रिया हमारी चेतना में संयुक्त हो जाती हैं तब यह एक माध्यम और अनिवार्य शर्त प्रतीत होता है। जब ये दोनों क्रियाएं एक हो जाती हैं तब यह एक सेवक और यंत्र प्रतीत होता है।

काल के संबंध में साधक की आदर्श मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि वह अनंत धैर्य रखे, यह समझते हुए कि अपनी परिपूर्णता के लिये उसके सामने अनंत काल पड़ा है, और फिर भी वह ऐसी शक्ति विकसित करे जो मानों आत्म-उपलब्धि को अभी साधित कर लेगी। फिर यह शक्ति एक सदा-वृद्धिशील प्रभुत्व के साथ और तीव्र वेग से तब तक बढ़ती जानी चाहिये जब तक कि परम दिव्य रूपांतर की चमत्कारक घड़ी उपस्थित नहीं हो जाती।

दूसरा अध्याय

आत्म-निवेदन

योगमात्र स्वरूपतः एक नूतन जन्म है। यह मनुष्य के साधारण मनोमय एवं स्थूल जीवन से परे एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और महत्तर तथा दिव्यतर सत्ता में जन्म लेना है। जब तक एक विशालतर आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता के प्रति प्रबल जागृति नहीं हो जाती तब तक किसी भी योग का सफलतापूर्वक प्रारंभ तथा अनुसरण नहीं किया जा सकता। जिस आत्मा को इस गंभीर एवं बृहत्तर परिवर्तन के लिये आह्वान प्राप्त हुआ है वह इसके पथ पर नाना प्रकार से पदार्पण कर सकती है। इसपर वह अपने उस प्राकृतिक विकास के द्वारा पहुंच सकती है जो उसे अब तक, उसके अनजाने ही, आध्यात्मिक जागरण की ओर अग्रसर करता आ रहा है; वह किसी धर्म के प्रभाव अथवा किसी दर्शनशास्त्र के आकर्षण के कारण भी इस राह पर लग सकती है। एक क्रमशः बढ़ते हुए ज्ञान के प्रकाश के द्वारा भी वह इसमें प्रवेश पा सकती है अथवा सहसा किसी संस्पर्श या आघात की सहायता से एक ही छलांग में इसपर पहुंच सकती है। वह और साधनों से भी—बाह्य परिस्थितियों के दबाव से या आंतरिक आवश्यकता के कारण, मन के आवरणों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले किसी एक ही शब्द से अथवा सुदीर्घ चिंतन से, किसी अनुभवी के दूरस्थ दृष्टांत से अथवा संपर्क या दैनिक प्रभाव से भी इस ओर अभिप्रेरित या संचालित हो सकती है। पुकार सदा साधक की प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार ही आती है।

परंतु यह चाहे जैसे भी आवे, मन और इच्छाशक्ति का निर्णय आवश्यक है और, उसके परिणामस्वरूप, पूर्ण तथा अमोघ आत्म-निवेदन भी। सत्ता में एक नवीन आध्यात्मिक विचार-शक्ति का स्वागत और ऊर्ध्व की ओर अभिमुखता, ज्ञान का उद्दीपन, एक ऐसा परिवर्तन या रूपांतर जिसे इच्छाशक्ति और हृद्गत अभीप्सा एकदम ग्रहण कर लें–ये सब एक ऐसी वेग-युक्त प्रक्रिया हैं जिसमें सभी योगजन्य फल बीजरूप में विद्यमान हैं। किसी उच्चतर परतत्त्व की कोरी कल्पना या बौद्धिक जिज्ञासा को हमारा मन चाहे कितनी भी रुचि और दृढ़ता के साथ क्यों न अपना ले किंतु हमारे जीवन पर इसका तब तक कुछ भी प्रभाव नहीं होगा जब तक हृदय इसे इस रूप में अंगीकार न कर ले कि यही एक ऐसी वस्तु है जो चाहने योग्य है और जब तक इच्छाशक्ति इसे इस रूप में स्वीकार न कर ले कि यही एक ऐसा कार्य है जो करने योग्य है। कारण, आत्मा के सत्य को केवल विचार का विषय ही नहीं बनाना है अपितु उसे जीवन में उतारना भी है और उसे जीवन में लाने के लिये सत्ता की एक संगठित एकाग्रता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जिस अतिमहान् परिवर्तन पर इस योग की दृष्टि जमी है वह विभक्त इच्छाशक्ति से, या शक्ति के एक स्वल्प अंश से, या दोलायमान मन से संपादित नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भगवान् को पाना चाहता है उसे भगवान् के प्रति और केवल भगवान् के ही प्रति अपने आपको उत्सर्ग करना होगा। यदि परिवर्तन किसी अदम्य प्रभाव के द्वारा एकाएक और सुनिश्चित रूप में संपन्न हो जाय तब तो आगे कोई मूल-गत या स्थायी कठिनाई रह ही नहीं जाती। विचार के बाद ही या उसके साथ ही साथ साधक मार्ग चुन लेता है और चुनाव के बाद आत्म-निवेदन भी कर देता है। पैर मार्ग पर धरे ही जा चुके हैं, चाहे वे पहले-पहल अनिश्चित दिशा में भटकते ही मालूम दें और चाहे स्वयं मार्ग भी धुंधला सा ही दिखाई दे और हमें लक्ष्य का पूरा पूरा ज्ञान भी न हो। गुप्त गुरु एवं अन्तःस्थ मार्गदर्शक की क्रिया शुरू हो ही चुकी है, भले ही वह अभी अपने को प्रकट न करे या अपने मानव प्रतिनिधि के रूप में अभी दिखाई न दे। चाहे कैसी भी कठिनाइयां और दुविधाएं क्यों न पैदा हों, वे अन्त तक उस अनुभव की शक्ति के आगे टिकी नहीं रह सकतीं जिसने हमारी जीवन-धारा को ही पलट दिया है। जब एक बार निश्चित रूप से पुकार आ जाती है तो वह स्थायी हो जाती है; जो चीज उत्पन्न हो चुकी है वह अन्तिम तौर पर नष्ट नहीं की जा सकती। भले ही परिस्थिति का बल बाधा डाले और हमें प्रारंभ से ही नियमित रूप में योगाभ्यास तथा पूर्ण एवं क्रियात्मक आत्मनिवेदन न करने दे तो भी, क्योंकि मन ने अपनी दिशा निश्चित कर ली है, वह डटा ही रहता है, और सदा-वृद्धिशील प्रभाव के साथ अपने प्रमुख कार्य की ओर फिर फिर लौट आता है। आन्तर सत्ता में एक अजेय दृढ़ता होती है, जिसके सामने परिस्थितियों का अन्त में कुछ बस नहीं चलता और प्रकृति की कोई भी दुर्बलता अधिक समय तक बाधा नहीं पहुंचा सकती।

परंतु साधना का प्रारंभ सदा इसी ढंग से नहीं होता। साधक प्रायः क्रमशः ही आगे ले जाया जाता है और मन जब पहले-पहल अपने ध्येय की ओर झुकता है उसके बाद भी प्रकृति द्वारा उस ध्येय की पूर्ण स्वीकृति में बहुत लंबा समय लग जाता है। हो सकता है कि प्रारंभ में साधक को अपने ध्येय में केवल एक जीवंत बौद्धिक रुचि तथा उसके प्रति एक प्रबल आकर्षण भर हो और वह किसी प्रकार की अपूर्ण साधना का ही अभ्यास करे। अथवा यह भी संभव है कि वह प्रयत्न तो करे परंतु उसे पूरी प्रकृति का समर्थन प्राप्त न हो और उस-

Prosixted viltu

का निर्णय या झुकाव बौद्धिक प्रभाव द्वारा थोपा हुआ हो या किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति वैयक्तिक प्रेम तथा आदर द्वारा निर्धारित हो जो अपने आपको परम देव के चरणों में निवेदित और समर्पित कर चुका है। ऐसी दशा में, अटल आत्मनिवेदन की घड़ी आने से पूर्व, तैयारी के एक लंबे काल की आवश्यकता हो सकती है। कुछ व्यक्तियों में शायद वह घड़ी आये ही नहीं। संभव है कि कुछ प्रगति हो, प्रबल प्रयत्न हो, यहां तक कि पर्याप्त शुद्धि भी हो और प्रधान या परमोच्च अनुभवों से भिन्न अन्य अनेक अनुभव भी प्राप्त हों। परंतु हो सकता है कि जीवन या तो तैयारी में ही बीत जाय या शायद, अपने भरसक पुरुषार्थ से एक विशेष अवस्था तक पहुंच चुकने के बाद, मन का प्रेरक उत्साह और बल-वेग कम पड़ जाय और वह उतने में ही संतुष्ट हो रहे, यहां तक कि शायद पुनः निम्नतर जीवन की ओर लौट जाय,—जिसे योग की सामान्य परिभाषा में पथभ्रष्ट होना कहते हैं। ऐसे पतन का कारण यह होता है कि ठीक केंद्र में ही कोई दोष रह जाता है। बुद्धि उस पुरुषार्थ के प्रति अनुरक्त हो गई है और हृदय आकृष्ट; इच्छाशक्ति ने भी उसके साथ गठबंधन कर लिया है, परंतु संपूर्ण प्रकृति भगवान् पर मुग्ध नहीं हुई है। इसने केवल उस अनुराग, आकर्षण या पुरुषार्थ के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है। इसने एक परीक्षण किया है, यहां तक कि शायद उत्सुकतापूर्वक परीक्षण भी किया है, पर आत्मा की अलंघ्य आवश्यकता या अपरिहार्य आदर्श के प्रति पूर्ण आत्मदान नहीं किया है। ऐसा अपूर्ण योग भी कभी निष्फल नहीं होता; क्योंकि कोई भी ऊर्ध्वमुख प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। इस समय यह असफल भले ही हो जाय या केवल एक आरंभिक अवस्था या प्राथमिक उपलब्धि तक ही पहुंच पाय फिर भी इसने आत्मा का भविष्य निश्चित कर दिया है।

परंतु यदि हम उस अवसर का जो हमें इस जीवन ने प्रदान किया है अच्छे से अच्छा उपयोग करना चाहते हैं, यदि हम उस आवाहन का जो हमें प्राप्त हुआ है पूरे तौर से प्रत्युत्तर देना चाहते हैं और यदि हम उस लक्ष्य को जिसकी हमें झलक मिली है अधिगत करना चाहते हैं, न कि केवल उस ओर थोड़ा सा बढ़ना भर चाहते हैं, तो यह अनिवार्य है कि हमारा आत्मदान पूर्ण हो। योग में सफलता का रहस्य ही यह है कि इसे जीवन के अनेक अनुसरणीय लक्ष्यों में से कोई एक नहीं बल्कि जीवन का एक अनन्य लक्ष्य समझा जाय।

★

अधिकतर मनुष्यों के साधारण, स्थूल एवं पाशविक जीवन से या कुछ लोगों की एक अधिक मानसिक पर तो भी संकुचित जीवन-शैली से मुंह मोड़कर एक अधिक महान् आध्यात्मिक जीवन और दिव्य जीवन-प्रणाली की ओर उन्मुख होना ही योग का सार है। अतएव हमारी शक्तियों का जो जो भाग निम्न सत्ता को उसी सत्ता की भावना में सौंपा जाता है वह हमारे लक्ष्य और हमारे आत्म-उत्सर्ग का विरोधी होता है। दूसरी ओर, जब हम किसी भी शक्ति या चेष्टा को रूपांतरित करके उसे निम्नतर की सेवा के स्थान पर उच्चतर की सेवा में लगाने में सफल हो जाते हैं तब मानों हम इस मार्ग में उतनी कमाई कर लेते हैं और अपनी उन्नति की बाधक शक्तियों के हाथ से उतना वापस छीन लेते हैं। इसी आमूल-चूल रूपांतर की कठिनाई योगमार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं का मूल है। कारण, हमारी सारी प्रकृति तथा इसकी परिस्थिति और हमारी सब व्यक्तिगत एवं विश्वगत सत्ता कुछ ऐसे

अभ्यासों और प्रभावों से परिपूर्ण हैं जो हमारे आध्यात्मिक नवजन्म के प्रतिकूल हैं और हमारे पूरे दिल से किये गये पुरुषार्थ का भी विरोध करते रहते हैं। एक विशेष अर्थ में हम उन मानसिक, स्नायविक और शारीरिक अभ्यासों के जटिल पुंज के सिवा और कुछ नहीं हैं जिन्हें हमारे कुछ प्रधान विचार, कामनाएं और संस्कार एक दूसरे के साथ जोड़े रखते हैं। हम उन बहुत-सी छोटी-छोटी पुनरावर्ती शक्तियों का संघात हैं जो कुछ एक मुख्य मुख्य कंपन पैदा करती हैं। इस योग में हमने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह इससे लेश भर भी कम नहीं है कि हम अपने भूत और वर्तमान के उस सारे ढांचे को तोड़ डालें जो साधारण भौतिक तथा मानसिक मनुष्य का निर्माण करता है और इसके स्थान पर अपने अन्दर दृष्टि के उस नवीन केंद्र तथा कर्मण्यताओं के उस नए संसार की रचना करें जो एक दिव्य मानवता या अतिमानव प्रकृति कहलायंगे।

इसके लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हम मन की उस केंद्रीय श्रद्धा और दृष्टि को तिलांजलि दे दें जिनके अनुसार यह एक चिर-अभ्यस्त बहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटनाक्रम में ही अपना विकास, सुख-संतोष और रस लाभ करने में अपनी सारी शक्ति लगाये रखता है। अवश्य ही, इस बहिर्मुख झुकाव के स्थान पर हमें उस गभीरतर श्रद्धा और दृष्टि को प्रतिष्ठित करना होगा जो केवल भगवान् को देखती और केवल भगवान् की ही खोज करती है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी सारी निम्नतर सत्ता को इस नवीन श्रद्धा और महत्तर दृष्टि के सम्मुख सीस नवाने के लिये वाधित करें। हमारी सारी प्रकृति को पूर्ण समर्पण करना होगा; इसे अपने आपको एक एक अंग और एक एक चेष्टा समेत उस वस्तु के प्रति सौंप देना होगा जो असंस्कृत इंद्रिय-मानस को ऐसी प्रतीत होती है मानों वह स्थूल संसार और इसके पदार्थों की अपेक्षा बहुत ही कम सत्य हो। हमारी संपूर्ण सत्ता को––अंतरात्मा, मन, इंद्रिय, हृदय, इच्छाशक्ति, प्राण और शरीर को––अपनी सभी शक्तियों का अर्पण इतनी पूर्णता के साथ तथा ऐसे तरीके से करना होगा कि वह भगवान् का उपयुक्त वाहन बनकर ही रहे। यह कोई सरल कार्य नहीं है; क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने रूढ़ स्वभाव का, जो उसके लिये एक नियम ही होता है, अनुसरण करती है और मौलिक परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। इसके विपरीत, पूर्णयोग एक ऐसी क्रांति के लिये प्रयास करता है जिससे बढ़कर मौलिक रूपांतर कोई हो ही नहीं सकता। इस योग में अपने अंदर की हर एक चीज को बारंबार केंद्रगत श्रद्धा, संकल्प और दृष्टि की ओर फेरना होगा। प्रत्येक विचार और आवेग को उपनिषद् की भाषा में यह स्मरण कराना होगा कि दिव्य ब्रह्म वह है न कि यह जिसकी लोग यहां उपासना करते हैं।[1] अपने प्राण के तंतु तंतु को प्रेरित करना होगा कि आज तक जो चीजें उसकी सत्ता की प्रतिनिधि थीं उन सबको वह पूरी तरह से त्यागना स्वीकार करे। मन को मन रहना छोड़कर अपने से परे की किसी वस्तु से प्रकाशमान बनना होगा। प्राण को एक ऐसी विशाल, शांत, तीव्र और शक्तिशाली वस्तु में बदल जाना होगा जो अपनी पुरानी अंध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ता को या क्षुद्र आवेग एवं कामना को पहचान तक न सके। यहां तक कि शरीर को भी परिवर्तन में से गुजरना होगा और आज की तरह एक तृष्णामय

[1] तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। केनोपनिषद् १–४

पशु या बाधक रोड़ा न रहकर आत्मा का सजग सेवक और तेजस्वी यंत्र तथा जीवंत विग्रह बनना होगा।

इस कार्य की कठिनाई के कारण, स्वभावतः ही, सरल और मर्मस्पर्शी उपायों का अनुसरण किया गया है। इस कठिनाई के कारण ही धर्मों और योग-सम्प्रदायों में जगत् के जीवन को आन्तरिक जीवन से पृथक् कर देने की प्रवृत्ति पैदा हुई है और फिर जमकर बैठ गई है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि इस जगत् की शक्तियां और उनके वास्तविक कार्य या तो ईश्वर से बिलकुल संबंध ही नहीं रखते अथवा वे माया या और किसी अबोध्य एवं विषम कारण के वश दिव्य सत्य के अंधकारमय विरोधी हैं। इनसे विपरीत दिशा में 'सत्य' की शक्तियां और उनके आदर्श कार्य हैं। वे चेतना के उस स्तर से, जो अपने आवेगों एवं बलों में अंध, अज्ञ तथा विकृत है और जो हमारे पार्थिव जीवन का आधार है, एक सर्वथा भिन्न स्तर के साथ संबंध रखते दिखाई देते हैं। इस प्रकार, ईश्वर का शुभ्र और पवित्र राज्य तथा दानव का अंधेरा और मलिन राज्य—इन दोनों में विरोध तुरंत दीख पड़ता है। हम अपने रेंगनेवाले पार्थिव जन्म एवं जीवन का उदात्त आध्यात्मिक ईश्वर-चेतना से विरोध अनुभव करते हैं। हमें सहज ही निश्चय हो जाता है कि जीवन का माया के वश में होना और आत्मा का शुद्ध ब्रह्म-सत्ता में एकाग्र होना—दोनों में किसी प्रकार का भी मेल नहीं साधा जा सकता। इसलिये सबसे सुगम उपाय यह है कि जो चीजें पार्थिव जीवन से संबंध रखती हैं उन सबसे हम मुंह मोड़ लें और केवल नग्न आत्मा के साथ सीधे ऊपर चढ़कर ऊर्ध्वस्थित आध्यात्मिक लोक में वापिस लौट जायं। इस प्रकार एक अनन्य एकाग्रता का सिद्धांत हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है और साथ ही आवश्यक भी जान पड़ता है। योग के कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों में इसे अत्यंत प्रमुख स्थान प्राप्त है; क्योंकि, इस एकाग्रता के द्वारा हम संसार का आग्रहपूर्वक त्याग करते हुए उस एक परमदेव के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन के लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं जिसपर हम अपने आपको एकाग्र करते हैं। उस समय हमारे लिये यह आवश्यक नहीं रहता कि हम सभी निम्न चेष्टाओं को नए एवं उच्चतर आध्यात्मीकृत जीवन की कठिन दीक्षा के लिये बाध्य करें और उन्हें इसके प्रतिनिधि या कार्यवाहक शक्तियां बनने के लिये शिक्षित करें। तब इतना ही काफी होता है कि हम उन्हें समाप्त या शांत कर दें और, अधिक से अधिक, कुछ एक ऐसी शक्तियां सुरक्षित रखें जो एक ओर शरीर के भरण-पोषण के लिये तथा, दूसरी ओर, भगवन्मिलन के लिये आवश्यक हों।

पूर्णयोग का असली उद्देश्य और विचार ही हमें इस सीधी किंतु कष्टसाध्य तथा उत्तुंग विधि को अपनाने से रोकता है। सर्वांगीण रूपांतर की आशा हमें इस बात से रोकती है कि हम किसी छोटी पगडंडी का अवलंबन करें अथवा लक्ष्य की ओर वेगपूर्वक अग्रसर होने के लिये अपनी सब विघ्न-बाधाओं को परे फेंककर अपने को हलका बना लें। कारण, हम तो अपनी संपूर्ण सत्ता को और संसार को ईश्वर के लिये जीतने चले हैं। हमने अपनी संभूति और सत्ता दोनों को उसे दे देने का निश्चय किया है न कि किसी दूरस्थ लोक में सुदूर और निगूढ़ देवता के प्रति अमूर्त्त-सी भेंट के रूप में केवल विशुद्ध और नग्न आत्मा को प्रस्तुत करने का अथवा जो कुछ भी हम हैं उस सबको अचल कूटस्थ ब्रह्म के प्रति सर्वमेध में स्वाहा करके मिटा देने का निश्चय किया है। जिस भगवान् की हम उपासना करते हैं वह केवल दूरस्थ विश्वातिरिक्त सद्वस्तु नहीं, बल्कि एक अर्द्ध-आवृत अभिव्यक्ति

है जो यहीं विश्व में हमारे समीप और समक्ष विद्यमान है। जीवन भगवान् की एक ऐसी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुई है। यहीं, इसी जीवन में, इसी भूतल पर, इसी शरीर में,—इहैव, जैसा कि उपनिषदें बार बार कहती हैं,—हमें देवाधिदेव को प्रकट करना है। उसकी परात्पर महिमा, ज्योति और मधुरिमा को हमें यहीं अपनी चेतना के लिये जीवित-जागृत बनाना है, यहीं उसे अधिगत और, यथासंभव, व्यक्त करना है। अतः अपने योग में हमें जीवन का पूर्ण रूपांतर करने के लिये जीवन को अवश्य अंगीकार करना होगा। यह अंगीकार हमारे संघर्ष में चाहे जो भी कठिनाइयां बढ़ा दे उनसे हमें घबराना नहीं होगा। यद्यपि हमारा रास्ता अधिक ऊबड़-खाबड़ है, प्रयत्न अधिक जटिल एवं अति विकट है और चकरा देने यहां तक कि हताश कर देनेवाला है तथापि इसके पुरस्कारस्वरूप एक विशेष अवस्था के बाद हमें एक महान् लाभ प्राप्त हो जाता है। जब एक बार हमारा मन केंद्रीय दृष्टि में काफी हद तक स्थिर हो जाता है और हमारी इच्छाशक्ति समूचे रूप में उस एक ही उद्देश्य की ओर अभिमुख हो जाती है, तब जीवन स्वयं हमारा सहायक बन जाता है। एकनिष्ठ, जागरूक एवं पूर्णतः सचेतन रहकर हम जीवन के रूपों की हर एक छोटी-मोटी बारीकी को और उसकी चेष्टाओं के सभी प्रसंगों को अपने अंदर की यज्ञीय अग्नि के लिये हवि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। संघर्ष में विजयी होकर, हम स्वयं इस जड़ सत्ता तक को विवश कर सकते हैं कि यह पूर्णता की प्राप्ति में हमारी सहायक हो। जो शक्तियां हमारा विरोध करती हैं उन्हीं का राज्य छीनकर हम अपनी उपलब्धि को समृद्ध कर सकते हैं।

*

एक और दिशा भी है जिसमें किसी साधारण योग का साधक सरलता की शरण लेता है। वह सरलता सहायक होने पर भी संकीर्णता पैदा करनेवाली है और सर्वांगीण लक्ष्य के साधक के लिये निषिद्ध है। योगसाधना करने से हमारी सत्ता की असाधारण जटिलता, हमारे व्यक्तित्व की उद्दीपक पर साथ ही व्याकुलकारी बहुविधता और विश्वप्रकृति की विपुल असीम अस्तव्यस्तता हमारे सामने उपस्थित होती है। जो मनुष्य आत्मा की प्रच्छन्न गहराइयां और विशालताएं न जानता हुआ अपने साधारण जागरित अवस्था के स्तर पर रहता है उस साधारण मनुष्य के लिये उसकी मनोवैज्ञानिक सत्ता काफी सरल होती है। इच्छाओं का एक छोटा-सा पर कोलाहलकारी दल, कुछ एक अनुपेक्षणीय बौद्धिक एवं सौन्दर्यमूलक तृष्णाएं, कुछ रुचियां, कतिपय प्रभुत्वपूर्ण और प्रधान विचार और असंगत या विसंगत एवं अधिकतर क्षुद्र विचारों की एक प्रबल धारा, न्यूनाधिक-अनिवार्य प्राणिक आवश्यकताओं का एक समुदाय, शारीरिक स्वास्थ्य और रोग की हेराफेरी, एक के बाद एक करके आनेवाले विकीर्ण एवं असंगत हर्ष और शोक, बार बार होनेवाली मामूली हलचलें और उतार-चढ़ाव और मन या शरीर की बहुत विरली प्रबल गवेषणाएं और उलटा-पलटियां—यही उसकी सत्ता का उपादान होता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति कुछ तो उसके विचार एवं संकल्प की सहायता लेकर और कुछ इसके बिना या इसके रहते भी, इन सब चीजों को एक स्थूल व्यावहारिक ढंग से, एक कामचलाऊ अव्यवस्थित क्रम के साथ व्यवस्थित कर देती है। औसत मानव प्राणी आज भी अपनी आन्तरिक सत्ता में उतना असंस्कृत और अविकसित है जितना पुरातन और आदिम मनुष्य अपने बाह्य जीवन में था। परंतु ज्यों ही हम अपने भीतर गहरे

उतरते हैं,—और योग का अर्थ ही आत्मा की अशेष बहुविध गभीरताओं में डुबकी लगाना है,—त्यों ही हमें पता चलता है कि जैसे मनुष्य ने अपने विकास में अपने आपको बाहरी तौर पर एक समूचे जटिल जगत् से घिरा पाया है वैसे ही हम आन्तरिक तौर पर एक जटिल जगत् से घिरे हुए हैं जिसे जानने तथा जीतने की जरूरत है।

यह एक अत्यंत क्षोभजनक उपलब्धि होती है जब हमें पता चलता है कि हमारे प्रत्येक अंग का, अर्थात् बुद्धि, इच्छा-शक्ति, इन्द्रिय-मानस, प्राणिक या कामनामय आत्मा, हृदय और शरीर का मानों सचमुच ही, अपना अपना जटिल व्यक्तित्व है और शेष अंगों से स्वतंत्र प्राकृतिक गठन है। प्रत्येक अंग न तो अपने आपसे मेल खाता है न दूसरों से और न ही उस प्रतिनिधिरूप अहं से जो हमारे उथले अज्ञान पर किसी केंद्रस्थ और केंद्रस्थकारक आत्मा द्वारा डाला गया प्रतिबिम्ब है। इस उपलब्धि से हमें ज्ञात होता है कि हम एक ही नहीं अपितु अनेक व्यक्तित्वों से गठित हैं और उनमेंसे प्रत्येक की अपनी अपनी मांगें और पृथक पृथक् प्रकृति है। हमारा अस्तित्व अनगढ़ तौर पर गढ़ा हुआ एक गड़बड़झाला है जिसमें हमें दिव्य व्यवस्था के नियम का सूत्रपात करना है। और फिर हमें पता लगता है कि जैसे बाहर से वैसे ही अंदर से भी हम संसार में अकेले नहीं हैं और हमारे अहं का तीव्र भेद एक प्रबल अध्यारोप एवं भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; हमारा कोई अपना पृथक् अस्तित्व नहीं है, और वास्तव में हम भीतरी निर्जनता या एकांत में अलग-थलग नहीं रहते। हमारा मन एक ऐसी मशीन है जो ग्रहण, संवर्धन एवं परिवर्तन करती है और जिसमें ऊपर से, नीचे से और बाहर से प्रतिक्षण अविरत विजातीय द्रव्य,—विषम पदार्थों का एक प्रवहमान पुंज,—लगातार प्रविष्ट हो रहा है। हमारे आधे से अधिक विचार और भाव हमारे निजी नहीं होते अर्थात् उनका रूप हमसे बाहर ही तैयार होता है। कदाचित् ही किसी विचार वा भाव के विषय में ऐसा कहा जा सकता हो कि वह हमारी प्रकृति का सचमुच मौलिक अंग है। अधिकांश में वे दूसरों से या परिपार्श्व से हमारे अंदर आते हैं, चाहे कच्चे माल के रूप में आवें या तैयार सामान के रूप में। परंतु इससे भी बड़े परिमाण में वे यहां की विश्व-प्रकृति से या अन्य लोकों तथा स्तरों और उनके जीवों, शक्तियों एवं प्रभावों से आते हैं। हमारे ऊपर और चारों ओर चेतना के अन्य स्तर भी हैं,—मन के स्तर, प्राण के स्तर और सूक्ष्म अन्नमय स्तर जो हमारे ऐहिक जीवन और कर्म को पोषण प्रदान करते हैं, अथवा जो अपने पदार्थों और शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिये हमारे जीवन और कर्म को अपना साधन बनाते हैं, इनपर दबाव डालते तथा इन्हें वश में करके अपने काम में लाते हैं। क्योंकि हमारी सत्ता ऐसी जटिल है और हम विश्व की अन्तःप्रवाही शक्तियों के प्रति बहुत तरफ से खुले हुए हैं और उनके दास हैं, हमारे पृथक् मोक्ष की कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती है। इस सबका हमें विचार करना है, इससे निबटना है, अपनी प्रकृति के गुप्त उपादान को तथा इसकी घटक और परिणामभूत चेष्टाओं को जानना है और इस सबमें एक दिव्य केंद्र, सच्चा सामंजस्य और उज्ज्वल क्रम स्थापित करना है।

योग के प्रचलित मार्गों में इन संघर्षकारी उपादानों का समाधान करने के लिये जो विधि प्रयोग में लाई जाती है वह सीधी और सरल है। हमारे अन्दर की प्रधान मानसिक शक्तियों में से कोई एक भगवत्प्राप्ति के एकमात्र साधन के तौर पर चुन ली जाती है और शेष सभी को जड़वत् स्तब्ध कर दिया जाता है अथवा अपनी क्षुद्रता में घुल घुलकर मरने दिया जाता

है। भक्त सत्ता की भावमय शक्तियों को और हृदय की तीव्र उमंगों को अधिकार में ला-कर ईश्वर-प्रेम में निमग्न रहता है, मानों वह एक अनन्य एकतान अग्निशिखा के रूप में समाहित हो। वह विचार की हलचल के प्रति उदासीन होता है, बुद्धि के आग्रहों को पीछे छोड़ देता है और मन की ज्ञानपिपासा की कुछ पर्वाह नहीं करता। उसे जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह केवल उसकी श्रद्धा और उसकी वे अनुप्रेरणाएं हैं जो भगवान् के साथ योगयुक्त हृदय से फूट निकलती हैं। कर्म करने के ऐसे किसी भी संकल्प से उसे कुछ मत-लब नहीं जो प्रियतम की प्रत्यक्ष पूजा में या उसके मन्दिर की सेवा में तत्पर न हो। उधर, ज्ञानवान् मनुष्य स्वेच्छापूर्वक विवेकशक्ति तथा मनन-चिंतन में लीन रहकर मन के अन्तर्मुख प्रयत्न में स्वातंत्र्य लाभ करता है। वह आत्मा का एकाग्र चिंतन करता है, सूक्ष्म अन्तर्विवेक से वह प्रकृति के माया-प्रपंच में आत्मा की शांत उपस्थिति को पहचान सकने में समर्थ होता है और बोधात्मक विचार के द्वारा प्रत्यक्ष अध्यात्म-अनुभव प्राप्त करता है। वह भावावेशों की क्रीड़ा के प्रति तटस्थ, वासना की आतुर पुकार के प्रति बधिर और प्राण की हलचलों से विरत रहता है। जितनी भी जल्दी ये उससे झड़ जायं और उसे स्वतंत्र, स्थिर और शांत—नित्य अकर्ता—बने रहने दें उतना ही अधिक वह भाग्यशाली होता है। शरीर उसके मार्ग का रोड़ा है, प्राण के व्यापार उसके शत्रु हैं; यदि उनकी मांगें कम से कम की जा सकें तो वह उसका महान् सौभाग्य होता है। चारों ओर के संसार से जो अनगिनत कठिनाइयां पैदा होती हैं उनके विरुद्ध बाह्य भौतिक और आन्तर आध्यात्मिक एकांत की मजबूत बाड़ खड़ी करके वह उनका निवारण करता है। आभ्यंतर शांति की दीवार की ओट में सुरक्षित रहकर वह निर्विकार रहता है और साथ ही संसार से तथा दूसरों से निर्लिप्त भी। अपने संग या भग-वान् के संग एकाकी रहना, ईश्वर और उसके भक्तों के संग एकांतवास करना, मन के एक-मात्र आत्मोन्मुख प्रयत्न के घेरे में या हृदय की ईश्वरमुखी उमंग के घेरे में अपने आपको वन्द कर लेना—यही इन योगों की प्रवृत्ति की दिशा है। इनमें सभी ग्रंथियों को काटकर समस्या हल कर ली जाती है, केवल एक केंद्रीय कठिनाई रह जाती है जो हमारी एकमात्र मनोतीत प्रेरक-शक्ति का पीछा करती है। अपनी प्रकृति की विक्षिप्त करनेवाली पुकारों के बीच हम विशेष रूप से एकांगी एकाग्रता के सिद्धांत की शरण लेते हैं।

परंतु पूर्णयोग के साधक के लिये यह आन्तरिक या बाह्य एकान्तवास उसकी आध्यात्मिक उन्नति में एक प्रसंग या अवसरमात्र हो सकता है। जीवन को स्वीकार करते हुए उसे केवल अपना भार ही नहीं बल्कि अपने काफी भारी बोझ के साथ साथ जगत् का बहुत सा भार भी वहन करना होता है। अतएव उसका योग दूसरों के योग की अपेक्षा बहुत अधिक संग्राममय है, किंतु वह केवल व्यष्टिगत संग्राम ही नहीं है बल्कि एक विस्तृत प्रदेश पर छेड़ा गया समष्टिगत युद्ध है। साधक को केवल अपने अंदर ही अहंकारमूलक असत्य और अव्यव-स्था की शक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं करनी है, बल्कि इन विरोधी और अक्षय शक्तियों के जागतिक प्रतिनिधियों के रूप में भी इनपर विजय प्राप्त करनी है। इनका यह प्रातिनिधिक स्वरूप इन्हें एक बहुत अधिक दुर्दम प्रतिरोध-शक्ति प्रदान करता है और साथ ही पुनरावर्तन का लगभग अनन्त अधिकार भी। प्रायः ही उसे अनुभव होता है कि अपना व्यक्तिगत युद्ध अवि-चल तौर पर जीत चुकने के बाद भी उसे एक प्रत्यक्षतः अनंत युद्ध के रूप में वह युद्ध बार बार जीतना है। क्योंकि, उसकी आन्तरिक सत्ता अब इतनी अधिक विस्तृत हो चुकी है कि

वह न केवल साधक की अपनी सुनिश्चित आवश्यकताओं और अनुभवों से युक्त उसकी अपनी सत्ता को समाविष्ट किये हुए है, अपितु वह दूसरों की सत्ता के साथ भी एकाकार है। वास्तव में अब साधक अपने अन्दर ब्रह्माण्ड को धारण किये होता है।

सर्वांगीण पूर्णता के अन्वेषक को ऐसी छूट भी प्राप्त नहीं है कि वह अपने आन्तरिक अंगों के संघर्ष को मनमाने ढंग से हल कर ले। उसे विचारलब्ध ज्ञान को संशयरहित श्रद्धा के साथ समन्वित करना होगा; प्रेम की सौम्य आत्मा को शक्ति की अदम्य मांग के साथ सुसंगत करना होगा तथा परात्पर शान्ति में संतुष्ट रहनेवाली आत्मा की निष्क्रियता को दिव्य सहायक और दिव्य योद्धा की क्रियाशीलता के साथ घुला-मिला देना होगा। अन्य आत्म-जिज्ञासुओं की भांति उसके सामने भी बुद्धि के प्रतिकूल तर्क-वितर्क, इन्द्रियों का दुर्जय वेग, हृदय के विक्षोभ, कामनाओं के दांव-घात और स्थूल शरीर का बंधन—ये सब अपने समाधान के लिये उपस्थित होते हैं। परंतु इनके जो पारस्परिक तथा आन्तरिक संघर्ष हैं और उसके लक्ष्य में ये जो बाधाएं पहुंचाते हैं उनके साथ उसे और ही ढंग से निबटना होता है। इन सब विद्रोही तत्त्वों के साथ बरतते हुए उसे एक असंख्यगुना अधिक दुःसाध्य पूर्णता प्राप्त करनी है। इन्हें दिव्य उपलब्धि और अभिव्यक्ति के यंत्र मानकर उसे इनके बेसुरे स्वरों को बदलना होगा, इनकी घनी अंधेरी गुहाओं में आलोक पहुंचाकर इन्हें अलग अलग तथा सम्मिलित तौर पर रूपांतरित करना होगा। इन्हें अपने आपमें तथा एक-दूसरे के साथ पूर्णतया सुसंगत करना होगा। किसी एक भी कण या तन्तु या कंपन की उपेक्षा नहीं करनी होगी, कहीं लेशमात्र भी अपूर्णता नहीं रहने देनी होगी। एकांगी एकाग्रता, यहां तक कि इस प्रकार की अनेक क्रमागत एकाग्रताएं भी उसके जटिल कार्य की सिद्धि के लिये केवल अस्थायी साधन ही हो सकती हैं; इनकी उपयोगिता समाप्त होते ही इन्हें त्याग देना होगा। उसे जिस कठिन सिद्धि के लिये यत्न करना है वह एक सर्वांगीण एकाग्रता है।

*

निःसंदेह, किसी भी योग की पहली शर्त होती है एकाग्रता, परंतु पूर्णयोग के असली स्वरूप के अनुसार वह एकाग्रता सर्वग्राही होनी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि यहां भी विचारों, भावों या इच्छा-शक्ति को अलग अलग एक ही धारणा, विषय, अवस्था, आन्तरिक गति या तत्त्व पर दृढ़ता से टिकाने की आवश्यकता बारंबार पड़ती है। परंतु यह केवल एक गौण एवं सहायक प्रक्रिया है। इस योग की अधिक विशाल क्रिया है—संपूर्ण सत्ता को एक विशाल और बृहत् रूप में परम देव की ओर उद्घाटित करना और समग्र सत्ता को अपने सब अंगों में तथा अपनी सभी शक्तियों के द्वारा उस एक विश्वात्मा में एक स्वर से तन्मय करना। इसके बिना यह योग अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। कारण, हम उस चेतना को पाने के अभिलाषी हैं जो परम देव में निहित है और विश्व में कार्य करती है; उसी को हम अपनी सत्ता के एक एक अंग की और अपनी प्रकृति की एक एक चेष्टा की अधिष्ठात्री बनाना चाहते हैं। विशालता और एकाग्रता से युक्त संपूर्ण सत्ता और प्रकृति ही इस साधना का सारभूत स्वरूप है और यह स्वरूप ही इसकी क्रिया-प्रणाली को निश्चित करेगा।

यद्यपि समस्त सत्ता को भगवान् पर एकाग्र करना योग का स्वरूप है तथापि हमारी सत्ता इतनी जटिल वस्तु है कि हम इसे आसानी से और एकदम ऊपर नहीं उठा सकते—यह तो ऐसा होगा मानों हम सारे संसार को दो हाथों में ही भर लेना चाहते हों। न हम सारी

सत्ता को एक ही साथ किसी काम में लगा सकते हैं। मनुष्य को अपने स्व-अतिक्रमण के प्रयत्न में साधारणतया अपनी प्रकृतिरूपी जटिल मशीन के किसी एक करण या शक्तिशाली उपकरण को ही अपने वश में करना होता है। इस करण या उपकरण को दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छा समझकर वह इसी को चुनता है और उसके सामने जो लक्ष्य है उसकी ओर मशीन को चलाने के लिये इसका उपयोग करता है। इस चुनाव में विश्व-प्रकृति ही सदा उसकी मार्गदर्शिका होनी चाहिये। परंतु यहां उसके अंदर प्रकृति अपनी उच्चतम और विशालतम अवस्था में होनी चाहिये न कि अपनी निम्नतम अवस्था में या किसी संकीर्ण गति के रूप में। निम्नतर प्राणिक क्रियाओं में से एक कामना ही ऐसी है जिसे प्रकृति अपने अत्यंत शक्तिशाली उपकरण के तौर पर अपनाती है। परंतु मनुष्य का विशेष लक्षण यह है कि वह एक मानसिक प्राणी है, केवल प्राणमय जन्तु नहीं। जैसे वह अपने प्राणिक आवेगों को संयत और मर्यादित करने के लिये अपने चिन्तनशील मन और इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर सकता है, वैसे ही वह उस उच्चतर प्रकाशमय मन की क्रिया को भी अवतरित कर सकता है, जिसे उसके अंदर की गभीरतर आत्मा या हृत्पुरुष की सहायता प्राप्त होती रहती है, और इस प्रकार इन महत्तर तथा विशुद्धतर प्रेरक शक्तियों के द्वारा वह इस कामनारूपी प्राणिक और सांवेदनिक आवेग का प्रभुत्व दूर कर सकता है। वह इसे पूरी तरह से वशीभूत या परिचालित भी कर सकता है और रूपांतर के लिये इसे इसके दिव्य स्वामी को सौंप दे सकता है। यह उच्चतर मन और यह गभीरतर आत्मा या मनुष्यस्थ चैत्य तत्त्व, दो वशीकारक अंकुश हैं जिनके द्वारा भगवान् उसकी प्रकृति को अपने अधिकार में ला सकते हैं।

मनुष्य में जो उच्चतर मन है वह तार्किक मन या तर्क-बुद्धि से भिन्न है, एक अधिक उच्च, पवित्र, विशाल और शक्तिशाली वस्तु है। पशु प्राणमय और इन्द्रिय-प्रधान जीव है; मनुष्य, कहा जाता है कि, पशु से इस बात में भिन्न है कि उसमें बुद्धि की शक्ति है। परंतु यह इस विषय का एक अत्यंत संक्षिप्त, अत्यंत अपूर्ण और भ्रामक वर्णन है। बुद्धि तो एक विशिष्ट और सीमित, प्रयोजनीय और साधनभूत क्रियामात्र है। इस क्रिया का मूल इससे एक बहुत बड़ी वस्तु में है, एक ऐसी शक्ति में है जो एक उज्ज्वलतर, बृहत्तर एवं असीम आकाश में रहती है। निरीक्षण, तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श तथा निर्णय करनेवाली हमारी बुद्धि के तात्कालिक या मध्यवर्ती महत्त्व से भिन्न इसका सच्चा और अंतिम महत्त्व यह है कि यह मनुष्य को एक ऊर्ध्व ज्योति को ठीक प्रकार से ग्रहण करने के लिये तथा उसकी सम्यक् क्रिया के लिये तैयार करती है। वह ज्योति उत्तरोत्तर मनुष्य के उस निम्न तमसाच्छन्न प्रकाश का, जो पशु का परिचालन करता है, स्थान ग्रहण करती जाती है। पशु में भी प्राथमिक बुद्धि, एक प्रकार का मन, आत्मा, इच्छाशक्ति और तीव्र भावावेश विद्यमान है; इसकी मानसिक रचना भी, कम विकसित ही क्यों न हो, मनुष्य के सदृश ही है। परंतु पशु की ये सब शक्तियां स्वयंचल और सर्वथा सीमित, यहां तक कि प्रायः निम्नतर स्नायविक सत्ता से निर्मित होती हैं। इसके सभी बोधों, संवेदनों और क्रियाओं पर वे स्नायविक और प्राणिक सहजप्रेरणाएं, क्षुधाएं, कामनाएं एवं भोग्य वस्तुएं ही शासन करती हैं, जो जीवन-आवेग और प्राणिक कामना से बंधी हुई हैं। मनुष्य भी प्राणिक प्रकृति की इस यांत्रिक क्रिया से बंधा हुआ है, पर अपेक्षाकृत कम। वह अपने आत्म-विकास के कठिन कार्य में एक प्रबुद्ध संकल्प, एक प्रबुद्ध विचार और प्रबुद्ध भावों का प्रयोग कर सकता है। वह कामना के निम्न व्यापार को उत्तरोत्तर इन

अधिक सचेतन और विचारवान् मार्गदर्शकों के वश में ला सकता है। जितना ही वह अपने निम्न स्व को इस प्रकार नियंत्रित और प्रबुद्ध कर सकता है उतना ही वह मनुष्य है, पशु नहीं। परंतु एक इससे भी महत्तर प्रबुद्ध विचार, दृष्टि और संकल्प है, जो अनंत के साथ संबद्ध है और जो मनुष्य के अपने संकल्प से अधिक दिव्य संकल्प का सचेतन रूप से अनुसरण करता है तथा अधिक विराट् एवं परात्पर ज्ञान के साथ गुंथा हुआ है। इस विचार, दृष्टि एवं संकल्प को जब मनुष्य अपनी कामना के स्थान पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करना शुरू कर पाता है तब वह अतिमानव की ओर आरोहण आरंभ कर देता है; वह भगवान् की ओर अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रा में अग्रसर होने लगता है।

इसलिये हमें सबसे पहले विचार, प्रकाश और संकल्प के उच्चतम मन को या गभीरतम वेदन और भाव के अन्तरीय हृदय को,—दोनों में से किसी एक को या, यदि हम समर्थ हों तो, एक साथ दोनों को—अपनी चेतना का केंद्र बनाना होगा और फिर उसे प्रकृति को पूरी तरह से भगवान् की ओर ले जाने के लिये एक साधन के रूप में प्रयुक्त करना होगा। योग का श्रीगणेश तब होता है जब हमारा प्रबुद्ध विचार, संकल्प और हृदय सब एक स्वर से हमारे ज्ञान के एकमात्र बृहत् ध्येय की ओर, हमारे कर्म के एकमात्र प्रकाशमय तथा अनंत स्रोत की ओर और हमारे भाव के एकमात्र अक्षय भाजन की ओर अभिमुख होकर उसी में एकाग्र हो जाते हैं। हमारी खोज का ध्येय होना चाहिये उस प्रकाश का मूलस्रोत जो हमारे अंदर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, और उस शक्ति का वास्तविक उद्‌गम जिसे हम अपने अंगों को चलाने के लिये पुकार रहे हैं। हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये स्वयं भगवान् जिनके लिये हमारी गुप्त प्रकृति का कोई भाग, जाने-अनजाने, सदैव अभीप्सा करता है। मन को एकमेव भगवान् के विचार, बोध, दिव्यदर्शन, उद्बोधक स्पर्श और आत्म-साक्षात्कार पर ही व्यापक, सर्वतोमुख किंतु अनन्य भाव में एकाग्र होना चाहिये। हृदय की ज्वाला को सर्वमय और सनातन भगवान् की ओर एकाग्र भाव से प्रज्वलित होना चाहिये और, एक बार जब हम उन्हें प्राप्त कर लें तो हमें सर्वसुन्दर की उपलब्धि और दिव्यानंद में गहरी डुबकी लगा-कर निमग्न हो रहना चाहिये। भगवान् जो कुछ भी हैं उस सबकी प्राप्ति और चरितार्थता में संकल्प को दृढ़ और अचल रूप से एकाग्र होना चाहिये और भगवान् हमारे अंदर जो कुछ प्रकट करना चाहते हैं उस सबकी ओर हमें अपने संकल्प को स्वतंत्र और नमनीय रूप में खोल देना चाहिये। यही योग का त्रिविध मार्ग है।

*

परंतु उस वस्तु पर जिसे हम अभी जानते तक नहीं हम अपने आपको एकाग्र करें कैसे? और फिर जब तक हम भगवान् पर अपनी सत्ता की एकाग्रता को सिद्ध नहीं कर लेते तब तक हम उसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। योग में ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के प्रयत्न से हमारा मतलब यह है कि हम एकमेव पर अपने को इस प्रकार एकाग्र करें कि हमें अपने अंदर तथा उस सबके अंदर जिससे हम अभिज्ञ हैं उसकी उपस्थिति का जीवंत साक्षात्कार और सतत अनुभव प्राप्त हो। इतना ही बस नहीं कि हम शास्त्रों के स्वाध्याय से या दार्श-निक तर्क-वितर्क के बल पर भगवान् को बुद्धि द्वारा समझने में अपने को उत्सर्ग कर दें। क्योंकि, अपने लंबे मानसिक श्रम के अंत में हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो सनातन देव के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ आत्मसात् कर लें जो अनंत के संबंध में सोचा जा

सकता है, फिर भी संभव है कि हम उसे बिलकुल न जान पावें। इसमें संदेह नहीं कि बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, किंतु यह अनिवार्य नहीं है; यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमेंसे गुजरना सबके लिये आवश्यक हो या जिसमेंसे गुजरने को सबसे कहा जा सके। ध्यान-चिंतन करनेवाली बुद्धि ज्ञान की जिस बौद्धिक प्रतिभा को प्राप्त करती है वह यदि योग की आवश्यक शर्त या अनिवार्य प्रारंभिक प्राप्ति हो तो योग इने-गिने लोगों के सिवा शेष सबके लिये असाध्य हो जाय। ऊपर से आनेवाला प्रकाश अपना काम शुरू कर सकने के लिये हमसे जिस चीज की मांग करता है वह केवल आत्मा की पुकार है और साथ ही मन के भीतर आश्रय लेने के लिये पर्याप्त स्थान भी। मन में बार बार भगवान् का विचार करके, क्रियाशील अंगों में तदनुरूप संकल्प करके और अभीप्सा, श्रद्धा तथा हार्दिक कामना के द्वारा उसे यह आश्रय प्रदान किया जा सकता है। यदि ये सब एकस्वर होकर या एकताल होकर न चल सकते हों तो इनमेंसे किसी को अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारंभ में असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है। श्रद्धा अल्पप्रकाशित हो सकती है, यहां तक कि, ज्ञान की चट्टान पर सुप्रतिष्ठित न होने के कारण, चलायमान तथा अनिश्चित भी हो सकती है। वह आसानी से मंद भी पड़ सकती है। यह भी संभव है कि वह बार बार बुझ जाय और आंधी-दार घाटी में मशाल की भांति उसे कठिनाई से फिर फिर प्रज्वलित करना पड़े। परंतु यदि साधक एक बार अंतर की गहराई से दृढ़ आत्म-निवेदन कर दे और आत्मा की पुकार के प्रति जाग जाय तो ये अपूर्ण चीजें भी दिव्य प्रयोजन के लिये पर्याप्त साधन हो सकती हैं। अतएव ज्ञानी लोग ईश्वर की ओर मनुष्य की पहुंच के मार्गों को सीमित कर देने में सदा ही संकोचशील रहे हैं। वे उसके प्रवेश के लिये तंग से तंग द्वार, सबसे नीची और सबसे अंधेरी खिड़की तथा तुच्छ से तुच्छ प्रवेश-पथ भी बंद नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ आत्म-निवेदन का भाव हो; क्योंकि जिज्ञासु के हृदय में भगवान् अपने को विराजमान देखते हैं और यज्ञ को स्वीकार कर लेते हैं।

तो भी आत्म-निवेदन को प्रेरित करनेवाला विचार-बल जितना महान् और विशाल होगा, साधक के लिये यह उतना ही उत्तम होगा; उसकी उपलब्धि संभवतः उतनी ही अधिक पूर्ण और प्रचुर होगी। यदि हमें पूर्णयोग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करना है तो यह अच्छा होगा कि हम भगवान् के एक ऐसे विचार को लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो। हृदय में एक ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो किन्हीं संकुचित सीमाओं से रहित साक्षात्कार को प्राप्त करने के लिये खूब विशाल हो। हमें केवल एक सांप्रदायिक एवं धार्मिक बहिर्दृष्टि को ही नहीं अपितु उन सभी एकपक्षीय दार्शनिक विचारों को भी त्यागना होगा जो अनिर्वचनीय को एक सीमित करनेवाले मानसिक सूत्र में आबद्ध कर देने का यत्न करते हैं। हमारा योग जिस शक्तिशाली विचार या प्रबल भावना को लेकर सुचारु रूप से चल सकता है वह, स्वभावतः, एक चेतन सर्व-समालिङ्गी एवं सर्वातिशायी अनंत देव का विचार तथा भावना ही है। हमें अपनी ऊर्ध्वदृष्टि उस स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण और आनंदमय परम एक तथा परम एकत्व की ओर रखनी होगी जिसमें भूतमात्र गति करते और निवास करते हैं और जिसके द्वारा सभी मिल सकते और एक हो सकते हैं। वह सनातन परमदेव आत्मा के समक्ष अपने को प्रकट

करने और उसपर अपना वरद हस्त रखने में एक साथ ही वैयक्तिक भी है और निर्वैयक्तिक भी। वह वैयक्तिक है क्योंकि वह चेतन भगवान् एवं अनंत पुरुष है जो विश्व के असंख्य दिव्य एवं अदिव्य व्यक्तित्वों में अपनी एक टूटी-फूटी छाया डालता है। वह निर्वैयक्तिक है क्योंकि वह हमें अनंत सत्, चित् और आनंद प्रतीत होता है और क्योंकि वह सभी सत्ताओं और सभी शक्तियों का मूल स्रोत, आधार एवं घटक है और हमारी सत्ता अर्थात् हमारे मन-प्राण-शरीर का वास्तविक उपादान है तथा हमारी आत्मा और हमारी भौतिक सत्ता है। भगवान् पर एकाग्र होने का अभ्यास करते हुए विचार के लिये केवल यही पर्याप्त नहीं है कि यह उसके अस्तित्व को बौद्धिक रूप में समझ ले अथवा उसे एक अमूर्त्त भाव या तर्कसिद्ध आवश्यकता मान ले। इसे एक द्रष्टा का विचार बनना होगा जो घट-घटवासी भगवान् से यहीं मिल सके, जो हमारे अंदर उसे साक्षात् कर सके और जो उसकी शक्तियों की गति का साक्षी एवं स्वामी बन सके। वह एकमेव सत् है; वह मूल और विश्वव्यापी आनंद है जिससे यह सब जगत् बना है और जो इससे परे भी है। वह एकमेव अनंत चेतना है जो सब चेतनाओं को गठित करती और उनकी सब गतियों को अनुप्राणित करती है। वह एकमेव असीम सत् है जो समस्त कर्म और अनुभव को धारण करता है। उसका संकल्प वस्तुओं के विकास को उनके अब तक असिद्ध पर अनिवार्य लक्ष्य तथा पूर्णता की ओर ले चलता है। उसपर हृदय अपने आपको उत्सर्ग कर सकता है, परम प्रियतम के रूप में उसके पास पहुंच सकता है और प्रेम के सार्वभौम माधुर्य एवं आनंद के सजीव सिंधु के रूप में उसके अंदर स्पंदन और विचरण कर सकता है। क्योंकि उसका हर्ष वह गुप्त हर्ष है जो आत्मा को उसके सभी अनुभवों में आश्रय देता है और भ्रांतिशील अहं को भी उसकी अग्निपरीक्षाओं और संघर्षों में तब तक धारण करता है जब तक कि समस्त दुःख और क्लेश मिट नहीं जाते। उसका प्रेम और आनंद उस अनंत दिव्य प्रेमी का प्रेम और आनंद है जो सभी वस्तुओं को उनके पथ से अपनी सुखमय एकता की ओर खींच रहा है। उसी पर संकल्प अपने को इस रूप में दृढ़तया एकाग्र कर सकता है कि वह एक अदृश्य शक्ति है जो इसे संचालित और क्रियान्वित करती है तथा इसके बल का स्रोत है। निर्वैयक्तिकता में यह प्रेरक बल एक स्वयंप्रकाशमान शक्ति है जो सब परिणामों को धारण करती है और स्थिरतापूर्वक तब तक कार्य करती है जब तक कि वह उन्हें सिद्ध ही नहीं कर लेती। वैयक्तिकता में यह योग का सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर है जिसे अपने संकल्प के उद्देश्य की सिद्धि में कोई चीज बाधा नहीं पहुंचा सकती। इसी श्रद्धा से जिज्ञासु को अपनी खोज और प्रयत्न शुरू करना होता है। इस भूतल पर अपने संपूर्ण पुरुषार्थ में और, सब से बढ़कर, अगोचर को प्राप्त करने के अपने पुरुषार्थ में मनोमय मनुष्य विवश होकर श्रद्धा द्वारा ही आगे बढ़ता है। जब उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होगा, तब श्रद्धा दिव्य रूप से कृतार्थ और पूर्ण होकर ज्ञान की नित्य ज्योतिशिखा में परिणत हो जायगी।

★

हमारे समस्त ऊर्ध्वमुख प्रयत्न में कामना का निम्नतर तत्त्व प्रारंभ में स्वभावतः ही आ घुसेगा। कारण, जिसे ज्ञानदीप्त संकल्प एकमात्र करने योग्य कार्य समझता है और एकमात्र प्राप्तव्य सर्वोच्च ध्येय के रूप में खोजता है, जिसे हृदय एकमात्र आनंदपूर्ण वस्तु जानकर गले लगाता है उसी को हमारे अन्दर का कामनामय पुरुष भी अहंमय कामना की क्षुब्ध व्यग्रता

के साथ खोजेगा। यह कामनामय पुरुष अपने आपको सीमित और व्याहत अनुभव करता है, और क्योंकि यह सीमित है, यह कामना और संघर्ष करता है। अपने अंदर की इस कामना-शील प्राणशक्ति या कामनामय पुरुष को हमें पहले पहल स्वीकार करना होता है, पर केवल इसलिये कि इसका रूपांतर किया जा सके। यहां तक कि सर्वथा प्रारंभ से ही इसे सिखाना होता है कि यह और सभी इच्छाएं त्यागकर केवल भगवत्प्राप्ति की कामना पर ही अपने आपको एकाग्र करे। यह महत्त्वपूर्ण अवस्था प्राप्त हो जाने पर इसे सिखाना होता है कि यह अपने पृथक् स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि संसारवासी ईश्वर और हमारे अंतर्वासी भगवान् के लिये कामना करे। किसी भी व्यक्तिगत आध्यात्मिक लाभ में इसे ध्यान नहीं लगाना होगा, यद्यपि हमें निश्चय है कि समस्त संभव आध्यात्मिक लाभ हमें प्राप्त होगा। बल्कि इसे ध्यान लगाना होगा उस महान् कर्म में जो हमारे और दूसरों के अंदर किया जाना है, उस उच्च भावी अभिव्यक्ति में जो संसार में भगवान् की एक भव्य चरितार्थता होनेवाली है, उस परम सत्य में जिसे खोजना, जीवन में लाना और सदा के लिये सिंहासनाधिरूढ़ करना है। परंतु सबसे अंत में इसे जो बात सिखानी होती है वह इसके लिये अत्यंत कठिन है। वह है ध्येय की ठीक प्रकार से खोज करना। यह बात ठीक ध्येय को खोजने की अपेक्षा भी कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि इसे अपने अहंभावमय तरीके से नहीं बल्कि भगवान् के तरीके के अनुसार कामना करना सीखना होगा। इसे परिपूर्णता की अपनी शैली का, लक्ष्यप्राप्ति के अपने स्वप्न का, उचित और काम्य के विषय में अपने विचार का वैसा आग्रह करना सर्वथा छोड़ देना होगा जैसा कि प्रबल भेदमूलक इच्छाशक्ति सदा ही किया करती है। एक अधिक विशाल और अधिक महान् इच्छाशक्ति को चरितार्थ करने की इसे स्पृहा करनी होगी और एक कम स्वार्थासक्त तथा कम अज्ञ पथप्रदर्शन के द्वार पर प्रतीक्षा करने को राजी होना होगा। इस प्रकार शिक्षित होकर यह कामना, जो अत्यंत चंचल है, जो मनुष्य को अत्यधिक हैरान और परेशान करती है तथा प्रत्येक प्रकार का स्खलन पैदा करती है, अपने दिव्य स्वरूप में परिणत होने योग्य बन जायगी। क्योंकि, कामना और रागावेश के भी अपने दिव्य परम रूप हैं। समस्त तृष्णा और दुःख से परे आत्मा की जिज्ञासा का एक विशुद्ध हर्षावेश भी है, आनंद की एक ऐसी इच्छा भी है जो परम दिव्यानंदों की प्राप्ति में महा-महिम होकर विराजमान है।

जब एक बार हमारी एकाग्रता का ध्येय हमारे तीन प्रधान करणों अर्थात् विचार, हृदय और संकल्प को अधिकृत कर लेता है और इनसे अधिकृत हो जाता है,–यह एक ऐसी ऊंची स्थिति है जो पूरी तरह तभी प्राप्त हो सकती है यदि हमारे अंदर की कामनात्मा दिव्य विधान के अधीन हो जाय,–तब हमारी रूपांतरित प्रकृति में तन-मन-जीवन की पूर्णता सफलतापूर्वक संपन्न हो सकती है। किंतु यह कार्य अहंकार की निजी तृप्ति के लिये नहीं वरन् इसलिये करना होगा कि संपूर्ण सत्ता दिव्य उपस्थिति के लिये उपयुक्त मंदिर एवं दिव्य कर्म के लिये निर्दोष यंत्र बन सके। दिव्य कर्म सचमुच किया ही तभी जा सकता है जब यंत्र समर्पित और पूर्णतायुक्त होकर निःस्वार्थ कार्य के योग्य बन जाय,–और यह तब होगा जब वैयक्तिक कामना और अहंकार तो मिट जायं पर स्वातंत्र्यप्राप्त व्यक्ति बना रहे। जब क्षुद्र अहं मिट जाता है तब भी सच्चे आध्यात्मिक पुरुष का अस्तित्व रह सकता है और उसके अंदर ईश्वर का संकल्प, कर्म और आनंद भी तथा उसकी पूर्णता और समृद्धि का आध्यात्मिक उपयोग भी

बना रह सकता है। हमारे कर्म तब दिव्य होंगे और दिव्य ढंग से ही किये जायंगे। हमारा ईश्वरार्पित मन, जीवन और संकल्प, तब दूसरों के अंदर और संसार के अंदर उस चीज को चरितार्थ करने में सहायता पहुंचाने के लिये प्रयुक्त होंगे जिसे हम अपने अंदर चरितार्थ कर चुके हैं अर्थात् उस सब साकार एकता, प्रेम, स्वतंत्रता, बल, शक्ति, ज्योति और अमर आनंद को चरितार्थ करने में प्रयुक्त होंगे जिसे हम स्वयं प्रकट कर सकते हैं और जो इहलोक में आत्मा के साहसिक कर्म का लक्ष्य है।

इस पूर्ण एकाग्रता के प्रयत्न से या कम से कम इसकी ओर स्थिर प्रवृत्ति से ही योग का आरंभ होता है। यह आवश्यक है कि परम देव के प्रति अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिये हमारे अंदर अडिग और अटूट संकल्प हो और हम अपनी संपूर्ण सत्ता तथा प्रकृति को अंग-प्रत्यंगसहित उस सनातन देव पर उत्सर्ग कर दें जो 'सर्व' है। अपनी एकमात्र काम्य वस्तु पर हमारी अनन्य एकाग्रता जितनी शक्तिशाली तथा पूर्ण होगी, एकमात्र स्पृहणीय एकमेव के प्रति हमारा आत्म-समर्पण भी उतना ही पूर्ण होगा। परंतु यह अनन्यता, अंत में, संसार को देखने के हमारे मिथ्या ढंग और हमारे संकल्प के अज्ञान के सिवा और किसी चीज का बहिष्कार नहीं करेगी। सनातन देव पर हमारी एकाग्रता मन के द्वारा तब पूर्ण होगी जब हम सदा-सर्वदा-सर्वत्र भगवान् के ही दर्शन करने लगेंगे—केवल उनके निज स्वरूप में तथा अपने अंदर ही नहीं बल्कि सब पदार्थों, प्राणियों और घटनाओं में भी। हृदय के द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब सारे भाव भगवान् के ही प्रेम में संपुटित हो जायंगे,—शुद्ध और निरपेक्ष भगवान् के प्रेम में ही नहीं बल्कि संसार के अंदर अपने सभी जीवों, शक्तियों, व्यक्तियों और दृश्य पदार्थों में रहनेवाले भगवान् के प्रेम में भी। संकल्प के द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब हम सदा दैवी प्रेरणा को अनुभव और ग्रहण करेंगे तथा उसी को अपना एकमात्र चालक बल स्वीकार करेंगे। परंतु इसका अर्थ यह होगा कि अहंमूलक प्रकृति के भटकनेवाले आवेगों का तथा उनमें भी अंतिम विद्रोही, उन्मार्गगामी तक का वध करके हमने अपने को विश्वमय बना लिया है और सभी पदार्थों में हो रही एक ही दैवी क्रिया को सदा हर्षपूर्वक स्वीकार करने के लिये हम योग्य बन गये हैं। यह पूर्णयोग की पहली आधारभूत सिद्धि है।

जब हम भगवान् के प्रति व्यक्ति के पूर्ण आत्म-निवेदन की बात करते हैं तब हमारा अभिप्राय अंत में इसी चीज से होता है, इससे कम किसी चीज से नहीं। परंतु निवेदन की यह समग्र पूर्णता अनवरत प्रगति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जब कि कामना का रूपांतर करके उसका अस्तित्व मिटाने की लंबी और कठिन प्रक्रिया निःशेष रूप से पूर्ण कर ली जाय। पूर्ण आत्म-निवेदन में पूर्ण आत्म-समर्पण भी अंतर्निहित है।

*

इस योग की दो गतियां हैं जिनके बीच में एक संक्रमण-अवस्था आती है, अथवा यूं कहें कि इस योग में दो काल आते हैं,—एक तो समर्पण की क्रियाप्रणाली का, दूसरा उसके शिखर और परिणाम का। पहले में व्यक्ति भगवान् को अपने अंगों में ग्रहण करने के लिये अपने आपको तैयार करता है। इस सारे प्रारंभिक काल में उसे निम्नतर प्रकृति के करणों द्वारा काम करते हुए भी ऊपर से अधिकाधिक सहायता प्राप्त करनी आवश्यक होती है। परंतु इस गति की पिछली संक्रमण-अवस्था में हमारा व्यक्तिगत और अनिवार्यतः-अज्ञानपूर्ण प्रयत्न उत्तरोत्तर कम होता जाता है और उच्चतर प्रकृति कार्य करने लगती है; अनादि परम शक्ति

इस सीमित मर्त्य शरीर में अवतरित होती है और इसे उत्तरोत्तर अधिकृत तथा रूपांतरित करती है। दूसरी अवस्था में महत्तर गति निम्नतर गति का, जो पहले अनिवार्य प्रारंभिक क्रिया थी, पूर्णतया स्थान ले लेती है। किंतु यह केवल तभी किया जा सकता है जब कि हमारा आत्म-समर्पण पूर्ण हो। हमारे अंदर का अहं-रूप पुरुष अपने बल या इच्छा-शक्ति या ज्ञान के सहारे या अपने किसी गुण के बल पर अपने आपको भगवान् की प्रकृति में रूपांतरित नहीं कर सकता। यह जो कुछ कर सकता है वह बस यही है कि अपने आपको रूपांतर के योग्य बनाये और यह जो कुछ बनना चाहता है उसके प्रति अपना अधिकाधिक समर्पण करता जाय। जब तक अहं हमारे अंदर क्रियाशील रहता है तब तक हमारी व्यक्तिगत क्रिया अपने स्वरूप में सत्ता के निम्नतर स्तरों से संबंध रखती है और सदा रखेगी ही। यह अज्ञानमय या अर्द्ध-प्रकाशयुक्त तथा अपने क्षेत्र में सीमित और अपनी शक्ति की दृष्टि से बहुत अपूर्ण रूप में प्रभावशाली होती है। यदि आध्यात्मिक रूपांतर किंचित् भी सिद्ध करना है, और यदि अपनी प्रकृति का केवल प्रकाशप्रद परिवर्तन करना ही इष्ट नहीं है, तो हमें अपनी व्यष्टि-सत्ता में यह चमत्कारक कार्य सिद्ध करने के लिये दिव्य शक्ति का आवाहन करना होगा; क्योंकि, इस कार्य के लिये अपेक्षित सामर्थ्य—निर्णायक, सर्वज्ञानमय, असीम सामर्थ्य—उस परा शक्ति में ही है। परंतु मानवीय व्यक्तिगत क्रिया के स्थान पर भगवान् की क्रिया को पूर्णतया स्थापित करना तुरत ही पूरी तरह से संभव नहीं होता, क्योंकि नीचे से होनेवाला हस्तक्षेप ऊर्ध्व स्तर की क्रिया के सत्य को मिथ्या रूप दे देता है। इसलिये पहले हमें सब प्रकार के हस्तक्षेप को बंद या निष्फल करना होगा और यह हमें करना होगा अपनी स्वतंत्र इच्छा से। जिस चीज की हमसे मांग की जाती है वह यह है कि हम निम्नतर प्रकृति की प्रवृत्तियों और मिथ्यात्वों का सतत और सदा-सर्वदा पुनः पुनः परित्याग करें और जैसे जैसे हमारे अंगों में सत्य की वृद्धि हो वैसे वैसे हम इसे दृढ़ आश्रय प्रदान करते जायं। क्योंकि, भीतर प्रविष्ट होती हुई संजीवनी ज्योति, पवित्रता और शक्ति को अपनी प्रकृति में उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित करने और इनकी चरम पूर्णता साधित करने के लिये हमें इनका पोषण एवं संवर्धन करना होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इन्हें मुक्त हृदय से अंगीकार करें और जो कुछ भी इनके विपरीत एवं इनसे हीनतर या असंगत है उस सबका दृढ़तापूर्वक परित्याग करें।

अपने आपको तैयार करने की प्रथम गति में अर्थात् व्यक्तिगत प्रयत्न के काल में, जिस विधि का हमें प्रयोग करना है वह है संपूर्ण सत्ता की एकाग्रता,—उस भगवान् पर एकाग्रता जिसे यह पाना चाहती है और, इसके स्वाभाविक परिणाम के तौर पर, उस सबका सतत परित्याग, उस सबका परिवर्जन जो भगवान् का सच्चा सत्य नहीं है। इस दृढ़ परित्याग का परिणाम होगा उस सबका समग्र निवेदन जो कुछ कि हम हैं और जो कुछ भी हम सोचते, अनुभव करते और कार्य करते हैं। आत्म-निवेदन क्रमशः सर्वोच्च देव के प्रति समग्र आत्मदान में परिसमाप्त होगा; क्योंकि आत्म-निवेदन का शिखर और उसकी पूर्णता का चिह्न है संपूर्ण प्रकृति का सर्वसंग्राहक निरपेक्ष समर्पण। योग की दूसरी अवस्था में, जो मानवीय और दिव्य क्रिया के बीच की संक्रमण-अवस्था है, मानवीय क्रिया के स्थान पर एक अन्य क्रिया ऊर्ध्व में अधिष्ठित होगी। वह है दिव्य शक्ति के प्रति वृद्धिशील, विशुद्ध और जागरूक नमनशीलता, उसके प्रति अधिकाधिक प्रकाशयुक्त दिव्य प्रत्युत्तर—किंतु उसी के प्रति, किसी अन्य

के प्रति नहीं। इसके फलस्वरूप, ऊपर से आयेगा एक महान् और सचेतन चमत्कारी क्रिया का वर्धमान प्रवाह। अंतिम अवस्था में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होता, न कोई नियत विधि और न कोई बंधी साधना ही होती है। प्रयत्न और तपस्या का स्थान एक सहज-स्वाभाविक विकास ले लेता है। विशुद्ध और पूर्णता-प्राप्त पार्थिव प्रकृति की कली में से भगवान्‌रूपी कुसुम शक्तिशाली और आनंदप्रद ढंग से स्वयमेव विकसित होने लगता है। योग की क्रिया के स्वाभाविक क्रम यही हैं।

ये गतियां वास्तव में सदा तथा अटल रूप में इस प्रकार एक कठोर आनुक्रमिक रूप में बंधी हुई नहीं होतीं। पहली अवस्था की समाप्ति से पूर्व दूसरी अवस्था कुछ कुछ शुरू हो जाती है। पहली अवस्था अंशतः तब तक जारी रहती है जब तक दूसरी पूर्ण नहीं हो लेती। इस बीच चरम दिव्य क्रिया समय समय पर आश्वासन के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है और बाद में वह हमारे अंदर अंतिम तौर पर प्रतिष्ठित तथा हमारी प्रकृति के लिये सहज-स्वाभाविक हो जाती है। वैसे तो सदा ही, व्यक्ति की अपेक्षा कोई उच्चतर और महत्तर शक्ति उसके पीछे विद्यमान होती है जो उसके वैयक्तिक प्रयत्न और पुरुषार्थ में भी उसका पथप्रदर्शन करती है। पर्दे की ओट में प्रच्छन्न इस महत्तर पथप्रदर्शन से वह कितनी ही बार सचेतन भी हो सकता है, यहां तक कि कुछ काल के लिये पूर्ण रूप से और अपनी सत्ता के कुछ भागों में तो नित्य रूप से भी सचेतन रह सकता है। पर यह सचेतनता उसे बहुत पहले भी प्राप्त हो सकती है जब कि उसकी संपूर्ण सत्ता अपने सभी अंगों में निम्नतर परोक्ष नियंत्रण की अपवित्रता से अभी मुक्त भी नहीं हुई होती। यहां तक कि वह प्रारंभ से ही इस प्रकार सचेतन रह सकता है; उसके अन्य अंग न भी सही किंतु उसके मन और हृदय योग में सर्वप्रथम पदार्पण करने के बाद से ही इस प्रच्छन्न शक्ति के ग्रासी और वेधक पथ-प्रदर्शन का प्रत्युत्तर एक प्रकार की प्रारंभिक पूर्णता के साथ दे सकते हैं। परंतु संक्रमण-अवस्था जैसे जैसे आगे बढ़ती और अपनी समाप्ति के निकट पहुंचती है वैसे वैसे जो लक्षण उसे अन्य अवस्थाओं से अधिकाधिक स्पष्ट रूप में पृथक् करता है वह इस महान् प्रत्यक्ष नियंत्रण की सतत, पूर्ण एवं समरस क्रिया है। इस महत्तर एवं दिव्यतर पथप्रदर्शन की, जो हमारे लिये व्यक्तिगत नहीं होता, प्रधानता इस बात का चिह्न होती है कि प्रकृति समग्र आध्यात्मिक रूपांतर के लिये उत्तरोत्तर परिपक्व हो रही है। यह इस बात का अचूक चिह्न होती है कि आत्म-निवेदन केवल सिद्धांततः ही स्वीकार नहीं किया गया है अपितु वह क्रिया और शक्ति में भी पूर्णतः चरितार्थ हो गया है। परम देव ने अपनी चमत्कारमयी ज्योति, शक्ति और आनंद के चुने हुए मानवीय आधार के सिर पर अपना ज्योतिर्मय हस्त धर दिया है।

तीसरा अध्याय

कर्म में आत्मसमर्पण—गीता का मार्ग

केवल दूरस्थ, नीरव या उन्नीत आनंद-विभोर पारलौकिक जीवन ही नहीं वरन् समस्त जीवन हमारे योग का क्षेत्र है। सोचने, देखने, अनुभव करने और रहने की हमारी स्थूल,

संकीर्ण तथा खण्डात्मक मानवीय शैली का गभीर एवं विशाल अध्यात्म-चेतना तथा सर्वांग आन्तर एवं बाह्य अस्तित्व में रूपान्तर और हमारे सामान्य मानव जीवन का दिव्य जीवन-प्रणाली में रूपांतर इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस परम लक्ष्य का साधन है—हमारी संपूर्ण प्रकृति का अपने आपको भगवान् के हाथों में सौंप देना। हमें अपनी प्रत्येक चीज अपने अन्तःस्थ ईश्वर, विश्वमय सर्व और विश्वातीत परमात्मा पर उत्सर्ग करनी होगी। अपने संकल्प, अपने हृदय और अपने विचार को उस एक और बहुरूप भगवान् पर पूर्णरूपेण एकाग्र करना और अपनी संपूर्ण सत्ता को, निःशेष रूप से भगवान् पर ही न्योछावर कर देना इस योग की एक निर्णायक गति है, यह अहं का उस 'तत्' की ओर मुड़ना है जो इससे अनंत-गुना महान् है, यही उसका आत्मदान और अनिवार्य समर्पण है।

मानव प्राणी का जीवन, जैसा कि यह साधारणतया बिताया जाता है, नाना तत्त्वों के अर्द्ध-स्थिर, अर्द्ध-तरल समूह से बना हुआ है। वे तत्त्व हैं—अत्यंत अपूर्णतया नियंत्रित विचार, इन्द्रियानुभव, संवेदन, भाव, कामनाएं, सुखोपभोग तथा कर्म जो अधिकतर रूढ़िबद्ध एवं पुन-रावर्ती और केवल अंशतः प्रभावशाली तथा विकसनशील होते हैं, पर सबके सब उथले अहं के इर्दगिर्द केंद्रित रहते हैं। इन (विचार, इन्द्रियानुभव आदि) क्रियाओं की गति का सम्मि-लित परिणाम होता है आन्तरिक विकास जो अंशतः इसी जीवन में प्रत्यक्ष और फलप्रद होता है और अंशतः भावी जन्मों में होनेवाली प्रगति के लिये बीज का काम करता है। सचेतन सत्ता की यह प्रगति, उसके उपादानभूत अंगों का विस्तार, उत्तरोत्तर आत्म-प्रकाशन और अधिकाधिक समस्वरित विकास ही मानव के अस्तित्व एवं जीवन का संपूर्ण अर्थ और समस्त सार है। चेतना के इस सार्थक विकास के लिये ही मनुष्य ने, मनोमय प्राणी ने, इस स्थूल शरीर में प्रवेश किया है। यह विकास विचार, इच्छाशक्ति, भाव, कामना, कर्म और अनुभव की सहायता से होता है और अन्त में परम दिव्य आत्म-ज्ञान प्राप्त करा देता है। इसके सिवा शेष सब कुछ सहायक और गौण है अथवा आनुषंगिक और निष्प्रयोजन; केवल वही चीज आवश्यक है जो मनुष्य की प्रकृति के विकास में और उसकी अन्तरात्मा एवं आत्मा की उन्नति में अथवा यूं कहें कि उनकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और उपलब्धि में पोषक और सहायक हो।

हमारे योग का लक्ष्य बस इह-जीवन के इस परम लक्ष्य को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करना ही है। यह योग प्राकृतिक विकास की मन्द तथा अस्तव्यस्त प्रगति की साधारण दीर्घकालीन विधि को छोड़ देता है। प्राकृतिक विकास तो, अधिक से अधिक, एक प्रच्छन्न अनिश्चित सी उन्नति ही होता है; यह अंशतः परिस्थिति के दबाव के अधीन तथा अंशतः लक्ष्यहीन शिक्षा और अर्ध-प्रकाशमान सोद्देश्य प्रयत्न के द्वारा संपन्न होता है। यह सुयोगों का अनेक भूलों, पतनों और पुनःपतनों के साथ आंशिक रूप में प्रबुद्ध और अर्ध-यांत्रिक उपयोगमात्र होता है। इसका अधिकांश भाग प्रत्यक्षतः आकस्मिक घटनाओं, पारिपार्श्विक अवस्थाओं तथा उनके परिवर्तनों से गठित होता है, यद्यपि इसके पीछे गुप्त दिव्य सहायता एवं पथप्रदर्शन अवश्य छिपा रहता है। योग में हम इस अस्तव्यस्त, टेढ़ी केंकड़े की सी चाल के स्थान पर एक वेग-शाली, सचेतन और आत्म-प्रेरित विकास-प्रक्रिया को प्रतिष्ठित करते हैं जो हमें सीधा जितना संभव है, लक्ष्य की ओर ले जा सकती है। एक ऐसे विकास में जो संभवतः असीम हो सकता है कहीं किसी लक्ष्य की चर्चा करना एक दृष्टि से अशुद्ध होगा। फिर भी हम अपनी

वर्तमान उपलब्धि से परे एक तात्कालिक लक्ष्य एवं दूरतर उद्देश्य की कल्पना कर सकते हैं जिसके लिये मनुष्य की आत्मा अभीप्सा कर सकती है। एक नूतन जन्म की संभावना का द्वार उसके सामने खुला पड़ा है; वह सत्ता के एक उच्चतर और विशालतर स्तर में आरोहण कर सकता है और फिर वह स्तर उसके अंगों का रूपांतर करने के लिये यहां अवतरित हो सकता है। एक विस्तृत और प्रदीप्त चेतना का उदय होना भी संभव है जो उसे मुक्त आत्मा और पूर्णताप्राप्त शक्ति बना देगी और यदि वह चेतना व्यक्ति के परे भी सब ओर व्याप्त हो जाय तो वह दिव्य मानवता अथवा नवीन, अतिमानसिक और अतएव अतिमानवीय जाति की भी रचना कर सकती है। इसी नूतन जन्म को हम अपना लक्ष्य बनाते हैं। दिव्य चेतना में विकसित होना, केवल आत्मा को ही नहीं अपितु अपनी प्रकृति के सभी अंगों को पूर्ण रूप से दिव्यता में रूपांतरित करना हमारे योग का संपूर्ण प्रयोजन है।

★

हमारी योगसाधना का उद्देश्य है–सीमित एवं बहिर्मुख अहं को बहिष्कृत कर देना और उसके स्थान पर ईश्वर को प्रकृति के नियंता अन्तर्यामी के रूप में सिंहासनासीन करना। इसका तात्पर्य है–सबसे पहले कामना को उसके अधिकार से च्युत कर देना और फिर उसके सुख को प्रधान मानवीय प्रेरक-भाव के रूप में कदापि स्वीकार न करना। आध्यात्मिक जीवन अपना पोषण कामना से नहीं बल्कि मूल सत्ता के विशुद्ध और अहंतारहित आध्यात्मिक आनंद से प्राप्त करेगा। हमारी उस प्राणिक प्रकृति को ही नहीं जिसकी निशानी कामना है, बल्कि हमारी मानसिक सत्ता को भी नूतन जन्म तथा रूपांतरकारी परिवर्तन का अनुभव करना होगा। हमारे विभक्त, अहंपूर्ण, सीमित और अज्ञानयुक्त विचार एवं बोध को विलुप्त हो जाना होगा और इसके स्थान पर उस अन्धकाररहित दिव्य प्रकाश की एक व्यापक एवं अविकल धारा को प्रवाहित होना होगा जिसकी चरम पराकाष्ठा एक स्वाभाविक स्वयं-सत् सत्य-चेतना होगी जिसमें अन्धकार में खोजनेवाला अर्द्ध-सत्य तथा स्खलनशील भ्रान्ति नहीं होगी। हमारे विमूढ़, व्याकुल, अहं-केंद्रित तथा क्षुद्र-भाव-प्रेरित संकल्प एवं कर्म का अंत हो जाना चाहिये और इसके स्थान पर एक तीव्र-प्रभावशाली, ज्ञानपूर्वक स्वयंचालित और भगवान् से प्रेरित एवं अधिष्ठित शक्ति की पूर्ण क्रिया को प्रतिष्ठित होना चाहिये। हमारे सभी कार्यों में उस परम निर्वैयक्तिक, अविचल और निर्भ्रान्त संकल्प को दृढ़ और सक्रिय होना चाहिये जो भगवान् के संकल्प के साथ सहज और शांत एकत्व रखता हो। हमें अपने दुर्बल अहंकारमय भावों की अतृप्तिकर ऊपरी क्रीड़ा का बहिष्कार कर इसके स्थान पर उस निभृत, गभीर और विशाल अन्तरस्थ चैत्य हृदय का आविर्भाव करना होगा जो उन भावों के पीछे छिपा हुआ अपने मुहूर्त्त की प्रतीक्षा कर रहा है। इस अन्तरीय हृदय से–जिसमें भगवान् का वास है–प्रेरित होकर हमारे सब भाव और अनुभव भागवत प्रेम और बहुविध आनंद की दोहरी उमंग की प्रशांत और प्रगाढ़ गतियों में रूपांतरित हो जायंगे। यही है दिव्य मानवता या विज्ञानमय जाति का लक्षण। यही–न कि मानवीय बुद्धि और कर्म की अतिरंजित किंवा उदात्तीकृत शक्ति–उस अतिमानव का रूप है जिसे अपने योग द्वारा विकसित करने के लिये हमें आह्वान प्राप्त हुआ है।

साधारण मानव जीवन में बहिर्मुख कर्म स्पष्ट ही हमारे जीवन का तीन चौथाई या इससे भी बड़ा भाग होता है; केवल कुछ एक असाधारण व्यक्ति ही,–जैसे ऋषि-मुनि, विरले

मनीषी, कवि और कलाकार,–अपने भीतर अधिक रह सकते हैं। निःसंदेह ये, कम से कम अपनी प्रकृति के अन्तरतम अंगों में, अपने आपको बाह्य कर्म की अपेक्षा आन्तरिक विचार और भाव में ही अधिक गढ़ते हैं। परन्तु इन आन्तर और बाह्य पक्षों में से कोई भी दूसरे से पृथक् होकर पूर्ण जीवन के रूप की रचना नहीं करेगा, वरंच जब आन्तर और बाह्य जीवन पूर्णतः एकीभूत होकर अपने से परे की किसी वस्तु की लीला में रूपांतरित हो जायंगे तब उनकी वह समरसता ही पूर्ण-जीवन को मूर्त्त रूप देगी। अतएव कर्मयोग,–अर्थात् केवल ज्ञान और भाव में ही नहीं अपितु अपने संकल्प और कार्यों में भी भगवान् के साथ मिलन,–पूर्ण-योग का एक अनिवार्य अंग है–एक ऐसा आवश्यक अंग है जिसके महत्त्व का वर्णन नहीं हो सकता। वास्तव में, हमारे विचार और भाव का रूपांतर एक पंगु उपलब्धि ही रहेगा यदि इसके साथ हमारे कार्यों की भावना और बाह्य रूप का भी एक अनुरूप रूपांतर न हो जाय।

परंतु यदि यह पूर्ण रूपांतर संपन्न करना है तो हमें अपने मन और हृदय की भांति अपने कार्यों और बाह्य चेष्टाओं को भी भगवान् के चरणों में समर्पित करना होगा, अपनी कार्य करने की सामर्थ्यों का अपने पीछे विद्यमान महत्तर शक्ति के हाथों में समर्पण करने के लिये सहमत होना होगा तथा इस समर्पण को उत्तरोत्तर संपन्न भी करना होगा। हमीं कर्त्ता और कर्मी हैं इस भाव को मिटा देना होगा। जो भागवत संकल्प इन सम्मुखीन प्रतीतियों के पीछे छिपा हुआ है, सब कुछ उसी के हाथों में सौंप देना होगा ताकि वह इस सबका अधिक सीधे तौर से उपयोग कर सके, क्योंकि उस अनुमन्ता संकल्प के द्वारा ही हमारे लिये कोई भी कार्य करना संभव होता है। एक निगूढ़ शक्तिशाली देव ही हमारे कार्यों का सच्चा स्वामी और अधिष्ठाता साक्षी है, और केवल वही हमारे अहंकार से उत्पन्न अज्ञान, कालुष्य और विकार में भी हमारे कर्मों का संपूर्ण मर्म और अंतिम प्रयोजन जानता है। हमें अपने सीमित और विकृत अहंभावमय जीवन और कर्मों का उस महत्तर दिव्य जीवन, संकल्प और बल के विशाल एवं प्रत्यक्ष प्रवाह में पूर्ण रूपांतर साधित करना होगा, जो हमें इस समय गुप्त रूप में धारण कर रहा है। इस महत्तर संकल्प और बल को हमें अपने अंदर सचेतन और स्वामी बनाना होगा; इसे आज की तरह केवल अतिचेतन, भर्त्री और अनुमंत्री शक्ति ही नहीं बने रहना होगा। जो सर्वज्ञ शक्ति और सर्वशक्तिमान् ज्ञान आज गुप्त है उसका पूर्ण ज्ञानमय प्रयोजन एवं प्रक्रिया हमारे अन्दर बिना विकृत हुए संचरित हो–ऐसी अवस्था हमें प्राप्त करनी होगी। वह शक्ति एवं ज्ञान हमारी समस्त रूपांतरित प्रकृति को अपनी उस शुद्ध और अप्रतिहत प्रणालिका में परिणत कर देगा जो सहर्ष स्वीकृति देने और भाग लेनेवाली होगी। यह पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और इससे फलित होनेवाला यह समग्र रूपांतर तथा (ज्ञान और बल का) स्वतंत्र संचार सर्वांगीण कर्मयोग का समस्त मूल साधन और अंतिम साध्य हैं।

उन लोगों के लिये भी जिनकी पहली स्वाभाविक गति चिंतनात्मक मन और उसके ज्ञान का अथवा हृदय और उसके भावों का पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और फलतः इनका पूर्ण रूपांतर होती है, कर्मों का अर्पण इस रूपांतर के लिये एक आवश्यक अंग है। अन्यथा, पार-लौकिक जीवन में वे ईश्वर को भले ही पा लें पर इह-जीवन में वे भगवान् को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे, इह-जीवन उनके लिये निरर्थक, अदिव्य और असंगत वस्तु ही रहेगा। वह सच्ची विजय उनके भाग्य में नहीं है जो हमारे पार्थिव जीवन की पहेली की कुंजी होगी;

उनका प्रेम आत्म-विजयी एवं परिपूर्ण प्रेम नहीं होगा, न उनका ज्ञान ही एक समग्र चेतना और सर्वांगीण ज्ञान होगा। निःसंदेह, यह संभव है कि केवल ज्ञान या ईश्वराभिमुख भाव को लेकर या इन दोनों को एक साथ लेकर योग प्रारंभ किया जांय और कर्मों को योग की अंतिम गति के लिये रख छोड़ा जाय। परंतु इसमें हानि यह है कि हम आन्तरिक अनुभव में सूक्ष्म-वृत्तिवाले बनकर तथा अपने बाह्य-सम्बन्धशून्य आन्तरिक अंगों में बन्द रहते हुए अतीव एकांगी रूप में भीतर ही भीतर निवास करने की ओर आकृष्ट हो सकते हैं। संभव है कि वहां हम अपने आध्यात्मिक एकान्तवास के कठोर आवरण से आच्छादित हो जायं और फिर बाद में अपनी आन्तरिक जीवनधारा को सफलतापूर्वक बाह्य जीवन में प्रवाहित करना और उच्चतर प्रकृति में हमने जो सिद्धि प्राप्त की है उसे बाह्य जीवन के क्षेत्र में व्यवहृत करना हमें कठिन मालूम होने लगे। जब हम इस बाह्य राज्य को भी अपनी आन्तरिक विजयों में जोड़ने की ओर प्रवृत्त होंगे, तब हम अपने को एक ऐसी शुद्ध रूप से आन्तरिक क्रिया के अत्यधिक अभ्यस्त पायंगे जिसका जड़ स्तर पर कोई प्रभाव नहीं होगा। बहिर्जीवन और शरीर का रूपांतर करने में हमें बड़ी भारी कठिनाई होगी। अथवा हम देखेंगे कि हमारा कर्म अन्तर्ज्योति के साथ मेल नहीं खाता; यह अभी तक पुराने अभ्यस्त भ्रांत पथों का ही अनुसरण करता है और पुराने सामान्य अपूर्ण प्रभावों के अधीन है; हमारा अन्तरस्थ सत्य एक कष्टकर खाई के द्वारा हमारी बाह्य प्रकृति की अज्ञानपूर्ण क्रिया से पृथक् हुआ चला आता है। यह अनुभव प्रायः ही होता है, क्योंकि ऐसी एकांगी पद्धति में प्रकाश और बल स्वयंपूर्ण बन जाते हैं और अपने आपको जीवन में प्रकट करने या पृथ्वी और इसकी प्रक्रियाओं के लिये नियत भौतिक साधनों का प्रयोग करने को इच्छुक नहीं होते। यह ऐसा ही है मानों हम किसी अन्य विशालतर एवं सूक्ष्मतर जगत् में रह रहे हों और जड़ तथा पार्थिव सत्ता पर हमारा दिव्य प्रभुत्व बिलकुल भी न हो या शायद किसी प्रकार का भी प्रभुत्व नहीं के बराबर हो।

फिर भी प्रत्येक को अपनी प्रकृति के अनुसार चलना चाहिये और यदि हमें अपने स्वाभाविक योगमार्ग का अनुसरण करना है तो उसमें कुछ कठिनाइयां तो सदा ही आयंगी जिन्हें कुछ काल के लिये स्वीकार करना पड़ेगा। योग, अंततः, मुख्य रूप में आंतर चेतना और प्रकृति का परिवर्तन है, पर यदि हमारे अंगों का संतुलन ही ऐसा हो कि प्रारंभ में यह परिवर्तन कुछ अंगों में ही करना संभव हो और शेष को अभी ऐसे ही छोड़कर बाद में अपने हाथ में लेना आवश्यक हो तो हमें इस प्रक्रिया की प्रत्यक्ष अपूर्णता को स्वीकार करना ही होगा। तथापि पूर्णयोग की आदर्श क्रियाप्रणाली एक ऐसी विकासधारा होगी जो अपनी प्रक्रिया में प्रारंभ से ही सर्वांगीण और अपनी प्रगति में अखण्ड तथा सर्वतोमुखी हो। कुछ भी हो, इस समय हमारा प्रमुख विषय उस योग-मार्ग का निरूपण करना है जो अपने लक्ष्य और संपूर्ण गतिधारा की दृष्टि से सर्वांगीण हो, किंतु जो कर्म से प्रारंभ करे और कर्म द्वारा ही अग्रसर हो, पर साथ ही हर सीढ़ी पर एक जीवनदायी दिव्य प्रेम से अधिकाधिक प्रेरित और एक सहायक दिव्य ज्ञान से अधिकाधिक आलोकित हो।

★

आध्यात्मिक कर्मों का सबसे महान् दिव्य सत्य जो आज तक मानवजाति के लिये प्रकट किया गया है, अथवा कर्मयोग की पूर्णतम पद्धति जो अतीत में मनुष्य को विदित थी, भग-

वद्गीता में पाई जाती है। महाभारत के उस प्रसिद्ध उपाख्यान में कर्मयोग की महान् मूलभूत रूपरेखा अनुपम अधिकार के साथ और विश्वस्त अनुभव की निर्भ्रान्ति दृष्टि के साथ सदा के लिये अंकित कर दी गई है। यह ठीक है कि केवल उसका मार्ग ही, जैसा कि पूर्वजों ने इसे देखा था, पूरी तरह खोलकर बताया गया है; पूर्ण चरितार्थता या सर्वोच्च रहस्य के विकास का संकेत ही दिया गया है उसे खोलकर नहीं रखा गया; उसे परम रहस्य के अनुक्त अंश के रूप में छोड़ दिया है। इस मौन के कारण स्पष्ट हैं; क्योंकि, चरितार्थता अनुभव का विषय होती है और कोई भी उपदेश इसे प्रकट नहीं कर सकता। इसका वर्णन किसी ऐसे ढंग से नहीं किया जा सकता जिसे मन सचमुच में समझ सके, क्योंकि मन को वह प्रकाशमय रूपांतरकारी अनुभव प्राप्त ही नहीं है। इसके अतिरिक्त जो आत्मा उन चमकीले द्वारों को पारकर अन्तर्ज्योति की ज्वाला के सम्मुख पहुंच गई है उसके लिये समस्त मानसिक तथा शाब्दिक वर्णन जितना क्षुद्र, अपर्याप्त तथा प्रगल्भ होता है उतना ही निःसार भी होता है। सभी दिव्य सिद्धियों का निरूपण हमें, विवश होकर, मनोमय मनुष्य के साधारण अनुभव के अनुरूप रचित भाषा की अनुपयुक्त और भ्रामक शब्दावलि में ही करना पड़ता है। इस प्रकार वर्णित होने के कारण वे सिद्धियां केवल उन्हीं को ठीक ठीक समझ में आ सकती हैं जो पहले से ही ज्ञानी हों और, ज्ञानी होने के कारण, इन निःसार बाह्य शब्दों को एक परिवर्तित, आभ्यन्तर तथा रूपांतरित अभिप्राय प्रदान कर सकते हों। वैदिक ऋषियों ने प्रारंभ में ही बल देकर कहा था कि परम ज्ञान के शब्द केवल उन्हीं के लिये अर्थ-द्योतक होते हैं जो पहले से ही ज्ञानी हों। गीता ने अपने गूढ़ उपसंहार के रूप में जो मौन साध लिया है उससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जिस समाधान की हम खोज कर रहे हैं उसतक वह नहीं पहुंच पाई है; वह उच्चतम आध्यात्मिक मन की सीमाओं पर ही रुक जाती है और उन्हें पार कर अतिमानसिक प्रकाश की दीप्तियों तक नहीं पहुंचती। फिर भी उसका प्रधान रहस्य है—हृद्देशस्थ ईश्वर के साथ केवल स्थितिशील ही नहीं वरन् क्रियाशील एकत्व और हमारे दिव्य मार्गदर्शक तथा हमारी प्रकृति के स्वामी एवं अंतर्वासी के प्रति पूर्ण समर्पण का सर्वोच्च गुह्य ज्ञान। यह समर्पण अतिमानसिक रूपांतर का अनिवार्य साधन है और फिर अतिमानसिक परिवर्तन से ही सक्रिय एकत्व संभव होता है।

तो गीता द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग-प्रणाली क्या है? इसके मुख्य सिद्धांत या इसकी आध्यात्मिक पद्धति का हम संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं कि वह चेतना की दो विशालतम और उच्चतम अवस्थाओं या शक्तियों,—समता और एकता,—का मिलन है। इसकी पद्धति का सार है भगवान् को अपने जीवन में तथा अपनी अंतरात्मा और आत्मा में निःशेष रूप से अंगीकार करना। व्यक्तिगत कामना के आंतरिक त्याग से समता प्राप्त होती है। इससे भगवान् के प्रति हमारा पूर्ण समर्पण साधित होता है तथा हमें विभाजक अहं से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है और यह मुक्ति हमें एकत्व प्रदान करती है। परंतु यह एकत्व शक्ति की सक्रिय अवस्था में होना चाहिये न कि केवल स्थितिशील शांति या निष्क्रिय आनंद की अवस्था में। गीता हमें कर्मों के और प्रकृति की पूर्णवेगवती शक्तियों के भीतर भी आत्मा की स्वतंत्रता का आश्वासन देती है, पर केवल तभी यदि हम अपनी समस्त सत्ता की उस सत्ता के प्रति अधीनता स्वीकार कर लें जो पृथक् और सीमित करनेवाले

अहं से उच्चतर है। यह एक ऐसी सर्वांगपूर्ण शक्तिमय सक्रियता को प्रस्थापित करती है जो प्रशांत निष्क्रियता पर आधारित हो। इसका रहस्य है–एक ऐसा बृहत्तम कर्म जो अचल शांति के आधार पर दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो अर्थात् परम अंतरीय निश्चल-नीरवता की एक स्वच्छंद अभिव्यक्ति हो।

यह संसार वास्तव में एक एवं अखंड, नित्य, विश्वातीत और विश्वमय ब्रह्म है जो विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों में विभिन्न प्रतीत होता है। पर वह केवल प्रतीति में ही ऐसा है, क्योंकि वास्तव में वह सदा सभी पदार्थों और प्राणियों में एक तथा 'सम' है और भिन्नता तो केवल ऊपरी वस्तु है। जब तक हम अज्ञानमयी प्रतीति में रहते हैं तब तक हम 'अहं' हैं और प्रकृति के गुणों के अधीन रहते हैं। बाह्य आकारों के दास बने हुए, द्वंद्वों से बंधे हुए और शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य एवं जय-पराजय के बीच ठोकरें खाते हुए हम लाचार माया के पहिये के लोहमय या स्वर्ण-लोहमय घेरे पर चक्कर काटते रहते हैं। सबसे अच्छी अवस्था में भी हमारी स्वतंत्रता अत्यंत तुच्छ और सापेक्ष ही होती है और उसी को हम अज्ञानपूर्वक अपनी स्वतंत्र इच्छा कहते हैं। पर मूलतः वह मिथ्या होती है, क्योंकि प्रकृति के गुण ही हमारी व्यक्तिगत इच्छा में से अपने आपको व्यक्त करते हैं; प्रकृति की शक्ति ही हमें ज्ञानपूर्वक वश में रखती हुई, पर हमारी समझ और पकड़ से बाहर रहकर यह निर्धारित करती है कि हम क्या इच्छा करेंगे और वह इच्छा किस प्रकार करेंगे। हमारा स्वतंत्र अहं नहीं बल्कि प्रकृति यह चुनाव करती है कि अपने जीवन की किसी घड़ी में हम एक युक्तियुक्त संकल्प या विचाररहित आवेग के द्वारा किस पदार्थ की अभिलाषा करेंगे। इसके विपरीत, यदि हम ब्रह्म की एकीकारक वास्तविक सत्ता में निवास करते हैं तो हम अहं से ऊपर उठकर विश्वप्रकृति को लांघ जाते हैं। तब हम अपनी सच्ची अन्तरात्मा को पुनः प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा बन जाते हैं। आत्मा में हम प्रकृति की प्रेरणा से ऊपर और उसके गुणों एवं शक्तियों से उत्कृष्ट होते हैं। अंतरात्मा, मन और हृदय में पूर्ण समता प्राप्त करके हम अपनी उस सच्ची आत्मा को, जो स्वभाव से ही एकत्व-धर्मवाली है, अनुभव कर लेते हैं। हमारी यह सच्ची आत्मा सभी सत्ताओं के साथ एकीभूत है। यह उस सत्ता के साथ भी एकीभूत है जो अपने आपको इन सब सत्ताओं में तथा उस सबमें प्रकट करती है जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं। यह समता और एकता एक अनिवार्य दोहरी नींव है जो हमें भागवत सत्ता, भागवत चेतना और भागवत कर्म के लिये स्थापित करनी होगी। यदि हम सबके साथ एकाकार नहीं हैं तो आध्यात्मिक दृष्टि से हम दिव्य नहीं हैं। सब वस्तुओं, घटनाओं और प्राणियों के प्रति आत्मिक समता रखे बिना हम दूसरों को आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं देख सकते, न हम उन्हें दिव्य ढंग से जान सकते हैं और न उनके प्रति दिव्य ढंग से सहानुभूति ही रख सकते हैं। परा शक्ति एवं एकमेव नित्य और अनंत देव सब पदार्थों और सब प्राणियों के प्रति 'सम' है, और क्योंकि वह 'सम' है, वह अपने कर्मों और अपनी शक्ति के सत्य के अनुसार और प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी के सत्य के अनुसार पूर्ण ज्ञानपूर्वक कार्य कर सकता है।

अपिच, मनुष्य को जो सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है वह केवल यही है। यह एक ऐसी स्वतंत्रता है जिसे वह तब तक नहीं प्राप्त कर सकता जब तक वह अपनी मानसिक पृथक्ता से ऊपर नहीं उठता और विश्वप्रकृति में एक चिन्मय आत्मा नहीं बन जाता। भग-

वान् की इच्छा ही संसार में एकमात्र स्वतंत्र इच्छा है और इसी को प्रकृति कार्य-रूप में परिणत करती है; क्योंकि वह अन्य सभी इच्छाओं की स्वामिनी और स्रष्ट्री है। मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा एक अर्थ में सच्ची हो सकती है, परंतु प्रकृति के गुणों से संबंध रखनेवाली अन्य सभी चीजों की भांति, यह भी केवल सापेक्ष रूप में ही सत्य है। मन प्राकृतिक शक्तियों के भंवर पर सवार होता है, अनेक संभावनाओं के बीच एक स्थिति पर अपने को संतुलित कर लेता है, एक या दूसरी तरफ झुक जाता है, एक निश्चय कर लेता है और समझता है कि मैंने चुनाव किया है। परंतु यह उस शक्ति को नहीं देखता और न इसे उसका तनिक आभास ही होता है जिसने पीछे छिपे रहकर इसके चुनाव का निश्चय किया है। यह उसे देख भी नहीं सकता क्योंकि वह शक्ति एक ऐसी वस्तु है जो अखण्ड है और हमारी दृष्टि के लिये निर्विशेष है। मन तो अधिक से अधिक इस शक्ति के उन नानाविध और जटिल विशिष्ट निर्धारणों में से कुछ एक का पर्याप्त स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ विवेचनमात्र कर सकता है जिनके द्वारा यह शक्ति अपने अप्रमेय प्रयोजनों को सिद्ध करती है। स्वयं एकांगी होने से, मन हमारी सत्ता-रूपी मशीन के एक भाग पर सवार हो जाता है और काल एवं परिपार्श्व में इसकी जो चालक शक्तियां हैं उनके नौ दशमांश से तथा अपनी गत तैयारी एवं भावी दिशा से अनभिज्ञ ही रहता है। परंतु, क्योंकि यह सवार होता है, यह समझता है कि यह मशीन को चला रहा है। एक दृष्टि से इसका महत्त्व है: क्योंकि मन की वह स्पष्ट रुचि जिसे हम अपनी इच्छा कहते हैं और उस रुचि के संबंध में हमारा वह दृढ़ निश्चय जो हमारे सामने ऐच्छिक चुनाव के रूप में उपस्थित होता है, विश्वप्रकृति के अत्यंत शक्तिशाली निर्धारकों में से एक है; किंतु यह निश्चय कभी भी स्वतंत्र और सर्वेसर्वा नहीं होता। मानव इच्छा की इस क्षुद्र निमित्तमात्रता के पीछे कोई विराट्, शक्तिशाली और नित्य वस्तु है जो उसकी रुचि की दिशा की देखरेख करती है और उसकी इच्छा के किसी विशेष रुख को बल प्रदान करती है। प्रकृति में एक अखण्ड सत्य है जो हमारी वैयक्तिक रुचि से अधिक महान् है और इस अखण्ड सत्य में, या इसके परे और पीछे भी, कोई ऐसी चीज है जो सब परिणामों को निश्चित करती है। उसकी उपस्थिति और गुप्त ज्ञान प्रकृति की क्रियाप्रणाली के अंदर ठीक संबंधों, परिवर्तनशील या स्थिर आवश्यकताओं, गति के अनिवार्य सोपानों के एक सक्रिय और सहजप्राय बोध को स्थिर रूप से बनाये रखते हैं। एक निगूढ़ दिव्य इच्छाशक्ति है,–नित्य और अनंत, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्,–जो इन सब प्रत्यक्षतः-अनित्य और सांत, निश्चेतन या अर्धचेतन पदार्थों की समष्टि में तथा इनमेंसे प्रत्येक व्यष्टि में अपने को प्रकट करती है। यही वह शक्ति या उपस्थिति है जो गीता को अभिप्रेत है जब वह कहती है कि सब जीवों के हृद्देश में ईश्वर विराजमान है और वह प्राणिमात्र को प्रकृति की माया के द्वारा यंत्रारूढ़ की भांति चला रहा है।

यह दिव्य इच्छाशक्ति कोई विजातीय शक्ति या उपस्थिति नहीं है। इसका हमसे घनिष्ठ संबंध है और हम स्वयं इसके अंग हैं, क्योंकि यह हमारी अपनी उच्चतम आत्मा की ही चीज है और हमारी आत्मा ही इसे धारण करती है। हां, यह हमारी सचेतन मानसिक इच्छाशक्ति नहीं है। प्रत्युत, जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति स्वीकार करती है उसे यह प्रायः ही ठुकरा देती है और जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति ठुकरा देती है उसे भी प्रायः यह स्वीकार करती है। कारण, जहां यह गुप्त एकमेव इच्छाशक्ति सबको और प्रत्येक अखण्ड

वस्तु को तथा एक एक अंश को जानती है वहां हमारा स्थूल मन केवल वस्तुओं के एक छोटे से भाग को ही जानता है। हमारी इच्छाशक्ति मन के भीतर सचेतन है और जो कुछ भी यह जानती है विचार द्वारा ही जानती है। दिव्य इच्छाशक्ति हमारे लिये अति-चेतन है क्योंकि यह, सारतः, मनोऽतीत है; यह सब कुछ जानती है क्योंकि यह सब कुछ है। हमारी सर्वोच्च आत्मा जो इस वैश्व शक्ति की स्वामिनी और भर्त्री है हमारा अहं-रूप स्व नहीं है, न ही वह हमारी वैयक्तिक प्रकृति है। वह तो कोई परात्पर तथा विश्व-मय वस्तु है जिसकी ये क्षुद्रतर वस्तुएं फेनराशि और तरल तरंगेंमात्र हैं। यदि हम अपनी सचेतन इच्छा को अर्पित कर दें और इसे सनातन पुरुष की इच्छा के साथ एक हो जाने दें, तब और केवल तभी हम सच्चा स्वातंत्र्य प्राप्त कर सकते हैं। भागवत स्वातंत्र्य में निवास करते हुए हम उस निगड़ित तथाकथित स्वतंत्र-इच्छा से तब और नहीं चिमटे रहेंगे जो कठपुतली की सी एवं अज्ञ, मिथ्या तथा सापेक्ष है और अपने ही न्यूनतापूर्ण प्राणिक प्रेरक भावों एवं मानसिक आकारों की भ्रांति से बद्ध है।

*

एक विभेद को, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, हमें अपनी चेतना में दृढ़तया अंकित कर लेने की जरूरत है, वह है प्रकृति और पुरुष में विभेद, यांत्रिक प्रकृति और इसके स्वतंत्र स्वामी में, ईश्वर या एकमात्र ज्योतिर्मयी भागवती चिच्छक्ति और विश्व के अनेक कार्य-वाहक गुणों और शक्तियों में विभेद ।

प्रकृति,—जैसी कि यह हमें अज्ञान में प्रतीत होती है,—एक कार्यवाहक शक्ति है, जो यंत्र-वत् क्रिया करती है, यद्यपि इसका एक दिव्य सत्य रूप भी है जिसमें यह सनातन की चिन्मय शक्ति है। इसके विषय में हमें जो अनुभव होते हैं उनके अनुसार यह सचेतन रूप में बुद्धिशाली नहीं है, यद्यपि इसके सभी काम पूर्ण बुद्धि से प्रेरित होते हैं। अपने आप स्वा-मिनी न होती हुई भी, यह एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्ति[1] से पूर्ण है जो अपने अंदर अनंत प्रभुत्व को धारण किये हुए है और इस शक्ति के द्वारा परिचालित होने के कारण यह सबपर शासन करती है और ईश्वर इसके द्वारा जो कार्य करना चाहते हैं उसे यह ठीक ठीक संपन्न करती है। भोग न करती हुई पर भोगी जाती हुई, यह सब भोगों का भार अपने अंदर वहन करती है। प्रक्रिया-शक्ति के रूप में 'प्रकृति' एक यंत्रवत् कार्य करनेवाली सक्रिय शक्ति है क्योंकि यह अपने पर लादी हुई गति को पूरा करती है। परंतु इसके अंदर वह एकमेव है जो जानता है,—कोई सत्ता वहां विराज रही है जो इसकी समस्त क्रिया-प्रक्रिया से अभिज्ञ है। प्रकृति अपने साथ संयुक्त या अपने अंदर विराजमान पुरुष का ज्ञान, प्रभुत्व और आनंद धारण करती हुई कार्य करती है; परंतु यह इनमें भाग तभी ले सकती है यदि यह अपने अंदर व्याप्त उस पुरुष के अधीन रहकर उसे प्रतिबिंबित करे। पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और फिर भी स्थिर तथा निष्क्रिय है; वह प्रकृति के कार्य को अपनी चेतना और ज्ञान में धारण करता है और उसका उपभोग करता है। वह प्रकृति के कार्यों को अनुमति देता है और प्रकृति उससे अनुमत कार्यों को उसकी प्रसन्नता के लिये संपादित करती है। पुरुष अपनी अनुमति को अपने आप कार्यान्वित नहीं करता है; वह प्रकृति को

---

[1]यह शक्ति ईश्वर की चिन्मय दिव्य शक्ति है, परात्पर और विश्वगत जननी है।

उसके कार्य में आश्रय देता है और जो कुछ वह अपने ज्ञान में देखता है उसे शक्ति, प्रक्रिया एवं मूर्त्त परिणाम में प्रकट करने के लिये उसे अनुमति देता है। यह प्रकृति और पुरुष का सांख्यकृत विवेचन है। यद्यपि सारा वास्तविक सत्य यही नहीं है, यद्यपि यह किसी भी प्रकार पुरुष या प्रकृति का सर्वोच्च सत्य नहीं है फिर भी यह सत्ता के अपरार्ध में एक प्रामाणिक तथा अपरिहार्य क्रियात्मक ज्ञान है।

किसी भी पिंड में विद्यमान व्यष्टिरूप आत्मा या चेतन सत् इस अनुभवग्राही पुरुष के साथ या इस क्रियाशील प्रकृति के साथ तदाकार हो सकता है। यदि वह अपने आपको प्रकृति के साथ तदाकार करता है तो वह स्वामी, भोक्ता और ज्ञाता नहीं होता, बल्कि प्रकृति के गुणों और व्यापारों को प्रतिबिंबित करता है। अपनी इस तदाकारता से वह उस दासता और यांत्रिक क्रियाप्रणाली में भाग लेता है जो इस प्रकृति का अपना विशेष धर्म है। यहां तक कि प्रकृति में पूर्णतया लीन होकर यह आत्मा अचेतन या अवचेतन बन जाती है, यह प्रकृति के स्थूल रूपों में पूर्ण रूप से प्रसुप्त हो रहती है जैसे मिट्टी और धातु में, या लगभग प्रसुप्त हो रहती है जैसे उद्‌भिज जीवन में। वहां, उस अचेतना में, यह तमस् अर्थात् अंधता और जड़ता के तत्त्व, शक्ति या गुण की प्रबलता के अधीन होती है। सत्त्व और रज भी वहां अवश्य होते हैं, पर वे तम के घने आवरण में छिपे रहते हैं। देहधारी जीव जब अपनी विशेष प्रकार की चेतना में उदित हो रहा होता है, किंतु अभी प्रकृति में तम की अत्यधिक प्रबलता के कारण सच्चे अर्थों में चेतन नहीं होता, तब वह उत्तरोत्तर रजस् के अधीन होता जाता है। रजस् कामना तथा अंध प्रेरणा से प्रेरित कर्म और आवेश का तत्त्व, शक्ति, गुण या अवस्था है। इस अवस्था में एक प्रकार की पाशविक प्रकृति गठित और विकसित होती है जिसकी चेतना संकीर्ण, बुद्धि असंस्कृत तथा प्राणिक अभ्यास और आवेग राजस-तामसिक होते हैं। महत् अचेतना से आध्यात्मिक स्तर की ओर और भी अधिक उदित होकर देहधारी पुरुष सत्त्व को, अर्थात् प्रकाश के गुण को, उन्मुक्त करता है और एक प्रकार का ज्ञान, स्वामित्व तथा सापेक्ष स्वातंत्र्य प्राप्त करता है और इसके साथ साथ आंतरिक संतोष और सुख का परिच्छिन्न तथा मर्यादित अनुभव भी। मनुष्य की अर्थात् स्थूल देह में रहनेवाले मनोमय पुरुष की प्रकृति ऐसी ही होनी चाहिये, परंतु इन कोटि कोटि देहधारी जीवों में से कुछ एक को छोड़कर किसी की भी प्रकृति ऐसी नहीं होती है। साधारणतः उसमें अंध पार्थिव जड़ता और विक्षुब्ध अज्ञ पाशव जीवन-शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह प्रकाशमय और आनंदमय आत्मा नहीं बन सकता, न वह समस्वर संकल्प और ज्ञान से युक्त मन ही बन सकता है। हम देखते हैं कि स्वतंत्र, स्वामी, ज्ञाता और भोक्ता पुरुष के सच्चे स्वभाव की ओर मनुष्य का आरोहण अभी यहां पूर्ण नहीं हुआ है, अभी तक यह विघ्न-बाधा और विफलता से ही आक्रांत है। कारण, मानवीय और पार्थिव अनुभव में ये सत्त्व, रज और तम सापेक्ष गुण हैं; इनमेंसे किसी का भी ऐकान्तिक और पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। सब एक दूसरे से मिले हुए हैं और इनमेंसे किसी एक की भी शुद्ध क्रिया कहीं नहीं है। इनकी अस्तव्यस्त और अनिश्चित परस्पर-क्रिया ही अहम्मन्य मानव चेतना के अनुभवों को निर्धारित करती है और इस प्रकार वह चेतना प्रकृति के एक अस्थिर संतुलन के झूले में झूलती रहती है।

देहधारी आत्मा के प्रकृति में लीन होने का चिह्न यह होता है कि उसकी चेतना अहं

के घेरे में ही सीमित रहती है। इस सीमित चेतना की स्पष्ट छाप मन और हृदय की सतत असमता में और अनुभव के स्पर्शों के प्रति उनकी अनेकविध प्रतिक्रियाओं के बीच अस्तव्यस्त संघर्ष और असामंजस्य में बराबर ही देखी जा सकती है। मानवीय प्रतिक्रियाएं लगातार द्वंद्वों में चक्कर काटती रहती हैं। द्वंद्व इस कारण पैदा होते हैं कि आत्मा प्रकृति के अधीन है और प्रभुत्व तथा उपभोग के लिये प्रायः ही एक तीव्र पर ओछा संघर्ष करती रहती है। परंतु वह संघर्ष अधिकांश में निष्फल जाता है और आत्मा प्रकृति के प्रलोभक तथा दुःखमय विरोधी द्वंद्वों,—सफलता और विफलता, सौभाग्य और दुर्भाग्य, शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, हर्ष और शोक तथा सुख और दुःख के अंतहीन घेरे में चक्कर काटती रहती है। प्रकृति के अंदर ग्रस्त रहने की इस अवस्था से जागकर जब यह एकमेव और भूतमात्र के साथ अपनी एकता अनुभव करती है तभी यह इन द्वंद्वों से मुक्त होकर कर्त्री जगत्-प्रकृति से अपना ठीक संबंध स्थापित कर सकती है। तब यह उसके हीनतर गुणों के प्रति तटस्थ, उसके द्वंद्वों के प्रति समचित्त और स्वामित्व तथा स्वातंत्र्य के योग्य हो जाती है। अपनी ही नित्य सत्ता के प्रशांत, प्रगाढ़ एवं अमिश्रित आनंद से परिपूर्ण, उच्च सिंहासनाधिरूढ़ ज्ञाता और साक्षी के रूप में यह प्रकृति से ऊर्ध्व में आसीन (उदासीन) रहती है। देहधारी आत्मा अपनी शक्तियों को कर्म में प्रकट करना जारी रखती है, किंतु यह अज्ञान में अब और ग्रस्त नहीं रहती, न ही अपने कर्मों से बद्ध होती है। इसके कर्मों का इसके भीतर अब कोई परिणाम उत्पन्न नहीं होता बल्कि केवल बाहर प्रकृति में ही परिणाम उत्पन्न होता है। प्रकृति की संपूर्ण गति इसे ऊपरी सतह पर तरंगों का उठना और गिरनामात्र प्रतीत होती है। इन तरंगों से इसकी अगाध शांति एवं विशाल आनंद में और इसकी बृहत् विश्वव्यापिनी समता या निःसीम ईश्वर-भाव में किंचित् भी अंतर नहीं पड़ता।[1]

★

हमारे प्रयत्न की प्रतिज्ञाएं निम्नलिखित हैं और वे एक ऐसे आदर्श का निर्देश करती हैं जो आदर्श अधोलिखित सूत्रों में या इनके समानार्थक सूत्रों में प्रकट किया जा सकता है—

ईश्वर में निवास करना, अहं में नहीं। एक बृहत् आधार पर प्रतिष्ठित होकर कार्य-व्यापार करना,—क्षुद्र अहम्मन्य चेतना पर प्रतिष्ठित होकर नहीं, बल्कि विश्व-आत्मा और विश्वातीत परम देव की चेतना पर प्रतिष्ठित होकर कार्य-व्यापार करना।

सभी घटनाओं में और सभी सत्ताओं के प्रति पूर्णतया सम होना और उन्हें इस रूप में देखना तथा अनुभव करना कि वे अपने साथ और भगवान् के साथ एक हैं। सभी को अपने

---

[1]यह आवश्यक नहीं कि कर्मयोग के लिये हमें गीता का संपूर्ण दर्शन निर्विवाद स्वीकार करना चाहिये। हम चाहें तो इसे यूं मान सकते हैं कि यह एक मनोवैज्ञानिक अनुभव का वर्णन है जो योग की व्यावहारिक भित्ति के रूप में उपयोगी है। इस क्षेत्र में यह पूर्णतः युक्तियुक्त है और ऊंचे तथा विस्तृत अनुभव से पूरी तरह संगत भी। इस कारण मैंने यह उचित समझा है कि इसे यहां यथासंभव आधुनिक चिंतन की भाषा में प्रतिपादित कर दूं। जो कुछ मनोविज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक वैश्व-सत्ता-विषयक दर्शन से संबंध रखता है वह सब मैंने छोड़ दिया है।

में और सभी को ईश्वर में अनुभव करना; ईश्वर को सबमें तथा अपने आपको सबमें अनुभव करना।

ईश्वर में निवास करते हुए कर्म करना, अहं में नहीं। यहां सबसे पहली बात यह है कि कर्म का चुनाव व्यक्तिगत आवश्यकताओं और मानदंडों के विचार से नहीं बल्कि ऊर्ध्व-स्थित सजीव सर्वोच्च सत्य के आदेश के अनुसार करना। इसके बाद, ज्यों ही हम आध्यात्मिक चेतना में काफी हद तक प्रतिष्ठित हो जायं, त्यों ही अपनी पृथक् इच्छाशक्ति या चेष्टा से कर्म करना छोड़ देना, वरंच अपने से अतीत भागवत संकल्प की प्रेरणा और पथप्रदर्शन की छाया में कर्म को उत्तरोत्तर होने और बढ़ने देना। अंत में, चरम फल-स्वरूप, उस उच्च अवस्था में उठ जाना जिसमें हमें भागवत शक्ति के साथ ज्ञान तथा शक्ति, चेतना, कर्म और सत्ता-के-आनंद में तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही एक ऐसी प्रबल क्रियाशीलता अनुभव करना जो मर्त्य कामना, प्राणिक अंध-प्रेरणा, आवेग और मायामय मानसिक स्वतंत्र इच्छा के वशीभूत न हो, प्रत्युत अमर आत्म-आनंद और अनंत आत्म-ज्ञान में ज्योतिष्मान् रूप से धारित और विकसित हो। यही वह सक्रियता है जो प्राकृतिक मनुष्य को, सचेतन रूप में, दिव्य आत्मा और सनातन आत्मा के अधीन और उसमें निमज्जित कर देने से प्रवाहित होती है। आत्मा ही वह सत्ता है जो सदा से इस जगत्-प्रकृति के परे है और इसे संचालित करती है।

★

परंतु आत्म-साधना के किन क्रियात्मक उपायों से हम यह सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं?

स्पष्ट है कि समस्त अहम्मूलक क्रिया और उसकी नींव अहम्मय चेतना को बहिष्कृत करना ही हमारी अभीष्ट सिद्धि का उपाय है। और क्योंकि कर्मयोग के पथ में कर्म ही सबसे पहले खोलने योग्य ग्रंथि है, हमें इसे वहां से खोलने का प्रयत्न करना होगा जहां यह मुख्य रूप से बंधी हुई है, अर्थात् कामना में और अहंभाव में। अन्यथा हम केवल कुछ एक बिखरे धागे ही काटेंगे न कि अपने बंधन का मर्मस्थल। इस अज्ञानमय एवं विभक्त प्रकृति के प्रति हमारी अधीनता की यही दो ग्रंथियां हैं—कामना और अहंभाव। इन दो में से कामना की अपनी जन्मभूमि है भाव, संवेदन और अंध-प्रेरणाएं, वहीं से यह विचारों और इच्छाशक्ति पर अपना प्रभाव डालती है। अहंभाव इन चेष्टाओं में तो रहता ही है, पर साथ ही यह चिंतनात्मक मन और उसकी इच्छाशक्ति में भी अपनी गहरी जड़ें फैलाता है और वहीं वह पूर्णतः आत्म-सचेतन भी होता है। भूत की तरह बसेरा डाले हुई जगद्व्यापिनी अविद्या की ये ही युगल अंधकारमय शक्तियां हैं जिनमें हमें प्रकाश पहुंचाना है और जिनसे हमें छुटकारा प्राप्त करना है।

कर्म के क्षेत्र में कामना अनेक रूप धारण करती है। उनमें सबसे अधिक प्रबल रूप है अपने कर्मों के फल के लिये प्राणमय पुरुष की लालसा या उत्कण्ठा। जिस फल की हम लालसा करते हैं वह आंतरिक सुखरूपी पुरस्कार हो सकता है; वह किसी अभिमत विचार या किसी प्रिय संकल्प की पूर्त्ति या अहंकारमय भावों की तृप्ति, या अपनी उच्चतम आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की सफलता का गौरवरूपी पुरस्कार हो सकता है। अथवा वह एक बाह्य पारितोषिक हो सकता है, अर्थात् एक ऐसा प्रतिफल जो सर्वथा स्थूल हो, जैसे, धन, पद, प्रतिष्ठा, विजय, सौभाग्य अथवा प्राणिक या शारीरिक कामना की किसी और प्रकार

की तृप्ति। परंतु ये सब समान रूप से कुछ ऐसे फंदे हैं जिनके द्वारा अहंभाव हमें बांधता है। सदा ही ये सुख-संतोष हमारे अंदर यह भाव और विचार पैदा करके कि हम स्वामी और स्वतंत्र हैं, हमें छला करते हैं, जब कि वास्तव में अन्ध 'कामना' की कोई स्थूल या सूक्ष्म, भली या बुरी मूर्त्ति ही, जो जगत् को प्रचालित करती है, हमें जोतती और चलाती है अथवा हमपर सवार होती और हमें कोड़े लगाती है। इसी लिये गीता ने कर्म का जो सबसे पहला नियम बताया है वह है फल की किसी भी प्रकार की कामना के बिना कर्तव्य कर्म करना, अर्थात् निष्काम कर्म करना।

देखने में तो यह नियम आसान है, फिर भी इसे एक प्रकार की पूर्ण सद्हृदयता और स्वतंत्रकारी समग्रता के साथ निभाना कितना कठिन है! अपने काम के अधिक बड़े भाग में यदि हम इस सिद्धांत का प्रयोग करते भी हैं तो बहुत कम, और तब भी प्रायः कामना के सामान्य नियम को एक प्रकार से संतुलित करने और इस क्रूर आवेग की अतिशयित क्रिया को कम करने के लिये ही करते हैं। अधिक से अधिक हम इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि हम अपने अहंभाव को संयत और संशोधित कर लें जिससे वह हमारी नैतिक भावना को बहुत अधिक ठेस लगाने और दूसरों को अत्यंत निर्दयतापूर्वक पीड़ा पहुंचानेवाला न रहे। और अपनी इस आंशिक आत्म-साधना को हम अनेक नाम और रूप देते हैं; अभ्यास के द्वारा हम कर्तव्य-भावना, दृढ़ सिद्धांत-निष्ठा, वैराग्यपूर्ण सहिष्णुता या धार्मिक समर्पण और ईश्वरेच्छा के प्रति एक शांत या आनंदपूर्ण निर्भरता का स्वभाव बना लेते हैं। परंतु गीता का आशय इन चीजों से नहीं है, यद्यपि ये अपने अपने स्थान में उपयोगी अवश्य हैं। इसका लक्ष्य है एक चरम-परम, पूर्ण एवं दृढ़-स्थिर अवस्था, एक ऐसी प्रवृत्ति और भावना जो आत्मा का संपूर्ण संतुलन ही बदल डालेगी। प्राणिक आवेग का मन द्वारा निग्रह करना नहीं बल्कि अमर आत्मा की दृढ़ अविचल स्थिति ही इसका नियम है।

इसके लिये वह जिस कसौटी का उल्लेख करती है वह है मन और हृदय की पूर्ण समता —सभी परिणामों के प्रति, सभी प्रतिक्रियाओं के प्रति, सभी घटनाओं के प्रति। यदि सौभाग्य और दुर्भाग्य, मान और अपमान, यश और अपयश, जय और पराजय, प्रिय घटना और अप्रिय घटना आवें और चली जावें पर हम उनसे चलायमान न हों, इतना ही नहीं वरन् वे हमें छू तक न सकें और हम भावों, स्नायविक प्रतिक्रियाओं एवं मानसिक दृष्टि में स्वतंत्र बने रहें, प्रकृति के किसी भी भाग में जरा सी भी चंचलता या हलचल के साथ प्रत्युत्तर न दें, तभी समझना चाहिये कि हमें वह पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है जिसकी ओर गीता निर्देश करती है, अन्यथा नहीं। छोटी से छोटी प्रतिक्रिया भी इस बात का प्रमाण होती है कि हमारी साधना अभी अपूर्ण है, हमारी सत्ता का कोई भाग अज्ञान और बंधन को अपना नियम स्वीकार करता है और अभी तक भी पुरानी प्रकृति से चिपटा हुआ है। हमारी आत्म-विजय कुछ ही अंश में सिद्ध हुई है; यह हमारी प्रकृतिरूपी भूमि की कुछ लंबाई में या किसी हिस्से में या किसी छोटे से चप्पे में अभी तक अपूर्ण या अवास्तविक है। अथच अपूर्णता का वह जरा सा कंकड़ योग के संपूर्ण भवन को भूमसात् कर सकता है!

सम आत्म-भाव से मिलती-जुलती और अवस्थाएं भी होती हैं जिन्हें गीता की गभीर और बृहत् आध्यात्मिक समता समझ बैठने की भूल नहीं करनी चाहिये। निराशाजनित त्याग की भी एक समता होती है और अभिमान की तथा कठोरता एवं तटस्थता की भी समता होती

है। ये सब अपनी प्रकृति में अहंभावमय होती हैं। साधना-पथ में ये आया ही करती हैं, किंतु इन्हें त्याग देना होगा अथवा इन्हें वास्तविक शम में रूपांतरित कर देना होगा। इनसे और अधिक ऊंचे स्तर पर तितिक्षावादी (stoic) की समता, धार्मिक-वृत्तिमय त्याग की या साधु-संतों की सी अनासक्ति की समता, तथा जगत् से किनारा खींचकर उसके कर्मों से तटस्थ रहनेवाली आत्मा की समता भी होती हैं। ये भी पर्याप्त नहीं हैं; ये प्रारंभिक प्रवेश-पथ हो सकती हैं किंतु आत्मा के वास्तविक और पूर्ण स्वतःसत् विशाल सम-एकत्व में हमारे प्रवेश के लिये ये प्रारंभिक आत्म-अवस्थाएं ही होती हैं अथवा ये अपूर्ण मानसिक तैयारियों से अधिक कुछ नहीं होतीं।

यह निश्चित ही है कि इतने बड़े परिणाम पर हम बिना किन्हीं प्रारंभिक अवस्थाओं के तुरंत ही नहीं पहुंच सकते। सबसे पहले हमें संसार के आघातों को इस प्रकार सहना सीखना होगा कि हमारी सत्ता का केंद्रीय भाग उनसे अछूता और शांत रहे, भले ही हमारा स्थूल मन, हृदय और प्राण खूब जोर से डगमगा जायं। अपने जीवन की चट्टान पर अविचल खड़े रहकर, हमें अपनी आत्मा को विलग कर लेना होगा ताकि वह हमारी प्रकृति के इन बाह्य व्यापारों का पीछे से निरीक्षण करती रहे या अंदर बहुत गहरे स्थित होकर इनकी पहुंच से परे रहे। इसके बाद, निर्लिप्त आत्मा की इस शांति और स्थिरता को इसके करणों तक फैलाकर, शांति की किरणों को प्रकाशमय केंद्र से अधिक अंधकारमय परिधि तक शनैः शनैः प्रसारित करना संभव हो जायगा। इस प्रक्रिया में हम बहुत सी गौण अवस्थाओं की क्षणिक सहायता ले सकते हैं, किसी प्रकार का तितिक्षा का अभ्यास (stoicism), कोई शांतिप्रद दर्शन, किसी प्रकार का धार्मिक भावातिरेक हमें अपने लक्ष्य के किंचित् निकट पहुंचाने में सहायक हो सकते हैं। अथवा हम अपनी मानसिक प्रकृति की कम प्रबल एवं उन्नत किंतु उपयोगी शक्तियों को भी सहायता के लिये पुकार सकते हैं। परंतु अंत में हमें इनका त्याग या रूपांतर करके इनके स्थान पर पूर्ण आंतरिक समता और स्वतःसत् शांति, यहां तक कि, यदि संभव हो तो, अपने सभी अंगों में एक अखण्ड, अक्षय, आत्म-संस्थित और स्वाभाविक आनंद प्राप्त करना होगा।

किंतु तब हम काम करना ही कैसे जारी रख सकेंगे? क्योंकि साधारणतया मानव प्राणी काम इसलिये करता है कि उसे कोई कामना होती है अथवा वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक अभाव या आवश्यकता अनुभव करता है। वह या तो शरीर की आवश्यकताओं से परिचालित होता है या धन-संपत्ति, एवं मान-प्रतिष्ठा की तृष्णा से, अथवा मन या हृदय की व्यक्तिगत संतुष्टि की लालसा किंवा शक्ति या सुख की अभिलाषा से। अथवा वह किसी नैतिक आवश्यकता के वशीभूत होकर उसी से इधर-उधर प्रेरित होता है, या कम से कम इस आवश्यकता या कामना से प्रेरित होता है कि वह अपने विचारों या अपने आदर्शों या अपने संकल्प या अपने दल या अपने देश या अपने देवताओं का संसार में प्रभुत्व स्थापित करे। यदि इनमेंसे कोई भी कामना अथवा अन्य कोई भी कामना हमारे कार्य की परिचालिका नहीं होनी चाहिये तो ऐसा प्रतीत होगा मानों समस्त प्रवर्तक कारण या प्रेरकशक्ति ही हटा ली गई है और तब स्वयं कर्म भी अनिवार्य रूप से बंद हो जाना चाहिये। गीता दिव्य जीवन का अपना तीसरा महान् रहस्य खोलकर इस शंका का उत्तर देती है। एक अधिकाधिक ईश्वराभिमुख और अंततः ईश्वर-अधिकृत चेतना में रहते हुए समस्त कर्म करने ही

होंगे; अवश्य ही हमारे कर्म भगवान् के प्रति यज्ञ-रूप होने चाहियें, और अंत में हमारी संपूर्ण सत्ता का,–मन, संकल्प-शक्ति, हृदय, इन्द्रिय, प्राण और शरीर, सबका–एकमेव के प्रति समर्पण-रूप होने चाहियें। हमें ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-सेवा को ही अपना एकमात्र प्रेरक भाव बनाना होगा। निःसंदेह, प्रेरक शक्ति का और कर्मों के स्वरूप तक का यह रूपांतर ही गीता का प्रधान विचार है। कर्म, प्रेम और ज्ञान के गीताकृत अद्वितीय समन्वय का यही आधार है। अंत में, कामना नहीं बल्कि सनातन की प्रत्यक्षतः अनुभूत इच्छा ही हमारे कर्म की एकमात्र परिचालिका और इसके आरंभ का एकमात्र उद्गम रह जाती है।

समता, अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का त्याग, अपनी प्रकृति और समष्टि-प्रकृति के परम प्रभु के प्रति यज्ञ-रूप में कर्म करना,–यही गीता की कर्मयोग-प्रणाली में ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रधान साधन हैं।

चौथा अध्याय

यज्ञ, त्रिदल पथ और यज्ञ के अधीश्वर

यज्ञ के विधान का अभिप्राय है वह सार्वजनीन दिव्य कर्म जो इस सृष्टि के आदि में लोकसंग्रह के प्रतीक के रूप में प्रकट हुआ था। इसी विधान के आकर्षण से एक दिव्यीकारक एवं रक्षक शक्ति इस अहम्मय और विभक्त सृष्टि की भूलों को सीमित, संशोधित और शनैः शनैः अपसारित करने के लिये अवतरित होती है। यह अवतरण, अथवा पुरुष या भागवत आत्मा का यह यज्ञ,–जिसके द्वारा वह अपने आपको शक्ति और जड़प्रकृति के अधीन कर देता है ताकि वह इन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके,–निश्चेतना और अविद्या के इस संसार की रक्षा का बीज है। कारण, गीता कहती है कि "यज्ञ को इन प्रजाओं का साथी बनाकर प्रजापति ने इन्हें उत्पन्न किया।"[1] यज्ञ के विधान को स्वीकार करना अहं का इस बात को क्रियात्मक रूप से अंगीकार करना है कि इस संसार में वह न तो अकेला है और न मुख्य ही है। यह उसका इस बात को मान लेना है कि, इस अत्यंत खंडित सत्ता में भी, उसके परे और पीछे कोई ऐसी वस्तु है जो उसका अपना अहंमय व्यक्तित्व नहीं है, कोई ऐसी वस्तु है जो उससे महत्तर और पूर्णतर है, एक दिव्यतर सर्वमय सत्ता है जो उससे दास्य और सेवा की मांग करती है। निःसंदेह, विराट् विश्व-शक्ति यज्ञ को हमारे ऊपर थोपती है और, जहां आवश्यकता हो, वहां वह हमें इसके लिये बाध्य भी करती है। जो इस विधान को सचेतन रूप में स्वीकार नहीं करते उनसे भी यह यज्ञ का भाग ले लेती है,–और यह अनिवार्य ही है क्योंकि यह जगत् का अंतरीय स्वभाव है। हमारे अज्ञान या हमारी मिथ्या अहम्मूलक जीवन-दृष्टि से प्रकृति के इस शाश्वत आधारभूत सत्य में कोई अंतर नहीं पड़ सकता। कारण, यह प्रकृति का एक अंतर्निहित सत्य है कि यह अहं जो अपने को एक पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ता समझता

[1]सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। गीता ३–१०

है और स्वयं अपने लिये जीने का अपना अधिकार जताता है, स्वतंत्र नहीं है और हो भी नहीं सकता, न ही यह दूसरों से पृथक् है और न हो ही सकता है। यदि यह चाहे भी, तो भी यह केवल अपने लिये ही नहीं जी सकता, बल्कि सच पूछो तो सभी अहं एक निगूढ़ एकता के द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। प्रत्येक सत्ता विवश होकर अपने भंडार में से लगातार कुछ न कुछ वितरण कर रही है। प्रकृति से प्राप्त उसकी मानसिक आय में से या उसकी प्राणिक और शारीरिक संपत्ति, उपलब्धि और निधि में से एक धारा उस सबकी ओर बहती रहती है जो उसके चारों ओर है। और फिर वह अपनी ऐच्छिक या अनैच्छिक भेंट के बदले में अपने परिपार्श्व से सदैव कुछ न कुछ प्राप्त भी करती है। अपने इस आदान-प्रदान से ही यह अपना विकास संपन्न कर सकती है और साथ ही इससे यह समष्टि को भी सहायता देती है। इस प्रकार प्रारंभ में थोड़ा थोड़ा और अपूर्ण रूप में यज्ञ करते हुए दीर्घकाल के बाद हम सचेतन रूप से यज्ञ करना सीख जाते हैं। यहां तक कि अंत में हम अपने आपको तथा उन सब चीजों को, जिन्हें हम अपनी समझते हैं, प्रेम और भक्तिभाव के साथ 'उस' को दे देने में आनन्द अनुभव करते हैं, चाहे 'वह' हमें आपाततः अपने से भिन्न प्रतीत होता है और हमारे सीमित व्यक्तित्वों से तो निश्चय ही भिन्न है। यज्ञ एवं उसका दिव्य प्रतिफल तब हमारी अंतिम पूर्णता का साधन बन जाते हैं जिसे हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; क्योंकि अब हम इसे अपने अंदर सनातन प्रयोजन की परिपूर्त्ति का मार्ग समझने लगते हैं।

परंतु बहुधा यज्ञ अचेतन रूप से, अहंभावपूर्वक और महान् सार्वभौम विधान के सच्चे अर्थ के ज्ञान या स्वीकृति के बिना ही किया जाता है। पृथ्वीतल के अधिकांश प्राणी इसे इसी प्रकार करते हैं; और जब यह इस प्रकार किया जाता है तब व्यक्ति इसके प्राकृतिक अवश्यंभावी लाभ की एक यांत्रिक न्यूनतम मात्रा ही प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह धीमे धीमे और कठिनाई से प्रगति करता है और वह प्रगति अहं की क्षुद्रता तथा यातना से सीमित एवं पीड़ित होती है। दिव्य यज्ञ का गंभीर आनंद और मंगलमय फल तो तभी उपलब्ध हो सकते हैं जब हृदय, संकल्प और ज्ञानात्मक मन अपने आपको इस विधान से संबद्ध करके इसका हर्षपूर्वक अनुसरण करें। इस विधान के संबंध में मन के ज्ञान तथा हृदय की प्रसन्नता की पराकाष्ठा इस अनुभव में होती है कि हम उत्सर्ग जो करते हैं वह अपनी ही आत्मा और आत्मतत्त्व तथा सबकी एकमेव आत्मा और आत्मतत्त्व के प्रति ही करते हैं। और यह बात तब भी सत्य होती है जब कि हम अपनी आत्माहुति परम देव के प्रति नहीं बल्कि मनुष्यों या क्षुद्रतर शक्तियों और तत्त्वों के प्रति अर्पित कर रहे होते हैं। याज्ञवल्क्य उपनिषद् में कहते हैं, "पत्नी हमें पत्नी के लिये नहीं बल्कि आत्मा के लिये प्यारी होती है।" इसे व्यष्टिगत अहं के निम्नतर अर्थ में लिया जाय तो भी यह एक ऐसा निर्विवाद सत्य है जो अहंमूलक प्रेम के रंजित एवं आवेशयुक्त दावों के पीछे छिपा रहता है। परंतु उच्चतर अर्थ में यह उस प्रेम का भी आंतरिक आशय है जो अहंभावमय नहीं बल्कि दिव्य होता है। समस्त सच्चा प्रेम एवं समस्त यज्ञ, वास्तव में, एक मूलगत अहंभाव और उसकी विभाजनात्मक भ्रांति का प्रकृति द्वारा किया गया विरोध ही है; यह एक आवश्यक प्रथम विभाजन से एकत्व की पुनरुपलब्धि की ओर मुड़ने का उसका प्रयत्न है। प्राणियों की समस्त एकता वास्तव में एक आत्म-गवेषणा है, यह उसके साथ मिलन है जिससे हम पृथक् हो चुके हैं और

साथ ही दूसरों में अपनी आत्मा की उपलब्धि है।

परंतु एक दिव्य प्रेम और एकत्व ही उस वस्तु को प्रकाश में आयत्त कर सकते हैं जिसे इन चीजों के मानवीय रूप अंधकार में खोज रहे हैं। कारण, सच्चा एकत्व केवल उस प्रकार का संगठन और राशिकरण ही नहीं होता जिस प्रकार का समान हितोंवाले जीवन के द्वारा जुड़े हुए भौतिक कोषाणुओं का होता है, न यह भावों का सामंजस्य किंवा सहानुभूति, सामाजिकता या निकट संसर्ग ही होता है। जो हमसे प्रकृतिजनित भेदों के कारण अलग हुए हुए हैं उनसे हम वास्तव में एकीभूत केवल तभी हो सकते हैं जब हम भेद को मिटाकर अपने को उसमें प्राप्त कर लें जो हमें 'अपना आप' नहीं प्रतीत होता। संगठन प्राणिक और भौतिक एकता है; इसका यज्ञ पारस्परिक सहायता और सुविधाओं का यज्ञ है। निकटता, सहानुभूति और सामाजिकता मानसिक, नैतिक और भावुक एकता को जन्म देती हैं; इनका यज्ञ पारस्परिक सहायता और पारस्परिक लाभ का यज्ञ है। परंतु सच्ची एकता तो केवल आध्यात्मिक एकता ही होती है; इसका यज्ञ पारस्परिक आत्मदान और हमारी आंतरिक सत्ताओं का परस्पर-मिलन होता है। यज्ञ का विधान विश्वप्रकृति में इस पूर्ण और निःशेष आत्मदान की पराकाष्ठा की ओर ही गति करता है। यह इस चेतना को जागृत करता है कि यजनकर्ता में और यज्ञ के ध्येय में एक ही सार्वभौम आत्मा है। यज्ञ की यह पराकाष्ठा मानवीय प्रेम एवं भक्ति की भी सर्वोच्च अवस्था होती है जब कि वह दिव्य बनने के लिये प्रयत्न करती है। कारण, प्रेम की सबसे ऊंची चोटी भी पूर्ण पारस्परिक आत्म-दान के द्यौ की ओर इंगित करती है, इसका सर्वोच्च शिखर भी दो आत्माओं का उल्लास के साथ घुल-मिलकर एक हो जाना ही है।

विश्वव्यापी विधान का यह गभीरतर विचार गीता की कर्मसंबंधी शिक्षा का मर्म है; यज्ञ के द्वारा सर्वोच्च देव के साथ आध्यात्मिक मिलन और सनातन देव के प्रति निःशेष आत्मदान इसके सिद्धांत का सार है। यज्ञ के विषय में एक असंस्कृत विचार यह है कि यह कष्टमय आत्मबलिदान, कठोर आत्म-पीड़न तथा कृच्छ्र आत्मोच्छेद का कार्य है। इस प्रकार का यज्ञ आत्म-पंगूकरण और आत्म-यातना की सीमा तक भी पहुंच सकता है। ये चीजें मनुष्य के अपने प्रकृतिगत 'अहं' को अतिक्रांत करने के कठिन प्रयास में कुछ समय के लिये आवश्यक हो सकती हैं। यदि मनुष्य की प्रकृति में अहंभाव उग्र और आग्रहपूर्ण हो तो कभी कभी एक तदनुरूप प्रबल आंतरिक अवदमन और तुल्य उग्रता के द्वारा उसका मुकाबला करना ही होता है। परंतु गीता अपने प्रति किसी मात्रा में भी अधिक उग्रता के प्रयोग को मना करती है। क्योंकि अंतःस्थित आत्मा वास्तव में विकसित हो रहा परमेश्वर ही है, वह कृष्ण है, वह भगवान् है। उसे उस प्रकार पीड़ा और यंत्रणा नहीं पहुंचानी है जिस प्रकार संसार के असुर उसे पीड़ा और यंत्रणा पहुंचाते हैं, बल्कि उसे उत्तरोत्तर संवर्धित, पालित-पोषित और दिव्य प्रकाश, बल, हर्ष और विशालता की ओर उज्ज्वल रूप से उद्घाटित करना है। अपनी आत्मा को नहीं, बल्कि आत्मा के आंतरिक रिपुओं के दल को हमें निरुत्साहित और निष्कासित करना है, इन्हें आत्मोन्नति की वेदी पर बलि चढ़ा देना है। निर्दयतापूर्वक इन सबका उच्छेद किया जा सकता है, जिनके नाम हैं—काम, क्रोध, असमता, लोभ, बाह्य सुख-दुःखों के प्रति मोह और बलात् आक्रमण करनेवाले दैत्यों का सैन्यदल जो आत्मा की भ्रांतियों और दुःखों के मूल कारण हैं। इन्हें अपने अंग नहीं बल्कि अपनी आत्मा की वास्तविक और दिव्य प्रकृति

पर अनधिकार आक्रमण करनेवाले और उसे विकृत करनेवाले समझना चाहिये; बलि शब्द के कठोरतर अर्थ के अनुसार इनकी बलि चढ़ा देनी होगी भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छाया द्वारा जिज्ञासु की चेतना पर कैसा भी दुःख क्यों न डाल जायं।

परंतु यज्ञ का वास्तविक सार बलिदान नहीं आत्मार्पण है। इसका उद्देश्य आत्मोच्छेद नहीं आत्म-परिपूर्णता है। इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर जीवन है, आत्म-पंगूकरण नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक मानवीय अंगों का दिव्य अंगों में रूपांतर है, आत्म-यंत्रणा नहीं वरन् क्षुद्रतर सुख से महत्तर आनंद की ओर प्रयाण है। केवल एक ही चीज है जो उपरितल की प्रकृति के अपरिपक्व या कलुषित भाग के लिये प्रारंभ में दुःखदायी होती है। वह एक अनिवार्य अनुशासन है जिसकी इससे मांग की जाती है, एक ऐसा परित्याग है जो अपूर्ण अहं के विलय के लिये आवश्यक है। परंतु उसके बदले में इसे शीघ्र ही एक अपरिमित फल मिल सकता है, वह है दूसरों में, सभी वस्तुओं में, विश्वव्यापी एकता में, विश्वातीत आत्मा एवं आत्म-तत्त्व की स्वतंत्रता में और भगवान् के स्पर्श के हर्षोन्माद में एक वास्तविक महत्तर या चरम पूर्णता की उपलब्धि। हमारा यज्ञ कोई ऐसा दान नहीं है जिसके बदले दूसरी ओर से कोई प्रतिदान या फलप्रद स्वीकृति प्राप्त ही न हो। यह तो हमारी सनातन आत्मा और हमारी शरीरधारी आत्मा एवं सचेतन प्रकृति का पारस्परिक आदान-प्रदान है। क्योंकि, यद्यपि हम किसी भी प्रतिफल की मांग नहीं करते तथापि हमारे अंदर गहराई में यह ज्ञान रहता ही है कि एक अद्‌भुत प्रतिफल की प्राप्ति अवश्यंभावी है। आत्मा जानती है कि वह अपने आपको भगवान् पर वृथा ही न्योछावर नहीं करती। कुछ भी याचना न करती हुई भी वह दिव्य शक्ति और उपस्थिति की अनंत संपदाओं को प्राप्त करती है।

अंत में, यज्ञ के पात्र (यजनीय) और यज्ञ की विधि का विचार करना है। यज्ञ अदिव्य शक्तियों को अर्पण किया जा सकता है अथवा यह दिव्य शक्तियों को भी अर्पण किया जा सकता है। यह विराट् विश्वमय देव को अर्पण किया जा सकता है अथवा यह विश्वातीत परमदेव को भी अर्पण किया जा सकता है। जो अर्घ्य चढ़ाया जाता है उसका कोई भी रूप हो सकता है—पत्र-पुष्प, फल-तोय या अन्न-धान्य का उत्सर्ग, यहां तक कि उस सबका निवेदन जो कुछ कि हमारे पास है और उस सबका अर्पण जो कुछ कि हम हैं। पात्र और हवि चाहे कोई भी हो, पर जो हवि को ग्रहण करता और स्वीकार करता है वह तो परात्पर और विश्वव्यापी सनातन देव ही होता है, भले ही तात्कालिक पात्र उसे अस्वीकृत या उपेक्षित ही क्यों न कर दे। परात्पर देव जो विश्व से अतीत है, यहां भी, प्रच्छन्न रूप में ही सही, हममें, जगत् में और इसकी घटनाओं में भी विद्यमान है; हमारे निखिल कर्मों के सर्वज्ञ द्रष्टा और ग्रहीता तथा उनके गुप्त स्वामी के रूप में वह यहां उपस्थित है। एकमेव देव ही हमारे सब कार्यों और प्रयत्नों, पापों और स्खलनों तथा दुःखों और संघर्षों का अंतिम परिणाम निर्धारित करता है, चाहे हम इस बात से सचेतन हों या अचेतन और चाहे हम इसे जानते एवं प्रत्यक्ष अनुभव करते हों अथवा न जानते हों और न अनुभव करते हों। सब वस्तुएं उसके अगणित रूपों में उसी की ओर प्रेरित होती हैं और उन रूपों के द्वारा उसी एक सर्वव्यापक सत्ता के प्रति अर्पित होती हैं। चाहे जिस भी रूप में और चाहे जिस भी भावना के साथ हम उसके पास पहुंचें, उसी रूप में और उसी भावना के साथ वह हमारे यज्ञ को ग्रहण करता है।

कर्मों के यज्ञ का फल भी कर्म और उसके प्रयोजन के अनुसार एवं उस प्रयोजन की मूल

भावना के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। परंतु (आत्मदान के सिवा) अन्य सभी यज्ञ एकांगी, अहंभावमय, मिश्रित, कालावच्छिन्न तथा अपूर्ण होते हैं,–ऊंची से ऊंची शक्तियों और तत्त्वों के प्रति अर्पित यज्ञों का भी ऐसा ही स्वरूप होता है; उनका फल भी आंशिक, सीमित, कालावच्छिन्न तथा अपनी प्रतिक्रियाओं में मिश्रित होता है और उससे केवल एक तुच्छ या अवांतर प्रयोजन ही सिद्ध हो सकता है। पूर्ण रूप से स्वीकार्य यज्ञ तो केवल चरम और परम ऐकान्तिक आत्म-दान ही होता है अर्थात् एक ऐसा समर्पण होता है जो एकमेव देव के प्रति उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति में, भक्ति और ज्ञान के साथ, स्वेच्छापूर्वक और निःसंकोच किया जाता है, उस एकमेव देव के प्रति जो एक साथ ही हमारी अंतर्यामी आत्मा एवं चतुर्दिग्व्यापी उपादानभूत विश्वात्मा है तथा अभिव्यक्तिमात्र से परे परम सद्वस्तु है और, गुप्त रूप से, युगपत् ये तीनों ही चीजें है, सर्वत्र निगूढ़ अंतर्यामी परात्परता है। जो आत्मा अपने आपको पूर्ण रूप से ईश्वर को दे देती है, उसे ही ईश्वर भी अपने आपको पूर्ण रूप से दे देता है। केवल वही जो अपनी संपूर्ण प्रकृति को अर्पित कर देता है, आत्मा को प्राप्त करता है। केवल वही जो प्रत्येक वस्तु दे सकता है, सर्वत्र विश्वमय भगवान् का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम आत्म-उत्सर्ग ही परात्पर देव तक पहुंच पाता है। जो कुछ भी हम हैं उस सबको यज्ञ द्वारा ऊपर उठा ले जाने से ही हम इस योग्य बन सकते हैं कि सर्वोच्च देव को साकार रूप में प्रकट कर सकें और यहां परात्पर आत्मा की अंतर्यामी चेतना में निवास कर सकें।

★

जो मांग हमसे की जाती है वह संक्षेप में यही है कि हम अपने संपूर्ण जीवन को एक सचेतन यज्ञ का रूप दे दें। हमें अपनी सत्ता के प्रत्येक पल और प्रत्येक गति को सनातन देव के प्रति एक सतत और भक्तियुक्त आत्मदान में परिणत करना होगा। अपने सब कर्मों को, छोटे से छोटे और अत्यंत साधारण एवं तुच्छ कर्मों को तथा बड़े से बड़े और अत्यंत असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मों को, सभी को एकसमान, ईश्वरार्पण-भाव से करना होगा। हमारी व्यष्टिभावापन्न प्रकृति को एक ऐसी बाह्य तथा आंतर क्रिया की अखण्ड चेतना में निवास करना होगा जो हमसे परतर और हमारे अहं से महत्तर किसी वस्तु के प्रति निवेदित हो। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हवि किस वस्तु की है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं पर भेंट करते समय ऐसी चेतना होनी चाहिये कि सब सत्ताओं में विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ता को ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं। हमारे अत्यंत साधारण या अति स्थूल-भौतिक कार्यों को भी ऐसा उदात्त रूप धारण करना होगा। जब हम भोजन करें, हमें इस रूप में सचेतन होना चाहिये कि हम अपना भोजन अपने अंदर विराजमान उस दिव्य उपस्थिति को दे रहे हैं। अवश्य ही यह मंदिर में एक पवित्र आहुति होना चाहिये और केवल शारीरिक आवश्यकता या शारीरिक भोग का भाव हमसे दूर हट जाना चाहिये। किसी महान् प्रयास में, किसी ऊंची साधना में अथवा किसी कठिन या उदात्त पुरुषार्थ में,–चाहे हम उसका बीड़ा अपने लिये उठावें या दूसरों के लिये, या जाति के लिये,–यह अब संभव नहीं होना चाहिये कि हम जातिसंबंधी, अपने आप-संबंधी या दूसरों-संबंधी धारणा में ही आबद्ध रह जायं। जो काम हम कर रहे हैं वह हमें सचेतन भाव से कर्मों के यज्ञ के रूप में अर्पित करना होगा, पर अपने आपको, दूसरों को या जाति को नहीं बल्कि इनके द्वारा या सीधे ही एक-

मेव देवाधिदेव को अर्पित करना होगा; जो अंतर्वासी भगवान् इन आकारों के पीछे छिपा हुआ था उसे अब और अधिक हमसे छिपा नहीं रहना चाहिये, बल्कि हमारी आत्मा, हमारे मन और हमारी इंद्रियों के समक्ष सदा उपस्थित रहना चाहिये। अपने कर्मों की प्रक्रियाएं और परिणाम हमें उस एकमेव के हाथों में सौंप देने चाहियें इस भाव से कि वह उपस्थिति अनंत और परमोच्च है और वही हमारे प्रयत्न तथा हमारी अभीप्सा को संभव बनाती है। उसी की सत्ता में सब कुछ घटित होता है; उसी के लिये प्रकृति हमसे समस्त प्रयत्न और अभीप्सा करवाती है और उस सबको फिर उसी की वेदी पर अर्पित कर देती है। जिन कार्यों में अति स्पष्ट रूप से प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रिया के साक्षी, धारक और सहायकमात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामी का ऐसा ही अखंड स्मरण और स्थिर ज्ञान रहना चाहिये। हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदय की धड़कन तक को भी हममें सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना ही होगा। इन्हें विश्वव्यापी यज्ञ के जीवित-जागृत लय-ताल के रूप में अनुभव करना होगा।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार और इसके प्रबल अभ्यास में तीन परिणाम अंतर्निहित हैं जो हमारे आध्यात्मिक आदर्श के लिये केंद्रीय महत्त्व रखते हैं। सर्वप्रथम यह प्रत्यक्ष है कि यद्यपि ऐसा अभ्यास भक्ति के बिना भी प्रारंभ किया जा सकता है तथापि यह संभवनीय उच्चतम भक्ति की ओर सीधे और अनिवार्य तौर पर ले जायगा; क्योंकि यह स्वभावतः ही गंभीर होकर एक कल्पनीय पूर्णतम आराधना एवं अत्यंत गभीर ईश्वर-प्रेम में परिणत हो जायगा। इसके साथ साथ हमें सब वस्तुओं में भगवान् का अधिकाधिक अनुभव भी अवश्य प्राप्त होगा, अपने समस्त विचार, इच्छाशक्ति एवं कर्म में तथा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में हम भगवान् के साथ उत्तरोत्तर गहरा अंतर्मिलन लाभ करेंगे और अधिकाधिक भाव-विभोर होकर अपनी संपूर्ण सत्ता भगवान् को निवेदित कर देंगे। एवं, पूर्ण और निरपेक्ष भक्ति का असली सार भी कर्मयोग के इन फलितार्थों के अंतर्गत हो जाता है। जो जिज्ञासु इन्हें जीवंत-जाग्रत् रूप में चरितार्थ करता है वह आत्म-निष्ठता की असली भावना की एक स्थिर और प्रभावशाली प्रतिमूर्त्ति का अपने में निरंतर निर्माण करता है, और यह अनिवार्य ही है कि इसमेंसे फिर उस सर्वोच्च देव की अत्यंत मग्न करनेवाली पूजा का जन्म हो जिसे यह सेवा अर्पित की जाती है। समर्पित कर्मी जिस दिव्य उपस्थिति के साथ उत्तरोत्तर घनिष्ठ समीपता अनुभव करता है उसके प्रति अनन्य प्रेम उसमें क्रमशः प्रबल होता जाता है। इसके साथ ही एक सार्वभौम प्रेम भी पैदा होता है या वह इस अनन्य प्रेम के अंदर ही निहित रहता है। वह कोई भेदमूलक, क्षणिक, चंचल एवं लोलुप भाव नहीं होता बल्कि एकत्व का एक गभीरतर स्पंदन या एक सुस्थिर निःस्वार्थ प्रेम होता है और सभी सत्ताओं, जीवित गोचर पदार्थों एवं प्राणियों के लिये, जो भगवान् के वास-स्थान हैं, समान रूप से उत्पन्न होता है। सभी में जिज्ञासु अपने एकमात्र सेव्य और आराध्य देव से मिलन अनुभव करने लगता है। कर्मों का मार्ग यज्ञ के इस पथ से चलकर भक्ति के मार्ग से जा मिलता है। यह स्वयं एक परिपूर्ण, तन्मयकारी और सर्वांगीण भक्ति हो सकता है—एक ऐसी गहरी से गहरी भक्ति हो सकता है जिसे हृदय की उमंग खोज सकती है अथवा मन का आवेश कल्पना में ला सकता है।

और फिर, इस योग का अभ्यास एकमात्र केंद्रीय मोक्षदायक ज्ञान के सतत आंतरिक स्मरण की अपेक्षा रखता है। उस ज्ञान को निरंतर सक्रिय ढंग से कर्मों के रूप में बाहर उंडेलने से इस स्मरण को उद्दीप्त करने में सहायता मिलती है। सबमें एक ही आत्मा है, एकमेव भगवान् ही सब कुछ हैं; सब भगवान् में हैं, सब भगवान् हैं और विश्व में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यह विचार या यह श्रद्धा तब तक कर्मी की चेतना की संपूर्ण पीठिका रहती है, जब तक कि यह उसकी चेतना का सार-सर्वस्व ही नहीं बन जाती। इस प्रकार के स्मरण को अर्थात् अपने आपको क्रियाशील बनानेवाले इस प्रकार के ध्यान को अंत में उस 'तत्' के—जिसका हम इतने शक्तिशाली रूप से स्मरण करते हैं अथवा इतने अनवरत रूप से ध्यान करते हैं,—प्रगाढ़ और निर्बाध संदर्शन तथा सजीव और सर्व-स्पर्शी ज्ञान में बदल जाना चाहिये और निश्चय ही यह इसमें बदल भी जाता है। क्योंकि इससे बाध्य होकर हम प्रतिक्षण समस्त सत्ता, संकल्प और कर्म के उद्गम के सामने निरं-तर अपनी जिज्ञासा निवेदित करते हैं और इन सब विभिन्न आकारों तथा प्रतीतियों को हम उस 'तत्' में, जो इनका कर्त्ता और धर्त्ता है, आलिंगित करते हैं और साथ ही साथ इन्हें अतिक्रांत भी कर जाते हैं। यह मार्ग अपने लक्ष्य पर तब तक नहीं पहुंच सकता जब तक कि यह सर्वत्र एक विश्वव्यापी आत्मा की कृतियों को स्पष्ट एवं सजीव रूप में और स्थूल देखने के समान ही प्रत्यक्ष तौर पर नहीं देख लेता। अपने शिखर पर यह उस अवस्था तक ऊंचा उठ जाता है जहां हम नित्य-निरंतर अतिमानसिक और परात्पर भगवान् की उपस्थिति में ही रहते-सहते, सोचते-विचारते और संकल्प तथा कर्म करते हैं। जो कुछ भी हम देखते और सुनते हैं, जो कुछ भी हम छूते और अनुभव करते हैं और जिस किसी भी चीज से हम सचेतन होते हैं उस सबको हमें वही वस्तु जानना और अनुभव करना होगा जिसकी हम पूजा और सेवा करते हैं; सभी को भगवान् की प्रतिमा में परिणत करना तथा उसके देवत्व का निवासधाम अनुभव करना होगा, सभी को नित्य सर्वव्यापकता से आच्छादित करना होगा। बहुत पहले नहीं तो अपनी समाप्ति के समय यह कर्ममार्ग, भागवत उपस्थिति और संकल्प एवं बल के साथ अंतर्मिलन होने पर, एक ज्ञानमार्ग में बदल जाता है। वह ज्ञानमार्ग ऐसे किसी भी मार्ग से अधिक पूर्ण एवं सर्वांगीण होता है जिसे कोरी मानवी मति रच सकती या बुद्धि की खोज उपलब्ध कर सकती है।

अंत में, इस यज्ञ-रूपी योग का अभ्यास हमें इस बात के लिये बाध्य करता है कि हम अपने संकल्प, मन और कर्म में से अहम्भाव के समस्त आंतर अवलंबनों का त्याग कर दें और अपनी प्रकृति में से इसके बीज, इसकी उपस्थिति एवं इसके प्रभाव को निकाल फेंकें। सब कुछ भगवान् के लिये ही करना होगा; सब कुछ भगवान् को लक्ष्य करके ही करना होगा। हमें अपने लिये पृथक् सत्ता के रूप में कुछ भी नहीं करना होगा, दूसरों के लिये भी,—चाहे वे पड़ोसी, मित्र और परिजन हों, अथवा देश या मानवजाति या अन्य प्राणी हों—केवल इस नाते से कुछ भी नहीं करना होगा कि वे हमारे निजी जीवन, विचार और भाव-धारा से संबद्ध हैं, न इस नाते से ही कुछ करना होगा कि हमारा अहं उनकी भलाई में अपेक्षाकृत अधिक रुचि रखता है। कर्म तथा विचार के इस दृष्टिकोण से सभी काम और समस्त जीवन भगवान् की अपनी विराट् वैश्व सत्ता के निःसीम मंदिर में उसकी दैनिक सक्रिय आराधना और सेवा ही बन जाते हैं। जीवन उत्तरोत्तर व्यक्ति में सनातन देव का

एक ऐसा यज्ञ बनता जाता है जो अनवरत एक नित्य परात्परता के प्रति स्वयमेव अर्पित होता रहता है। यह सनातन विश्वगत आत्मा के क्षेत्र की विशाल यज्ञीय भूमि में अर्पित किया जाता है और नित्य शक्ति या सर्वव्यापिनी माता ही स्वयं इसे अर्पित करती है। अतएव यह मार्ग कर्मों द्वारा और कर्मगत भाव तथा ज्ञान द्वारा मिलन एवं अंतःसंभाषण प्राप्त करने का मार्ग है, और यह वैसा ही पूर्ण और सर्वांगीण है जैसे की आशा हमारी ईश्वराभिमुख इच्छाशक्ति कर सकती है अथवा जैसे को हमारी आत्म-शक्ति कार्यान्वित कर सकती है।

सर्वांगीण और चरम-परम कर्मयोग की समस्त शक्ति इस मार्ग में विद्यमान है। साथ ही, दिव्य आत्मा और स्वामी के प्रति अपने यज्ञ और आत्मोत्सर्ग के विधान के कारण, यह प्रेममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों की संपूर्ण शक्ति से भी संपन्न है। इसके अंत में ये तीनों दिव्य शक्तियां एक-दूसरे से घुलमिलकर और एकीभूत, परिपूरित एवं सर्वगुणसंपन्न होकर एक साथ काम करती हैं।

भगवान् या सनातन पुरुष हमारे कर्मों के यज्ञ का अधीश्वर है और अपनी संपूर्ण सत्ता एवं चेतना में तथा इसके अभिव्यक्तिक्षम करणों में उसके साथ मिलन ही यज्ञ का एकमात्र लक्ष्य है। अतएव, कर्मों के यज्ञ की क्रमिक प्रगति की नाप दो प्रकार से करनी होगी—प्रथम, हमारी प्रकृति में किसी ऐसी वस्तु के विकास के द्वारा जो हमें भागवत प्रकृति की ओर अधिक निकट ले जाती है, और दूसरे, भगवान् के अनुभव के द्वारा, अर्थात् उसकी उपस्थिति के, हमारे प्रति उसकी अभिव्यक्ति के, तथा उस 'उपस्थिति' के साथ अधिकाधिक सान्निध्य एवं मिलन के अनुभव के द्वारा। परंतु भगवान् तत्त्वतः अनंत है और उसकी अभिव्यक्ति भी बहुल रूप से अनंत है। यदि ऐसी ही बात है तो अपनी सत्ता और प्रकृति में सच्ची सर्वांगीण पूर्णता हम किसी एक ही प्रकार के अनुभव से नहीं प्राप्त कर सकते; बल्कि इसके लिये तो हमें दिव्य अनुभव की अनेक विभिन्न लड़ियों को मिलाना आवश्यक होगा। न ही हम इसे तादात्म्य की किसी एक ही दिशा का एकांगी अनुसरण करके और उसे उसकी चरम सीमा तक पहुंचाकर प्राप्त कर सकते हैं; बल्कि इसके लिये तो हमें अनंत के अनेक पार्श्वों में सामंजस्य साधना आवश्यक होगा। हमारी प्रकृति के पूर्ण रूपांतर के लिये यह अनिवार्य है कि हमारी चेतना सर्वांगीण हो और साथ ही बहुरूप एवं शक्तिमय अनुभव से संपन्न भी हो।

इस अनंत के किसी भी समग्र ज्ञान या बहुमुख अनुभव के लिये एक आधारभूत अनुभूति परमावश्यक है, वह यह कि हम भगवान् को एक ऐसा सारभूत आत्मत्व और सत्य अनुभव करें जिसके स्वरूप में आकृतियों या गोचर पदार्थों के कारण कुछ अंतर नहीं पड़ता। अन्यथा, संभव है कि हम आकृतियों के जाल में ही फंसे रह जायं अथवा विश्वगत या विशेष रूपों के विशृंखल बाहुल्य में अव्यवस्थित रूप से भटकते फिरें। और यदि हम इस गड़बड़ से बच भी जायं तो भी इसके बदले हमें किसी मानसिक सूत्र से या किसी सीमित व्यक्तिगत अनुभव के घेरे में आबद्ध होना पड़ेगा। एकमात्र सुनिश्चित और सर्व-समन्वयात्मक सत्य, जो विश्व की वास्तविक भित्ति है, यह है कि जीवन एक अज आत्मा तथा आत्मसत्ता की अभिव्यक्ति है, और जीवन के गुप्त रहस्य की कुंजी इस आत्मा का अपनी रची हुई सत्ताओं से सच्चा संबंध है। इस सब जीवन के पीछे सनातन पुरुष की एक ऐसी दृष्टि है जो अपने असंख्य भूतभावों को देख रही है; इसमें सब ओर तथा सभी जगह एक अव्यक्त

कालातीत सनातन पुरुष कालगत अभिव्यक्ति के बाहर और भीतर ओतप्रोत है। परंतु यदि यह ज्ञान केवल एक ऐसा बौद्धिक तथा दार्शनिक विचारमात्र हो जिसमें न कोई जीवन हो न जिसका कोई फल ही होता हो, तो योग के लिये यह किसी काम का नहीं; क्योंकि कोई भी निरी मानसिक उपलब्धि जिज्ञासु के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती। योग जिसकी खोज करता है वह केवल विचार या मन का सत्य नहीं, वरंच एक सजीव और अभिव्यंजक अध्यात्म-अनुभव का सक्रिय सत्य है। एक सच्ची अनंत उपस्थिति का सतत अंतर्वासी और सर्वव्यापी सान्निध्य, जीवंत बोध, घनिष्ठ संवेदन तथा समागम और प्रत्यक्ष अनुभव एवं संस्पर्श हमारे भीतर सदा-सर्वदा और सर्वत्र जागृत रहना चाहिये। वह उपस्थिति हमारे संग इस रूप में रहनी चाहिये कि वह एक सजीव और सर्वव्यापक सद्वस्तु है जिसमें हम और सभी पदार्थ निवास करते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं। उसे हमें हर समय और हर जगह मूर्त्त और गोचर एवं घटघटवासी अनुभव करना होगा। हमें उसके प्रत्यक्ष दर्शन करने होंगे इस रूप में कि वह सब पदार्थों की सच्ची आत्मा है, उसे स्पर्श करना होगा इस रूप में कि वह सबका अविनाशी सार है, उससे घनिष्ठ मिलन लाभ करना होगा इस रूप में कि वह सबकी अंतरतम आत्मा है। यहां सभी सत्ताओं में इस आत्मा और आत्म-तत्त्व को मानसिक विचार द्वारा ग्रहण करना ही नहीं बल्कि इसे देखना, अनुभव करना, इंद्रियों द्वारा जानना तथा प्रत्येक प्रकार से इसका संस्पर्श प्राप्त करना और, ऐसे ही सुस्पष्ट रूप से, सभी सत्ताओं को इस आत्मा और आत्मतत्त्व में अनुभव करना—यह एक आधारभूत अनुभव है जिसके चारों ओर अन्य समस्त ज्ञान को केंद्रित होना होगा।

वस्तुओं की यह अनंत और नित्य आत्मा सर्वव्यापक सद्वस्तु है, सर्वत्र विद्यमान एक ही सत्ता है; यह एकमेवाद्वितीय एकीकारक उपस्थिति है और भिन्न भिन्न प्राणियों में भिन्न भिन्न नहीं है। इस विश्व में प्रत्येक आत्मा या प्रत्येक दृश्य पदार्थ के भीतर हम उसके परिपूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार, संदर्शन या अनुभव कर सकते हैं। कारण, इसकी अनंतता एक निरी दैशिक असीमता या कालिक अनंतता ही नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक और सारभूत वस्तु है। एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु में या काल के एक क्षण में भी वह अनंत वैसे ही असंदिग्ध रूप में अनुभव किया जा सकता है जैसे युगों के विस्तार या सौर पिण्डों की पारस्परिक दूरी के बृहत् प्रमाण में। उसका ज्ञान या अनुभव कहीं भी शुरू हो सकता है और किसी भी वस्तु के द्वारा प्रकट हो सकता है; क्योंकि भगवान् सबमें है और सब कुछ भगवान् ही है।

तथापि इस आधारभूत अनुभव का प्रारंभ भिन्न भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार से होगा और उस संपूर्ण सत्य के विकसित होने में बहुत समय लगेगा जो इसके सहस्रों पहलुओं में छिपा हुआ है। उस शाश्वत उपस्थिति को पहले पहल मैं, संभवतः, अपने में या अपनी आत्मा के तौर पर देखता अथवा अनुभव करता हूं और बाद में ही अपनी इस महत्तर आत्मा के दर्शन और अनुभव को प्राणिमात्र तक विस्तारित कर सकता हूं। तब मैं संसार को अपने अंदर या अपने साथ एकीभूत अनुभव करता हूं। इस विश्व को मैं अपनी सत्ता के अंदर एक नाटक के रूप में देखता हूं और इसकी प्रक्रियाओं के अभिनय को अपनी विराट् आत्मा के अंदर पदार्थों, आत्माओं और शक्तियों की एक गति के रूप में। सभी जगह मैं अपने आपसे ही मिलता हूं, और किसी से नहीं। किंतु इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यह सब मैं उस असुर की-सी भ्रांत दृष्टि के कारण नहीं करता

जो अपनी ही अत्यधिक विस्तृत प्रतिमूर्त्ति में निवास करता है, अहं को ही भ्रमवश अपना स्वरूप और अपनी आत्मा समझता है और अपने आंशिक व्यक्तित्व को अपने चारों ओर की सभी वस्तुओं पर एक प्रभुत्वशाली सत्ता के रूप में थोपने का यत्न करता है। कारण, ज्ञान का उदय होने से मैं यह सत्य तो ग्रहण कर ही चुका हूं कि मेरी सच्ची आत्मा अहं नहीं है; और साथ ही अपनी महत्तर आत्मा मुझे सदा यूं अनुभव होती है कि यह एक निर्वैयक्तिक बृहत्ता या एक तात्त्विक व्यक्ति है जो फिर भी अपने से परे सब व्यक्तित्वों को अंतर्गत रखता है या यह एक ही साथ दोनों चीजें हैं। परंतु कुछ भी हो, चाहे यह निर्वैयक्तिक हो या असीम व्यक्तित्व, अथवा युगपत् दोनों ही हो तो भी यह एक अहं-अतीत अनंत है। यदि मैंने इसे पहले दूसरों के अंदर नहीं वरन् इसके उस रूप में ढूंढ़ा तथा पाया है, जिसे मैं 'अपना आप' कहता हूं, तो इसका कारण यही है कि वहां, मेरी चेतना के विषयिगत होने के कारण, इसे पाना, तत्काल जान लेना और अनुभव करना मेरे लिये अत्यंत सुगम है। परंतु ज्यों ही यह आत्मा दिखाई दे त्यों ही यदि संकुचित करणात्मक अहं इसमें विलीन न होने लगे, अथवा यदि क्षुद्रतर बाह्य मनोनिर्मित 'मैं' उस महत्तर स्थिर अजन्मा आध्यात्मिक 'मैं' में विलुप्त हो जाने से इन्कार करे, तो मेरा अनुभव या तो विशुद्ध नहीं है या उसके मूल में ही कहीं त्रुटि है। अभी भी मुझमें कहीं पर एक अहंमूलक बाधा है; मेरी प्रकृति के किसी भाग ने एक 'स्व'-दर्शी और 'स्व'-संरक्षी निषेध को आत्मा के सर्वग्रासी सत्य के विरोध में खड़ा कर दिया है।

दूसरी तरफ–और कुछ लोगों के लिये यह अधिक सुगम तरीका है–मैं भगवान् को पहले अपने से बाहर जगत् में अर्थात् अपने में नहीं बल्कि दूसरों में देख सकता हूं। वहां प्रारंभ से ही मैं उससे इस रूप में मिलता हूं कि वह एक अंतर्वासी और सर्वाधार अनंत है जो अपने उपरितल पर धारण की हुई इन सब आकृतियों, प्राणियों और शक्तियों से बंधा हुआ नहीं है। अथवा मैं यह देखता और अनुभव करता हूं कि वह एक शुद्ध एकाकी आत्मा और आत्मतत्त्व है जो इन सब शक्तियों और सत्ताओं को अपने अंदर धारण किये हुए है, और तब मैं अपनी अहंबुद्धि को अपने चारों ओर की इस निश्चलनीरव सर्वव्यापक उपस्थिति में विलीन कर देता हूं। बाद में यही मेरी करणात्मक सत्ता को व्याप्त और अधिकृत करने लगती है, और कर्मसंबंधी मेरी सभी प्रेरणाएं, विचार और वाणी का मेरा सब प्रकाश, मेरी चेतना की समस्त रचनाएं और इस एकमेव विश्व-विस्तृत सत्ता के अन्य आत्म-रूपों के साथ मेरी चेतना के संबंध और संघर्ष–ये सभी इसीमेंसे निकलते प्रतीत होते हैं। मैं अब पहले की तरह यह क्षुद्र व्यक्तिगत स्व नहीं वरन् 'तत्' हूं जिसने अपना कुछ अंश आगे कर रखा है और वह अंश विश्व में उस ('तत्') की क्रियाओं के एक विशेष रूप को धारण करता है।

एक और आधारभूत अनुभव भी है, जो सबसे परले सिरे का है और फिर भी कभी कभी प्रथम निर्णायक उद्घाटन या योग की प्रारंभिक प्रगति के रूप में प्राप्त होता है। वह उस अनिर्वचनीय, उच्च, परात्पर एवं अविज्ञेय सत्ता के प्रति जागरण है जो मेरे और इस संसार के भी, जिसमें मैं निवास करता प्रतीत होता हूं, ऊपर अवस्थित है, वह उस कालातीत और देशातीत अवस्था या सत्ता के प्रति जागरण है जो साथ ही मेरे अंदर की तात्त्विक चेतना के लिये, प्रबल और असंदिग्ध रूप में, एक अनन्य दुर्निवार सत्य है। प्रायः इस अनुभव के साथ एक और भी इतना ही प्रबल बोध होता है,–वह यह कि इहलोक

की सब वस्तुएं या तो स्वप्न वा छाया की भांति भ्रमात्मक हैं अथवा वे अस्थायी, गौण और केवल अर्द्धवास्तविक हैं। कम से कम कुछ समय के लिये मेरे चारों ओर का सब दृश्य जगत् ऐसा दिखाई दे सकता है कि यह चलचित्र से छाया-रूपों या तलीय आकारों का चलना-फिरना है और मेरा अपना कर्म ऐसा मालूम हो सकता है कि यह मेरे ऊपर या बाहर के किसी अब तक अगृहीत और संभवतः अनधिगम्य स्रोत से निकली तरल रचना है। इस चेतना में रहने और इस प्रवेशात्मक अनुभव को विकसित करने अथवा वस्तुओं के स्वरूप के इस प्रथम संकेत का अनुसरण करने का अर्थ होगा–अहं और जगत् का अज्ञेय में लय करने किंवा मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। किंतु परिणति की केवल यही एक दिशा हो ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत, मेरे लिये यह भी संभव है कि मैं तब तक प्रतीक्षा करता रहूं जब तक इस कालातीत रिक्त मोक्ष की निश्चल-नीरवता के द्वारा मैं अपने आपके और अपने कार्यों के इस अद्यावधि अज्ञात स्रोत से संबंध न जोड़ लूं। तब रिक्तता भरने लगती है और इसमेंसे भगवान् का सकल बहुविध सत्य और क्रिया-शील अनंत सत्ता के अशेष रूप एवं अभिव्यक्तियां तथा अनेकानेक स्तर उदित होने लगते हैं अथवा वे इसके अंदर ही प्रवाहित होने लगते हैं। यह अनुभव पहले तो मन में और फिर हमारी सारी सत्ता में एक चरम, अथाह और अतलप्राय शांति एवं निश्चलनीरवता स्थापित कर देता है। अभिभूत, वशीकृत, स्तब्ध तथा अपने आपसे निर्मुक्त होकर मन स्वयं इस निश्चलनीरवता को ही परात्पर स्वीकार कर लेता है। परंतु पीछे जिज्ञासु को पता चलता है कि उसके लिये सब कुछ ही अंतर्निहित या नव-सृष्ट रूप में इस निश्चल-नीरवता में विद्यमान है अथवा सब कुछ इस निश्चलनीरवता के ही द्वारा एक महत्तर निगूढ़ परात्पर सत्ता से उस-के अंदर अवतरित होता है। कारण, यह परात्पर एवं निरपेक्ष सत्ता अलक्षण शून्यता की शांतिमात्र नहीं है; इसके अपने ही अनंत आधेय और ऐश्वर्य हैं जिनके कि हमारे आधेय और ऐश्वर्य हीन और न्यून रूप ही हैं। यदि सब वस्तुओं का यह स्रोत न होता तो विश्व उत्पन्न ही न हो सकता; सब शक्तियां, क्रियाएं और कर्म भ्रमरूप होते, सृष्टि और अभि-व्यक्तिमात्र असंभव होती।

ये हैं तीन मूलभूत अनुभव, इतने मूलभूत कि ज्ञानमार्ग के योगी को ये चरम तथा स्वतः-पर्याप्त प्रतीत होते हैं, और निश्चय ही ये उसे अन्य सब अनुभवों के शिरोमणि एवं प्रतिनिधि भी प्रतीत होते हैं। परंतु परिपूर्णता के अन्वेषक के लिये ये अनन्य सत्य नहीं होते, न ही ये सनातन के समग्र सत्य के पूर्ण और एकमात्र सूत्र होते हैं, वरंच ये एक महत्तर दिव्य ज्ञान के अपूर्ण आरंभ एवं विशाल आधारमात्र होते हैं, भले ही ये उसे कृपा के चमत्कार से शुरू की अवस्था में ही एकाएक और अनायास प्राप्त हो जायं या लंबी यात्रा और श्रम के पश्चात् कठिनाई से उपलब्ध होवें। अन्य अनुभव भी हैं जिनकी, निश्चय ही, आवश्यकता है और जिनकी खोज उनकी संभाव्यताओं के परले छोर तक करनी होगी। यद्यपि उनमेंसे कुछ एक प्रथम दृष्टि में ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे केवल उन भागवत रूपों को समाविष्ट करते हैं जो सत्ता की क्रियाशीलता के लिये यन्त्रात्मक हैं किंतु उसके सारतत्त्व में अंतर्निहित नहीं हैं, तो भी जब हम उनका अनुसरण अंत तक करते हैं अर्थात् क्रियाशीलता में से होते हुए उसके सनातन स्रोत तक पहुंचते हैं, तो हमें पता चलता है कि वे भगवान् के उस रूप का प्रकाश करते हैं जिसके बिना वस्तुओं के मूल सत्य का हमारा ज्ञान असमृद्ध और अपूर्ण ही रहता।

ये देखने में यंत्रात्मक सत्ताएं उस रहस्य की कुंजी हैं जिसके बिना स्वयं मूलभूत तत्त्व भी अपना संपूर्ण गुह्यार्थ प्रकाशित नहीं करते। भगवान् का प्रकाश करनेवाले सभी रूपों को हमें पूर्णयोग की विशाल परिधि के अंतर्गत करना होगा।

*

यदि संसार और इसके कर्मों से पलायन, अर्थात् परम मोक्ष एवं शम ही जिज्ञासु का एकमात्र ध्येय होता, तो ये तीन महान् आधारभूत अनुभव उसके आध्यात्मिक जीवन की कृतार्थता के लिये पर्याप्त होते। इन्हीं में एकाग्र होकर वह अन्य समस्त दिव्य या लौकिक ज्ञान का त्याग कर देता और स्वयं भारमुक्त होकर शाश्वत प्रशांति की ओर प्रयाण करता। परंतु उसे संसार और इसके कर्मों को भी अपने ध्यान में रखना है, इनके मूलभूत दिव्य सत्य को जानना है और दिव्य सत्य तथा व्यक्त सृष्टि के उस प्रतीयमान विरोध का समाधान करना है जो अधिकतर आध्यात्मिक अनुभवों के आरंभ में जिज्ञासु के सामने उपस्थित हुआ करता है। साधना की चाहे जिस भी दिशा का वह अनुसरण करे उसमें एक शाश्वत द्वैत अर्थात् सत्ता की दो अवस्थाओं का पार्थक्य उसके सामने उपस्थित होता है। उसे प्रतीत होता है कि ये अवस्थाएं परस्परविरोधी हैं और इनका विरोध ही जगत् की पहेली की असली जड़ है। बाद में, वह जान सकता है और अवश्य ही जान लेता है कि ये 'एकं सत्' के दो ऐसे ध्रुव हैं, जो शक्ति की दो परस्पर-संबद्ध, ऋण-धनात्मक समकालीन धाराओं से जुड़े हुए हैं और इनकी एक दूसरे पर क्रिया ही सत्ता के अंतर्निहित तत्त्वों की अभिव्यक्ति की वास्तविक अवस्था है, इनका पुर्नमिलन ही जीवन की विषमताओं के समाधान का एक नियत साधन है और इसी से उस सर्वांगीण सत्य की उपलब्धि हो सकती है जिसकी कि वह खोज कर रहा है।

एक ओर तो उसे भान होता है कि यह आत्मा या नित्य आत्म-तत्त्व—ब्रह्म, सनातन—ही सब जगह रमा हुआ है, एक ही स्वयंभू-सत्ता यहां कालगत रूप में प्रत्येक दृश्य या गोचर पदार्थ के पीछे विद्यमान है और विश्व से परे यह कालातीत भी है। उसे एक प्रबल और सर्वाभिभावी अनुभव होता है कि यह आत्मा न तो हमारा सीमित अहं है और न ही यह हमारा मन, प्राण या शरीर है; यह विश्वव्यापी है पर बाह्य दृश्य प्रपंच-रूप नहीं है और फिर भी उसकी आत्मिक इन्द्रिय के लिये यह किसी भी साकार या दृश्य वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक प्रत्यक्ष है; यह सार्वभौम है पर अपने अस्तित्व के लिये संसार की किसी वस्तु पर या संसार की समूची समष्टि पर भी निर्भर नहीं है; यदि यह सारे का सारा जगत् लुप्त हो जाय तो भी इसके लय से उसके स्थिर अंतरीय अनुभव के विषयभूत इस सनातन में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। उसे निश्चय हो चुका है कि एक अवर्णनीय स्वयंभू-सत्ता है जो उसका तथा सब वस्तुओं का सार है। उसे उस तात्विक चेतना का अंतरंग ज्ञान हो गया है जिसकी हमारा चिंतक मन, प्राण-संवेदन और देह-संवेदन आंशिक और हीन प्रतिमाएंमात्र हैं, उसे यह भी अनुभव हो गया है कि वह चेतना एक ऐसी असीम शक्ति से संपन्न है जो इन सब शक्तियों का आदिस्रोत है और फिर भी इन सब सम्मिलित शक्तियों के योग या बल या स्वरूप के द्वारा समझ में नहीं आ सकती, न इनके द्वारा उसकी व्याख्या ही हो सकती है। वह एक ऐसा अविच्छेद्य स्वयं-सत् आनंद अनुभव करता है और उसमें निवास करता है जो हमारा क्षुद्रतर क्षणिक हर्ष या प्रसन्नता या सुख नहीं है। एक निर्विकार अवि-

नाशी अनंतता, एक कालातीत नित्यता, एक ऐसी आत्म-सचेतनता जो यह ग्रहणशील एवं प्रतिक्रियाकारी या स्पर्शक-तुल्य (tentacular) मानसिक चेतना नहीं है, वरन् इसके पीछे और ऊपर है तथा इसके नीचे भी विद्यमान है, यहां तक कि निश्चेतना में भी अन्तर्निहित है, और एक ऐसी एकता जिसमें किसी और सत्ता की संभावना ही नहीं है—यह इस सुस्थिर अनुभव का चतुर्विध स्वरूप है। तथापि यह नित्य स्वयंभू-सत्ता उसे इस रूप में भी दिखाई देती है कि यह एक चेतन काल-पुरुष है जो घटनाओं के प्रवाह को वहन करता है, एक आत्म-विस्तृत आत्मिक 'देश' है जो सब वस्तुओं और सत्ताओं को धारण करता है, एक आत्मिक सत्तत्व है जो अनाध्यात्मिक, अनित्य और सांत प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुओं का वास्तविक रूप और उपादान है। जो क्षणभंगुर, देशकालबद्ध और सीमित है वह सब भी उसे यों अनुभूत होता है कि अपने सारतत्त्व, बल और ऊर्जा में उस एकमेव, सनातन तथा अनंत से भिन्न कुछ नहीं है।

तो भी उसके अंदर या उसके सामने केवल यह नित्य आत्म-सचेतन सत्ता, यह आध्यात्मिक चेतना, स्वयं-प्रकाश शक्ति की यह अनंतता और यह कालातीत तथा अपार परमानंद ही विद्यमान नहीं है। इसके साथ ही, परिमित देश-काल में बंधा यह विश्व या शायद एक प्रकार का निःसीम सांत भी उसके अनुभव के सम्मुख निरंतर वर्तमान है। इसके अंदर सब कुछ नश्वर, सीमित, खण्डित, अनेकात्मक तथा अज्ञ है, दुःख-द्वंद्व के प्रति खुला हुआ है, एकता की किसी असिद्ध किंतु अंतर्निहित स्वरमाधुरी की संदेहपूर्वक खोज कर रहा है, अचेतन या अर्ध-चेतन है या, जब अधिक से अधिक चेतन होता है तब भी मूल अविद्या और निश्चेतना से बंधा रहता है। सुतरां, वह सदा शांति या आनंद की समाधि में ही नहीं रहता और, यदि वह रहे भी, तो भी यह कोई हल नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है कि यह अविद्यामय जगत् तब भी उससे बाहर अथच उसकी किसी विस्तीर्णतर आत्मा के भीतर मानों सदा के लिये चल ही रहा होगा। कभी तो उसे यह प्रतीत होता है कि उसकी आत्मा की ये दो अवस्थाएं उसकी चेतना की स्थिति के अनुसार उसके लिये बारी बारी से आती हैं। और कभी ऐसा लगता है कि ये उसकी सत्ता के दो अवयव हैं, दो अर्द्ध,—ऊर्ध्व और निम्न या आंतर और बाह्य अर्द्ध,—हैं जिनमें मेल नहीं है और जिनमें मेल बैठाना आवश्यक है। उसे शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि उसकी चेतना के इस पार्थक्य में एक बड़ी भारी मोक्षजनक शक्ति है, क्योंकि इसके कारण वह अब अविद्या एवं निश्चेतना से पूर्ववत् बद्ध नहीं रहता। यह पार्थक्य अब उसे अपना और जगत् का वास्तविक स्वरूप नहीं वरन् एक भ्रम प्रतीत होता है जो दूर किया जा सकता है अथवा यह उसे कम से कम एक अस्थायी मिथ्या स्वानुभव अर्थात् माया मालूम देता है। उसके अंदर प्रलोभन पैदा होता है कि वह इसे केवल भगवान् का प्रतिषेध, अथवा अनन्त की अगम रहस्य-लीला किंवा उसका छद्मवेश या हास्यास्पद अभिनय मान ले। समय समय पर उसके अनुभव को यह वास्तव में दुर्दम रूप से ऐसा ही भासित होता है,—एक ओर तो ब्रह्म की प्रोज्ज्वल सत्यता और दूसरी ओर माया का अंधकारमय भ्रम। परंतु उसके अंदर की कोई चीज उसे इस प्रकार सदा के लिये सत्ता को दो भागों में विभक्त कर डालने की अनुमति नहीं देगी। अधिक सूक्ष्मता से देखने पर वह जान जाता है कि इस अर्द्ध-प्रकाश या अंधकार में भी सनातन विद्यमान है—माया का आवरण पहने हुए स्वयं ब्रह्म ही यहां विराजमान है।

यह एक वर्धनशील आध्यात्मिक अनुभव का प्रारंभ है। यह उसके समक्ष इस बात को अधिकाधिक प्रकट कर देता है कि जो चीज उसे पहले अंधकारमय अगम माया प्रतीत होती थी वह तब भी सनातन पुरुष की चिच्छक्ति से भिन्न और कुछ नहीं थी। वह शक्ति इस विश्व से परे कालातीत और असीम है पर यहां, उज्ज्वल और धूसर, विरोधी तत्त्वों का जामा पहनकर मन, प्राण और जड़ में भगवान् की क्रमिक अभिव्यक्ति के चमत्कार के लिये सर्वत्र फैली हुई है। समस्त कालातीत सत्ता कालगत क्रीड़ा के लिये दबाव डालती है; कालगत सभी कुछ कालातीत आत्म-तत्त्व के आधार पर और उसी के चारों ओर परिभ्रमण करता है। यदि पार्थक्य का अनुभव मोक्षजनक था तो यह एकत्व का अनुभव गतिशील और कार्यक्षम है। वह अब अपने को केवल ऐसा ही अनुभव नहीं करता है कि वह अपने आत्म-तत्त्व में सनातन पुरुष का अंश है, अपनी तात्त्विक आत्मा और आत्म-तत्त्व में सनातन पुरुष के साथ पूर्णतया एकीभूत है, वरंच यह भी कि वह अपनी सक्रिय प्रकृति में उसकी सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ चिच्छक्ति का यंत्र है। उसके अंदर सनातन देव की वर्तमान लीला चाहे कितनी भी सीमित और सापेक्ष क्यों न हो तथापि वह उसकी अधिकाधिक विस्तृत चेतना और शक्ति की ओर उद्घाटित हो सकता है और इस विस्तार की कोई भी निर्धारणीय सीमा नहीं प्रतीत होती। उस चिच्छक्ति का एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक स्तर भी उसके ऊर्ध्व में अपने को प्रकट करता है और संपर्क स्थापित करने के लिये नीचे झुकता हुआ प्रतीत होता है। उस स्तर में ये सीमाएं और शृंखलाएं नहीं हैं और उसकी शक्तियां भी सनातन के एक महत्तर अवतरण और एक कम प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न आत्म-प्रकाश के आश्वासन के साथ कालगत क्रीड़ा पर दबाव डाल रही हैं। इस प्रकार, ब्रह्म-माया का जो द्वैत एक समय विरोधमय प्रतीत होता था पर अब द्विदल या द्वयात्मक अनुभव होता है उसका रहस्य जिज्ञासु के समक्ष इस रूप में आविष्कृत हो जाता है कि वह सब आत्माओं की आत्मा, सत्ता के स्वामी और विश्व-यज्ञ के एवं उसके अपने यज्ञ के अधीश्वर का प्रथम महान् और क्रियाशील रूप है।

भगवत्प्राप्ति की एक और दिशा में एक दूसरा द्वैत जिज्ञासु के अनुभव के विषय के रूप में उपस्थित होता है। एक तरफ तो उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि एक साक्षि-चेतना है जो ग्रहण, निरीक्षण और अनुभव करती है, जो कर्म करती नहीं जान पड़ती किंतु जिसके लिये हमारे भीतर और बाहर के ये सभी कर्म प्रारंभ किये जाते और जारी रखे जाते प्रतीत होते हैं। उसके साथ ही, दूसरी तरफ वह एक कर्त्री शक्ति से या कार्यप्रक्रिया की शक्ति से सचेतन होता है जो सभी कल्पनीय क्रियाओं को गठित, प्रेरित और परिचालित करती है और गोचर एवं अगोचर अगणित पदार्थ उत्पन्न करती है तथा अपनी अविरत कर्मधारा और सृष्टि-प्रवाह के स्थिर आधारों के तौर पर उन्हें प्रयोग में लाती दिखाई देती है। साक्षि-चेतना में एकांतभाव से प्रवेश करके वह शांत, निर्लिप्त तथा निश्चल हो जाता है। वह देखता है कि अब तक वह प्रकृति की गतियों को निष्क्रिय भाव में प्रतिबिंबित करता आया है और फिर पीछे उन्हीं को अपनी मान लेता रहा है; तथाच, इसी प्रतिबिंबित करने की क्रिया के कारण ही उन्हें उसकी अन्तरस्थ साक्षी आत्मा से एक आध्यात्मिक सा मूल्य और महत्त्व प्राप्त हो गया है। परंतु अब उसने वह अध्यारोप या प्रतिबिंबात्मक तादात्म्य वापिस ले लिया है। वह केवल अपनी शांत आत्मा से ही सचेतन है और उसके चारों ओर जो गतिशील है उस सबसे वह विलग है। सब चेष्टाएं उसके बाहर ही हो रही हैं और उनकी अंत-

रीय वास्तविकता की एकदम इति हो गई है। अब तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों वे एक यंत्र पर आरूढ़ हैं और वह उनसे अनासक्त होकर उन्हें समाप्त कर सकता है। केवल राजसिक गति में प्रवेश करने पर उसे एक विपरीत प्रकार का आत्म-ज्ञान होता है। स्वयं अपने विषय में उसे ऐसा अनुभव होता है मानों वह क्रियाओं का एक पुंज और शक्तियों की रचना एवं परिणाम है; यदि इस सब प्रपंच के बीच कोई सक्रिय चेतना अथवा यहां तक कि किसी प्रकार का गतिशील पुरुष हो भी सही तो भी इसमें स्वतंत्र आत्मा तो कहीं नहीं है। सत्ता की ये दो विभिन्न और विरोधी अवस्थाएं उसमें बारी बारी से आती हैं अथवा युगपत् एक दूसरे के आमने-सामने ही आ उपस्थित होती हैं। एक तो आंतर सत्ता में प्रशांत रहकर निरीक्षण करती है, किंतु चलायमान नहीं होती और प्रकृति की क्रिया में भाग नहीं लेती; दूसरी किसी बाह्य या तलवर्त्ती आत्मा में सक्रिय रहती हुई अपनी अभ्यस्त गतियां जारी रखती है। उसने पुरुष-प्रकृति के महान् द्वैत के एक तीव्र पृथक्कारक अनुभव में प्रवेश पा लिया है।

परंतु जैसे जैसे चेतना गभीर होती है, वैसे वैसे वह इस बात से सचेतन होता जाता है कि यह केवल एक प्रारंभिक संमुखीन प्रतीति है। उसे विदित हो जाता है कि उसकी अंतःस्थित साक्षी आत्मा के प्रशान्त अवलंबन के द्वारा अथवा उसकी स्वीकृति या अनुमति से ही यह कार्यवाहिका प्रकृति उसकी सत्ता पर घनिष्ठता या दृढ़ता से कार्य कर सकती है। यदि आत्मा अपनी अनुमति वापिस ले ले तो भी प्रकृति की गतियां सर्वथा यंत्रवत् बार बार होती ही रहती हैं। प्रारंभ में ये जबर्दस्त होती हैं मानों अब भी बलात् अपना अधिकार जमाने का यत्न कर रही हों, पर बाद में इनकी सक्रियता और वास्तविकता न्यूनातिन्यून हो जाती है। स्वीकृति या अस्वीकृति की इस शक्ति का अधिक सक्रिय प्रयोग करने पर वह देखता है कि प्रकृति की गतियों को वह पहले तो धीमे धीमे तथा अनिश्चित रूप से और पीछे अधिक निश्चित तौर पर परिवर्त्तित कर सकता है। अंत में उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि इस साक्षी आत्मा में या इसके पीछे एक ज्ञाता और अधिष्ठाता संकल्प विराजमान है जो प्रकृति में क्रिया कर रहा है। उसे उत्तरोत्तर ऐसा भासित होता है कि प्रकृति के सब व्यापार उस चीज की अभिव्यक्तियां हैं जिसे प्रकृति की सत्ता का यह ईश्वर जानता हैं और जिसके लिये यह या तो सक्रिय संकल्प करता है या निष्क्रिय अनुमति देता है। अब उसे प्रतीत होता है कि स्वयं प्रकृति भी यांत्रिक इसी अंश में है कि इसके व्यापार सावधानता से व्यवस्थित किये हुए दिखाई देते हैं, परंतु वास्तव में यह एक चिन्मय शक्ति है जिसके अंदर एक आत्मा है, जिसकी प्रवृत्तियों में एक आत्मसचेतन आशय है और जिसकी गतिविधियों तथा रचनाओं में एक गुप्त संकल्प एवं ज्ञान का प्रकाश अभिव्यक्त होता है। यह द्वैत, पक्षतः भिन्न होने पर भी, अपने आप में अविच्छेद्य है; जहां जहां प्रकृति है वहां वहां पुरुष है, जहां जहां पुरुष वहां वहां प्रकृति। अपनी निष्क्रियता में भी वह प्रकृति की संपूर्ण शक्ति एवं बलों को, प्रयोग के लिये तैयार अवस्था में, अपने अंदर धारण किये होता है। प्रकृति कर्म के वेग में भी अपने सर्जनोद्देश्य के संपूर्ण आधार तथा आशय के रूप में पुरुष की समस्त निरीक्षक और आदेशात्मक चेतना को अपने साथ लिये फिरती है। एक बार फिर जिज्ञासु अपने अनुभव से जान लेता है कि 'एकं सत्' के दो ध्रुव हैं और इनकी परस्परसंबद्ध ऋण-धनात्मक शक्ति की दो दिशाएं या धाराएं हैं जो एक दूसरे के साथ मिलकर 'सत्' के

अंतर्निहित वस्तुमात्र की अभिव्यक्ति संपादित करती हैं। यहां भी वह देखता है कि भेदात्मक रूप मोक्षजनक है; यह उसे उस बंधन से मुक्त कर देता है जो अविद्या में प्रकृति की दोषपूर्ण क्रियाओं के साथ एकाकारता स्थापित करने से पैदा होता है। एकीकारक रूप क्रियाशील और फलोत्पादक है; यह उसे प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करने का सामर्थ्य देता है। प्रकृति के अंदर जो चीज कम दिव्य या प्रत्यक्षतः अदिव्य है उसे त्यागकर वह अपने अंदर इसके आकारों और गतियों को एक महत्तर जीवन के उत्कृष्टतर आदर्श तथा उसके विधान एवं लयताल के अनुसार फिर से गढ़ सकता है। एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तर-विशेष पर यह द्वैत और भी अधिक पूर्णता के साथ एक चिच्छक्तिमय परम आत्मा का द्विक बन जाता है। इसकी शक्तिमत्ता किन्हीं भी बाधाओं को नहीं मानती और प्रत्येक सीमा को तोड़ डालती है। इस प्रकार पुरुष-प्रकृति का यह द्वैत, जो पहले भेदयुक्त प्रतीत होता था पर अब द्वयात्मक अनुभव होता है, उसके समक्ष अपने अशेष सत्यसहित इस रूप में प्रकाशित हो जाता है कि यह सब आत्माओं की आत्मा, सत्ता के स्वामी और यज्ञ के ईश्वर का द्वितीय महान्, यंत्रात्मक और कार्यसाधक रूप है।

भगवत्प्राप्ति की इनसे भिन्न एक तीसरी दिशा में जिज्ञासु के सामने एक और, इनसे मिलता जुलता पर पक्षतः विभिन्न, द्वैत उपस्थित होता है जिसमें द्वयात्मक स्वरूप अधिक शीघ्रता से प्रत्यक्ष होता है। वह ईश्वर और शक्ति का क्रियाशील द्वैत है। एक तरफ तो जिज्ञासु को अनंत और स्वयंभू देवाधिदेव के उस सत्तात्मक रूप का ज्ञान होता है जिसमें वह देव सब वस्तुओं को सत्ता की अनिर्वचनीय गर्भावस्था में धारण करता है, सब आत्माओं की आत्मा और सब जीवों का जीव है, सब पदार्थों का आध्यात्मिक पदार्थ और निर्वैयक्तिक अकथनीय सत् है; पर साथ ही वह एक असीम व्यक्ति भी है जो यहां अगणित व्यक्तित्वों में अपने को आप ही प्रकट करता है, वह ज्ञान का स्वामी, बलों का स्वामी, प्रेम, आनंद और सौंदर्य का ईश्वर, सब लोकों का एक ही उद्गम, आत्म-अभिव्यंजक और आत्म-सर्जक है, विश्वात्मा, विश्व-मन तथा विश्व-प्राण है, वह एक चेतन और सजीव सद्वस्तु है और इस दृश्य जगत् को, जो अचेतन एवं निर्जीव जड़तत्त्व प्रतीत होता है, आश्रय प्रदान करता है। दूसरी तरफ उसे देवाधिदेव के उस रूप का भी ज्ञान होता है जो कार्य-निष्पादक चिच्छक्ति से संपन्न है। वह चिच्छक्ति एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्ति के रूप में प्रकट की गई है जो अपने भीतर सब कुछ धारण और वहन करती है और उस सब कुछ को विश्वगत देशकाल में अभिव्यक्त करने के लिये नियुक्त है। उसे प्रत्यक्ष हो गया है कि यहां एक परम और अनंत सत् है जो अपने दो भिन्न पार्श्वों में हमारे सामने प्रकट है और उन पार्श्वों का एक दूसरे के साथ सीधे और उलटे का संबंध है। उस सत्स्वरूप देवाधिदेव में सभी कुछ तैयार या पूर्व-वर्तमान है और वह उससे प्रादुर्भूत तथा उसके संकल्प और उपस्थिति के द्वारा धारित होता है। शक्ति-स्वरूप देवाधिदेव सबको प्रकट करता है और फिर यहां गति में वहन भी करता है। उसी शक्ति से और उसी शक्ति में सब कुछ संभूत होता तथा क्रिया करता है और अपने वैयक्तिक या सार्वभौम प्रयोजन को विकसित करता है। यह अभिव्यक्ति के लिये आवश्यकीय एक और द्वैत है। यह शक्ति की उस द्विगुण धारा को उत्पन्न करता तथा समर्थ बनाता है जो जगत् के व्यापारों के लिये सदैव आवश्यक प्रतीत होती है। शक्ति की ये धाराएं एक ही सत्ता के दो ध्रुव हैं, परंतु द्वैत के इस रूप में ये ध्रुव एक दूसरे के अधिक निकट हैं तथा प्रत्येक दूसरे

की शक्ति को अपने सारतत्त्व तथा सक्रिय प्रकृति में सदैव सुस्पष्ट रूप से धारण करता है। इस तथ्य के बल पर कि दिव्य परम रहस्य के दो महान् तत्त्व—वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक अथवा सगुण और निर्गुण—यहां परस्पर एकीभूत हैं, सर्वांगीण सत्य का अन्वेषक ईश्वर-शक्ति के द्वैत में अपने आपको दिव्य परात्परता और अभिव्यक्ति के उस परम रहस्य के निकट अनुभव करता है जो किसी अन्य अनुभव के द्वारा प्रस्तुत रहस्य की अपेक्षा अधिक अंतरंग और चरम है।

ईश्वरी शक्ति, भागवती चिच्छक्ति एवं जगज्जननी, सनातन 'एक' और व्यक्त 'बहु' के बीच मध्यस्था बनती है। एक तरफ तो यह एकमेव से लाई शक्तियों की क्रीड़ा द्वारा, अपने व्यक्तीकारक तत्त्व में 'एक' की अनंत आकृतियों को तिरोभूत रखती और उसी में से उन्हें आविर्भूत करती हुई, विश्व में बहुगुणित भगवान् को प्रकट करती है। दूसरी तरफ उन्हीं शक्तियों की पुनरारोहणकारिणी धारा से वह सब वस्तुओं को 'तत्' में, जिससे वे निर्गत हुई हैं, वापिस ले जाती है, इसलिये कि आत्मा अपनी विकासशील अभिव्यक्ति में वहां भगवान् की ओर अधिकाधिक लौट सके अथवा यहां अपना दिव्य स्वरूप धारण कर सके। यद्यपि प्रकृति संसार के यंत्रवत् चलने की क्रिया को आयोजित करती है तो भी उसका वास्तविक रूप यह नहीं कि वह निश्चेतन तथा यंत्रवत् कार्य-निष्पादन करनेवाली शक्ति है, जैसा कि उसके बाह्याकार पर प्रथम दृष्टि डालते ही हम अनुभव करते हैं; न ही उसमें वह 'मिथ्यात्व' का धर्म है जो 'माया'-विषयक हमारी प्रथम धारणा के साथ जुड़ा रहता है, अर्थात् यह धर्म कि वह भ्रमों या अर्ध-भ्रमों की सृष्टि करनेवाली है। अनुभवित्री आत्मा को यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि यहां एक चिन्मय शक्ति है जिसका सारतत्त्व और स्वभाव वही है जो परमदेव का है क्योंकि वह इसी से प्रकट हुई है। यदि ऐसा लगता है कि उसने हमें अविद्या और निश्चेतना में डुबा दिया है,—किसी ऐसी योजना की पूर्त्ति के लिये जिसे हम अभी समझ नहीं पाते,—यदि उसकी शक्तियां हमें विश्व की इन सब अनिश्चित शक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं तो भी, यह पता चलते देर नहीं लगती कि वह हमारे अंदर दिव्य चेतना के विकास के लिये कार्य कर रही है और ऊपर स्थित होकर वह हमें अपनी उच्चतर सत्ता की ओर खींच रही है तथा दिव्य ज्ञान, संकल्प एवं आनंद के वास्तविक सार को हमारे सम्मुख अधिकाधिक प्रकट कर रही है। अज्ञान की गतियों में भी जिज्ञासु की आत्मा को यह अनुभव हो जाता है कि प्रकृति का सचेतन मार्गनिर्देश उसके पगों को अवलंब दे रहा है और उन्हें शनैः शनैः या शीघ्रता से, सीधे रास्ते या बहुत घुमाफिराकर, अंधकार से महत्तर चेतना के प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर और अशुभ एवं दुःख से उस शुभ और सुख की ओर ले जा रहा है, जिनकी उसका मानवीय मन अभी एक धुंधली सी कल्पना ही कर सकता है। इस प्रकार उसकी शक्ति एक साथ मोक्षप्रद तथा गतिशील, सर्जनकारी एवं कार्यक्षम है,—वस्तुएं जैसी आज हैं, केवल उन्हीं की नहीं बल्कि जो आगे पैदा होने को हैं उनकी भी वह रचना करती है। अज्ञान के तत्त्व से निर्मित उसकी निम्नतर चेतना की टेढ़ी-मेढ़ी और उलझी गतियों को बहिष्कृत कर वह उसकी आत्मा और प्रकृति को फिर से उच्चतर दैवी प्रकृति के सत्त्व और बलों में गढ़ती और नया बनाती है।

इस द्वैत में भी भेदात्मक अनुभव संभव है। इसके एक सिरे पर जिज्ञासु केवल सत्ता के उस स्वामी से सचेतन हो सकता है जो उसे मुक्त और दिव्य बनाने के लिये उसके अंदर अपने ज्ञान, शक्ति और आनंद के सामर्थ्य बलपूर्वक उंडेल रहा है; शक्ति उसे इन ज्ञान आदि

का द्योतक निर्वैयक्तिक बल या ईश्वर का गुणमात्र प्रतीत हो सकती है। दूसरे सिरे पर वह विश्व की स्रष्ट्री उस जगज्जननी से मिलन प्राप्त कर सकता है जो अपने आत्म-तत्त्व में से देवताओं और लोकों और सब पदार्थों और सत्ताओं को उत्पन्न करती है। अथवा यदि वह ये दोनों ही रूप देखता है तो वह इन्हें एक असमं एवं विभेदक दृष्टि से ही देख सकता है, एक को दूसरे के अधीन कर देता है, शक्ति को ईश्वर के पास पहुंचने का साधनमात्र समझता है। इसके परिणामस्वरूप एक एकांगी प्रवृत्ति पैदा होती हैं अथवा समतोलता नष्ट हो जाती है; अर्थात् कार्यनिष्पादन का जो बल प्राप्त होता है वह अपने आधार पर सुप्रतिष्ठित नहीं होता अथवा ईश्वरीय सत्य का जो प्रकाश उपलब्ध होता है वह पूर्णतः क्रियाशील नहीं होता। जब इस द्वैत के दोनों पक्षों का पूर्ण मिलन साधित हो जाता है और वह उसकी चेतना पर अधिकार कर लेता है तब जिज्ञासु उस पूर्णतर शक्ति के प्रति उद्घाटित होने लगता है जो उसे यहां के विचारों और बलों के अस्तव्यस्त संघर्ष से सर्वथा बाहर निकालकर उच्चतर सत्य में ले जायगी और इस अविद्यामय जगत् को प्रकाशयुक्त और मुक्त करने तथा इसपर प्रभुत्वपुर्ण ढंग से क्रिया करने के लिये उस सत्य के अवतरण को संभव बना देगी। उसने अब सर्वांगीण रहस्य को स्पर्श करना प्रारंभ कर दिया है। यह रहस्य अपने पूर्ण रूप में तभी अधिगत हो सकता है जब वह मूल अज्ञान के साथ जटिलतापूर्वक गुंथे हुए ज्ञान के उस दोहरे स्तर को लांघ जाता है जिसका यहां राज्य छाया हुआ है और जब वह उस सीमा को पार कर लेता है जहां आध्यात्मिक मन अतिमानसिक विज्ञान में विलीन हो जाता है। एकमेव के इस तीसरे तथा अत्यंत क्रियाशील द्वैत-पक्ष के द्वारा ही जिज्ञासु यज्ञ-महेश्वर की सत्ता के गहनतम रहस्य में अत्यंत सर्वांगीण पूर्णता के साथ प्रवेश करने लगता है।

कारण, जीवन की पहेली का हल जैसे इस रहस्य में छिपा है कि अचित् में से चेतना, प्राणहीन में से प्राण और जड़प्रकृति में से आत्मा प्रकट होती है वैसे ही यह इस रहस्य के पीछे भी छिपा है कि इस आपाततः निर्वैयक्तिक विश्व में भी व्यक्तित्व उपस्थित है। यहां फिर एक और क्रियाशील द्वैत विद्यमान है जो प्रथम दृष्टि में जैसा दिखाई देता है उससे कहीं अधिक व्यापक है और जो शनैः शनैः आत्म-प्रकाश करनेवाली शक्ति की लीला के लिये नितांत आवश्यक है। अपनी अध्यात्म-अनुभूति में जिज्ञासु के लिये यह संभव है कि वह द्वैत के एक ध्रुव पर खड़ा होकर विराट् मन का अनुसरण करता हुआ सभी जगह मूलभूत निर्वैयक्तिकता के ही दर्शन करे। कारण, जड़ जगत् में विकासोन्मुख आत्मा एक ऐसी बृहत् निर्वैयक्तिक निश्चेतना से प्रारंभ करती है जिसमें हमारी अंतर्दृष्टि को तब भी एक प्रच्छन्न अनंत आत्मा की उपस्थिति दिखाई देती है। फिर यह उस अनिश्चित चैतन्य और व्यक्तित्व के प्रादुर्भाव के साथ साथ आगे बढ़ती है जो अपनी पूर्णतम अवस्था में भी एक उपाख्यान से प्रतीत होते हैं–एक ऐसा उपाख्यान जो अविच्छिन्न धारा के रूप में बराबर ही चलता रहता है। बाद में, यह जीवन के अनुभव द्वारा मन से ऊपर उठकर एक अनंत, निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष अतिचेतना में जा पहुंचती है जहां व्यक्तित्व, मनश्चेतना, प्राण-चेतना–सभी निर्वाण या मोक्षकारक नास्ति के कारण अंतर्धान होते जान पड़ते हैं। इससे निचले शिखर पर जिज्ञासु इस आधारभूत निर्वैयक्तिकता को अब भी यों अनुभव करता है कि यह सभी जगह एक बड़ी भारी मोक्षप्रद शक्ति है। यह उसके ज्ञान को वैयक्तिक मन की संकीर्णता से मक्त कर देती है, उसके संकल्प को वैयक्तिक कामना के पंजे से, उसके हृदय को क्षुद्र विकारी

भावों के बंधन से, उसके प्राण को उसकी तुच्छ निजी प्रणाली से और उसकी आत्मा को अहं-बुद्धि से मुक्त कर देती है। यह उन्हें शांति, समता, विशालता एवं सार्वभौमता प्रदान करती है और साथ ही अनंतता का आलिंगन करने की स्वतंत्रता भी। ऐसा प्रतीत होगा कि कर्मयोग के लिये व्यक्तित्व एक आवश्यक तत्त्व है, मानों यह उसका मुख्य अवलंब तथा उद्गम-सा है। परंतु यहां भी पता चलता है कि निर्वैयक्तिक एक अत्यंत प्रत्यक्ष मोक्षकारक शक्ति है, क्योंकि एक विशाल अहं-रहित निर्वैयक्तिकता से ही मनुष्य स्वतंत्र कर्त्ता और दिव्य स्रष्टा बन सकता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि द्वैत के निर्वैयक्तिक ध्रुव से प्राप्त इस अनुभव के दुर्दम प्रभाव के द्वारा प्रेरित होकर ही ऋषियों ने यह घोषणा कर दी हो कि बस यही एक मार्ग है और निर्वैयक्तिक अतिचेतना ही सनातन का अनन्य सत्य है।

परंतु इस द्वैत के विपरीत ध्रुव पर स्थित जिज्ञासु को अनुभव की एक अन्य ही दिशा दिखाई देती है जो हमारे हृदय के मूल तथा हमारी ठेठ जीवन-शक्ति में गहरे जमे हुए अन्तर्ज्ञान को प्रमाणित करती है। वह यह है कि निर्वैयक्तिक सनातनता में व्यक्तित्व चेतना, प्राण और आत्मा की तरह थोड़े दिनों का मेहमान नहीं है, वरंच इसमें तो सत्ता का वास्तविक मर्म निहित है। विराट् शक्ति के इस सुन्दर पुष्प को विश्व-प्रयास के लक्ष्य का पूर्वाभास तथा इसके वास्तविक आशय की झलक प्राप्त है। जैसे ही जिज्ञासु में गुह्य नेत्र खुलता है, उसे पीछे अवस्थित लोकों का ज्ञान होता है जिनमें चैतन्य और व्यक्तित्व बहुत बड़ा स्थान रखते हैं तथा प्रथम महत्त्व की वस्तु बन जाते हैं। यहां स्थूल जगत् में भी इस गुह्य दृष्टि के लिये जड़तत्त्व की निश्चेतना एक गुप्त व्यापक चेतना से भर उठती है, इसकी निर्जीवता स्पंदनशील जीवन को बसाये हुई है और इसकी यांत्रिक प्रणाली एक अंतर्वासी प्रज्ञा का कौशल है, क्योंकि ईश्वर और जीव सभी जगह हैं। सबसे ऊपर वह अनंत चिन्मय पुरुष है जिसने अपने आपको इन सब लोकों के अंदर नाना रूपों में प्रकट कर रखा है। निर्वैयक्तिकता तो उसके प्राकट्य का केवल एक प्रथम साधन है। यह मूल तत्त्वों तथा शक्तियों का क्षेत्र है और अभिव्यक्ति का एक सम आधार है। परंतु वे शक्तियां अपने आपको सत्ताओं के द्वारा प्रकट करती हैं और सचेतन आत्माएं उनके अधिष्ठातृ-देवता हैं। वे उस चिन्मय पुरुष की, जो उनका मूलस्रोत है, अंशविभूतियां हैं। नानारूप अगणित व्यक्तित्व, जो उस एकमेव को प्रकट करता है, अभिव्यक्ति का वास्तविक आशय और प्रधान उद्देश्य है। आज यदि व्यक्तित्व संकुचित, खण्डित तथा प्रतिबंधक प्रतीत होता है तो इसका कारण यही है कि यह अपने उद्गम की ओर नहीं खुला है अथवा अपने को विराट् तथा अनंत से परिपूरित करके अपने दैवी सत्य और पूर्णत्व में कुसुमित नहीं हुआ है। इस प्रकार यह सृष्टि-रचना कोई भ्रम या आकस्मिक यांत्रिक-संयोग नहीं है, कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसके होने की जरूरत नहीं थी; यह कोई निष्फल प्रवाह नहीं है, बल्कि सचेतन और जीवंत सनातन की प्रगाढ़ गतिशीलता है।

एक ही सत्ता के दो सिरों से दिखाई देनेवाला यह दृश्यगत आत्यंतिक विरोध पूर्णयोग के जिज्ञासु के सामने कोई मौलिक कठिनाई नहीं पैदा करता। उसके संपूर्ण अनुभव ने उसे दिखा दिया है कि इन युगलरूप अवस्थाओं और इनकी शक्तियों की परस्परसंबद्ध ऋण-योगात्मक धाराओं की इसलिये आवश्यकता है कि एकमेव सत्ता के भीतर जो कुछ है उसकी अभिव्यक्ति साधित हो सके। स्वयं उसके लिये व्यक्तित्व और अव्यक्तित्व उसके आध्यात्मिक आरोहण के हितार्थ

दो पंख रहे हैं और उसे यह भाविदृष्टि प्राप्त हो गई है कि वह एक ऐसी चोटी पर पहुंचेगा जहां उनकी साहाय्यप्रद परस्परक्रिया उनकी शक्तियों के सम्मिलन का रूप ले लेगी और एक अखण्ड सद्वस्तु को आविर्भूत करेगी तथा भगवान् की आद्या शक्ति को क्रिया में प्रवृत्त कर देगी। सत्ता के मूलभूत पक्षों में ही नहीं बल्कि अपनी साधना की संपूर्ण प्रक्रिया में भी उसने उनका दोहरा सत्य तथा परस्परपूरक व्यापार अनुभव किया है। एक निर्वैयक्तिक उपस्थिति ने उसकी प्रकृति पर ऊपर से अधिकार जमा लिया है अथवा उसके अंदर प्रविष्ट होकर उसे अपने वश में कर लिया है। एक प्रकाश ने अवतीर्ण होकर उसके मन तथा जीवनशक्ति को एवं उसके शरीर के ठेठ कोषों तक को आप्लावित कर दिया है, उन्हें ज्ञान से प्रकाशित कर दिया है और उसके अपने स्वरूप को एवं उसकी अत्यंत प्रच्छन्न तथा संदेहातीत चेष्टाओं तक को उसके आगे खोलकर रख दिया है, जो जो अज्ञान से संबंध रखता था उस सबको या तो प्रकाश में लाकर पवित्र कर दिया है, या उसे मिटा डाला है अथवा उसे एक उज्ज्वल रूप में परिणत कर दिया है। एक शक्ति उसके अंदर धाराओं में या समुद्र की भांति प्रवाहित हुई है, उसने उसकी सत्ता में तथा सभी अंगों में क्रिया की है, सभी जगह विघटन, नव-निर्माण, पुनर्गठन तथा रूपांतर किया है। एक आनंद ने उसे आक्रांत किया है और जतला दिया है कि वह दुःख-ताप को असंभव कर दे सकता है तथा स्वयं पीड़ा को भी दिव्य सुख में बदल सकता है। एक सीमातीत प्रेम ने प्राणिमात्र से उसका संबंध जोड़ दिया है अथवा एक अभेद्य घनिष्ठता और अकथ मधुरता एवं सुन्दरता का लोक उसके सामने प्रकाशित कर दिया है और पार्थिव जीवन की विषमता के बीच भी अपने पूर्णता के विधान तथा अपने परमोल्लास को आरोपित करना आरंभ कर दिया है। एक आध्यात्मिक सत्य और ऋत ने इस संसार के शुभ और अशुभ को अपूर्णता या मिथ्यात्व का दोषी ठहराया है और एक परम शुभ एवं उसके सूक्ष्म सामंजस्य-सूत्र का तथा उसके द्वारा कर्म, अनुभूति और ज्ञान के उन्नयन का रहस्य खोल दिया है। परंतु इन सबके पीछे तथा इनके अंदर उसने एक देव को अनुभव किया है जो ये सभी चीजें है,—जो प्रकाश का दाता, मार्गदर्शक, सर्वज्ञ, शक्ति का स्वामी, आनंददाता, सखा, सहायक, पिता, माता, संसार-क्रीड़ा में खेल का साथी, उसकी सत्ता का परम प्रभु, उसकी आत्मा का प्रियतम और प्रेमी है। भगवान् के साथ आत्मा के संपर्क में वे सभी संबंध विद्यमान रहते हैं जिनसे मानव व्यक्ति परिचित है; किंतु वे अतिमानवीय स्तरों पर पहुंच जाते हैं और उसे दिव्य प्रकृति धारण करने के लिये बाध्य कर देते हैं।

जिस चीज की हम खोज कर रहे हैं वह पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण शक्ति, है और साथ ही सत्ता के मूल में अवस्थित 'सर्व' एवं अनंत के साथ मिलन की परिपूर्ण विपुलता है। पूर्णयोग के जिज्ञासु के लिये कोई भी एक अनुभव या कोई भी एक भागवत पथ सनातन देव के ऐकान्तिक सत्य का रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे वह मानव मन के लिये कितना भी अभिभूतकारी, उसकी क्षमता के लिये कितना भी पर्याप्त और एकमात्र या चरम सद्वस्तु के रूप में कितनी भी सुगमतया स्वीकार्य क्यों न हो। भागवत एकत्व के चरम-परम अनुभव का और भी अधिक प्रगाढ़ आलिंगन तथा यथेष्ट अवगाहन वह केवल तभी कर सकता है यदि वह भागवत बहुत्व के अनुभव का पूर्ण रूप से अनुसरण करे। बहुदेवतावाद और एकदेवतावाद के पीछे जो कुछ भी सत्य है वह सब उसकी खोज के क्षेत्र के भीतर आ जाता है; परंतु मानव मन के निकट इनका जो स्थूल अर्थ है उसे लांघकर वह भगवान् के भीतर निहित इनके गुह्य सत्य को पकड़ पाता

है। वह देख लेता है कि कलहायमान संप्रदायों और दर्शनों का लक्ष्य क्या है और सद्वस्तु के प्रत्येक पार्श्व को वह उसके अपने स्थान में स्वीकार करता है। किंतु उनकी संकीर्णता और भ्रांतियों को तजकर वह तब तक आगे बढ़ता जाता है जब तक वह उस एकमेव सत्य को ही नहीं ढूंढ़ लेता जो उन्हें एक साथ बांधे हुए है। मानवानुरूप-ईश्वरवाद (Anthropomorphism) एवं मनुष्य-पूजा की निन्दा उसे विचलित नहीं कर सकती, क्योंकि वह देखता है कि ये तो उस अज्ञ तथा गर्वित तर्कबुद्धि या विश्लेषक मन के पक्षपात हैं जो अपने संकुचित क्षेत्र में अपनी ही धुरी के चारों ओर घूमता रहता है। यद्यपि मानवीय संबंध, जैसे कि ये आज मनुष्य द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं, तुच्छता, विकार और अज्ञान से पूर्ण हैं तो भी ये भगवान् की ही किसी वस्तु के विरूप प्रतिबिंब हैं और इन्हें भगवान् की ओर फेरकर वह उसे पा लेता है जिसके ये प्रतिबिंब हैं और उसे जीवन में अपनी अभिव्यक्ति करने के लिये नीचे उतार लाता है। मनुष्य ही के द्वारा, जब कि वह अपने आपको अतिक्रान्त करके परम पूर्णत्व की ओर उद्घाटित हो जाता है, भगवान् अपने को यहां व्यक्त करते हैं। आध्यात्मिक विकास के क्रम और प्रक्रिया में ऐसा होना अनिवार्य ही है। अतएव वह ईश्वर को मानव-शरीर धारण किये देखकर, **मानुषीं तनुमाश्रितम्**, उससे घृणा नहीं करेगा, न उसके प्रति अपने को अंधा ही बना लेगा। ईश्वर-विषयक सीमित मानवीय धारणा को पारकर वह एकमेव दिव्य सनातन के विचार पर पहुंच जायगा। परंतु वह देवताओं के—सनातन के उन वैश्व व्यक्तित्वों के जो जगत्-क्रीड़ा को आश्रय देते हैं,—रूपों में भी उस सनातन का साक्षात् करेगा और विभूतियों—देहधारी जगत्-शक्तियों या मानव-नायकों—के आवरण के पीछे भी उसे पहचानेगा, गुरु में भी उसका आदर और आज्ञापालन करेगा और अवतार में भी उसकी पूजा करेगा। यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति से मिल सके जो उस 'तत्' को उपलब्ध कर चुका है या वही 'तत्' बन रहा है जिसकी वह स्वयं खोज कर रहा है और यदि 'तत्' की अभिव्यक्ति के इस आधार में उसकी ओर खुलकर वह स्वयं भी उसे उपलब्ध कर सके तो इसे वह अपना परम सौभाग्य मानेगा। कारण, वह एक विकसनशील परिपूर्णता का अत्यंत स्पष्ट चिह्न होता है और साथ ही जड़तत्त्व में उस बृद्धिशील अवतरण के महत् रहस्य का आश्वासन होता है जो स्थूल सृष्टि का गुप्त तात्पर्य है और पार्थिव सत्ता की सार्थकता है।

यज्ञ की प्रगति में यज्ञ का अधीश्वर जिज्ञासु के सामने अपने को इस प्रकार प्रकट करता है। यह प्राकटच किसी भी स्थिति में प्रारंभ हो सकता है; किसी भी रूप में कर्म का स्वामी उसके अंदर कर्म को अपने हाथ में ले सकता है और अपनी उपस्थिति को निरावृत करने के लिये उसपर तथा कर्म पर उत्तरोत्तर दबाव डाल सकता है। समय आने पर सभी रूप अपने आपको प्रकाशित करते हैं, एक-दूसरे से वियुक्त और संयुक्त होते हैं, घुलते-मिलते और एक हो जाते हैं। अंत में इस सबमेंसे वह परम सर्वांगीण सद्वस्तु उद्भासित हो उठती है जो मन के लिये अज्ञेय है क्योंकि मन अज्ञान का अंग है, पर जो फिर भी ज्ञेय है क्योंकि अध्यात्म-चेतना और अतिमानसिक ज्ञान के प्रकाश में वह आत्म-सचेतन है।

★

यज्ञ का प्रथम लक्ष्य और इसकी चरम सफलता की शर्त है—सर्वोच्च सत्य या सर्वोच्च सत्, चित्, शक्ति, आनंद और प्रेम का दिव्य दर्शन—उन सत्य आदि का जो निर्वैयक्तिक भी हैं और वैयक्तिक भी और अतएव हमारी सत्ता के दोनों पार्श्वों को,—क्योंकि हमारे अंदर भी

तो व्यक्तित्व, और अव्यक्तित्वमय तत्त्वों तथा शक्तियों का समुदाय अस्पष्ट रूप से मिले हुए हैं,–ऊंचा उठा ले जाते हैं। यज्ञ की सफलता का रूप यह होता है कि जो 'तत्' हमारी दृष्टि और अनभूति के समक्ष इस प्रकार व्यक्त होता है उसके साथ हम अपनी सत्ता का मिलन प्राप्त कर लेते हैं। यह मिलन तीन प्रकार का होता है। एक तो आध्यात्मिक सारतत्त्व में तादात्म्य, दूसरा इस परमोच्च सत्ता और चेतना में हमारी आत्मा का अंतर्वास, तीसरा 'तत्' और हमारी ऐहिक यंत्रात्मक सत्ता में प्रकृतिगत साधर्म्य या एकत्वरूपी सक्रिय मिलन। पहला अज्ञान से मोक्ष और सत्य तथा सनातन से सायुज्य है जो ज्ञानयोग का विशेष लक्ष्य है। दूसरा, आत्मा का भगवान् के साथ या उसके अंदर निवास, सामीप्य और सालोक्य है, यह सब प्रकार के प्रेम-योग एवं आनंद-योग की बलवती आशा है। तीसरा, प्रकृति में एकरूपता या भगवत्साधर्म्य, अर्थात् वैसा ही पूर्ण बनना जैसा पूर्ण 'वह' है,–यह शक्ति एवं पूर्णता के या दिव्य कर्मों तथा सेवा के सभी योगों का उच्च उद्देश्य है। तीनों की सम्मिलित पूर्णता,–जो यहां आत्म-अभिव्यंजक भगवान् की बहुगुणित एकता पर आधारित होती है,–सर्वांगीण योग की परिणति है, इसके त्रिविध पथ का लक्ष्य तथा इसके त्रिविध यज्ञ का फल है।

तादात्म्य-रूप मिलन हमें उपलब्ध हो सकता है, अर्थात् हमारी सत्ता के उपादान का उस परम आत्मिक उपादान में, हमारी चेतना का उस दिव्य चेतना में, हमारी आत्म-स्थिति का आध्यात्मिक परमानंद की उस मस्ती में अथवा सत्ता के उस शांत शाश्वत आनंद में मोक्ष तथा रूपांतर साधित हो सकता है। भगवान् में प्रकाशमय अंतर्निवास हम प्राप्त कर सकते हैं; इससे हम अंधकार तथा अज्ञान की इस निम्नतर चेतना में किसी प्रकार के पतन या निर्वासन से सुरक्षित रहेंगे और हमारी आत्मा प्रकाश, हर्ष, स्वातंत्र्य और एकत्व के अपने स्वाभाविक लोक में स्वतंत्रता तथा स्थिरतापूर्वक विचरण करेगी। यह अन्तर्निवास हमें किसी अन्य पारलौकिक जीवन में ही प्राप्त नहीं करना है वरन् इसे यहां भी खोजना और उपलब्ध करना है, और ऐसा तभी हो सकता है यदि एक अवतरण संपन्न हो, भागवत सत्य को यहां उतार लाया जाय और आत्मा के उस निज धाम को यहां प्रतिष्ठित किया जाय जो प्रकाश, हर्ष, स्वतंत्रता और एकता का धाम है। हमारी आत्मा और चेतन तत्त्व के समान ही जब हमारी करणात्मक सत्ता भी मिलन लाभ कर लेगी, तब हमारी अपूर्ण प्रकृति दैवी प्रकृति के साक्षात् रूप और प्रतिमूर्त्ति में परिणत हो जायगी। इसे अज्ञान की अंध, कुंठित, पंगु और विषम चेष्टाओं को तजकर ज्योति, शांति, आनंद, सामंजस्य, सार्वभौमता, प्रभुता, पवित्रता और पूर्णता का स्वभाव धारण करना होगा। इसे अपने आपको दिव्य ज्ञान के पात्र में, सत्ता की दिव्य संकल्प-शक्ति और बल के यंत्र में तथा दिव्य प्रेम, आनंद और सौन्दर्य के स्रोत में रूपांतरित कर देना होगा। यह है वह रूपांतर जो हमें संपन्न करना होगा, अपनी कालबद्ध सांत सत्ता को सनातन और अनन्त के साथ योगयुक्त करके हमें उस सबको, जो कुछ कि हम इस समय हैं या प्रतीत होते हैं, पूर्णरूप से रूपांतरित करना होगा।

यह सब कठिन परिणति तभी संभव हो सकती है यदि हमारी चेतना का एक महान् परिवर्तन तथा आमूलचूल विपर्यय और हमारी प्रकृति का एक अलौकिक समग्र रूपांतर संपन्न हो जाय। संपूर्ण सत्ता को आरोहण करना होगा, इहलोक में बंधी हुई और अपने करणोपकरणों तथा अपने चतुःपार्श्व से जकड़ी हुई आत्मा को ऊर्ध्वस्थ स्वतंत्र शुद्ध आत्मा की ओर आरोहण करना होगा, जीव को किसी आनंदमय अति-जीव की ओर, मन को किसी प्रकाशमय

अतिमानस की ओर तथा प्राण को किसी बृहत् अति-प्राण की ओर आरोहण करना होगा; यहां तक कि हमारे शरीर को भी अपने उद्गम से मिलने के लिये एक शुद्ध तथा नमनीय आत्मिक उपादान की ओर आरोहण करना होगा। यह आरोहण एक ही तेज उड़ान में पूरा नहीं हो सकता, बल्कि वेद में वर्णित यज्ञ के आरोहण की भांति यह एक शिखर से दूसरे शिखर पर आरोहण होता है जिसमें मनुष्य प्रत्येक चोटी से यह देखता है कि अभी ऊपर और बहुत कुछ है जिसे संपन्न करना शेष है।[1] साथ ही, ऊपर हमने जो उपलब्ध किया है उसे नीचे प्रतिष्ठित करने के लिये अवतरण का होना भी आवश्यक है। प्रत्येक शिखर को जीतने के बाद हमें इसकी शक्ति और प्रकाश को निम्नतर मर्त्य गति में उतारने के लिये लौटना होता है। ऊर्ध्व में नित्य-प्रकाशमान ज्योति की उपलब्धि के अनुरूप ही नीचे अवचेतन प्रकृति की गहनतम गुहाओं तक प्रत्येक अंग में छिपी हुई उस ज्योति का उन्मुक्त होना भी आवश्यक है। आरोहण की यह तीर्थयात्रा एवं रूपांतर के प्रयास के लिये यह अवतरण, अनिवार्य रूप से, अपने साथ तथा अपने चारों ओर की विरोधी शक्तियों के साथ एक संघर्ष होता है, एक लंबा युद्ध होता है। जब तक यह चलता रहता है तब तक स्वभावतः ही ऐसा लग सकता है कि यह कभी समाप्त होने का नहीं। क्योंकि, हमारी सारी पुरानी तमसावृत और अज्ञ प्रकृति रूपांतरकारी प्रभाव का बार बार हठपूर्वक विरोध करेगी, पारिपार्श्विक विश्वप्रकृति की अनेकों बद्धमूल शक्तियां इसकी शिथिल अनिच्छुकता या इसके सबल प्रतिरोध का पृष्ठपोषण करेंगी, अज्ञान की शक्तियां, उसकी शासक सत्ताएं और उसके अधिपति अपना राज्य आसानी से नहीं छोड़ेंगे।

प्रारंभ में दीर्घकाल के लिये एक प्रायः आयासपूर्ण तथा कष्टप्रद अवस्था आ सकती है जिसमें हमारी सत्ता की तैयारी और शुद्धि होती रहती है। यह अवस्था तब तक रहती है जब तक सारी की सारी सत्ता महत्तर सत्य और प्रकाश अथवा भागवत प्रभाव और उपस्थिति के प्रति उद्घाटित होने के लिये उद्यत और योग्य नहीं हो जाती। और जब यह केंद्रतः योग्य, उद्यत और उद्घाटित हो जाती है तब भी उस अवस्था के आने में बहुत समय लग जाता है जब हमारे मन, प्राण और शरीर की सब गतियां और हमारे व्यक्तित्व के सब बहुविध एवं संघर्षकारी अंग तथा तत्त्व रूपांतर की कठिन और कठोर प्रक्रिया को स्वीकार करने के योग्य बन जाते हैं और स्वीकार करके उसे सहन करने में भी समर्थ होते हैं। जब हम अपनी चेतना का अंतिम अतिमानसिक रूपांतर और विपर्यय करना चाहते हैं, तब अपनी सत्ता के सभी अंगों के इच्छुक रहते भी हमें वर्तमान अस्थिर सृष्टि से संबद्ध सार्वभौम शक्तियों के विरुद्ध जो संघर्ष जीतना पड़ता है वह अत्यधिक कठिन होता है। कारण, वह अतिमानसिक रूपांतर तो किसी प्रकाशयुक्त अज्ञान को नहीं वरन् भागवत सत्य को उसकी परिपूर्णता में हमारे अंदर प्रतिष्ठित करेगा जब कि ये शक्तियां केवल प्रकाशयुक्त अज्ञान को ही अधिक सुगमता से अवकाश देना चाहेंगी।

इसी लिये यह अनिवार्य है कि हम उस 'तत्' के प्रति जो हमसे परे है पूर्ण रूप से नमन और समर्पण करें। इससे उसकी शक्ति हमारे अंदर पूर्ण और स्वतंत्र रूप से क्रिया कर सकेगी। जैसे जैसे यह आत्म-दान बढ़ता है, यज्ञ का कर्म अधिक सुगम और अधिक शक्तिशाली होता

[1]यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्। ऋ० १-१०-२

जाता है और विरोधी शक्तियों की बाधा का अधिकांश बल, वेग और सत्त्व नष्ट हो जाता है। जो कुछ इस समय कठिन या अव्यवहार्य प्रतीत होता है उसे संभवनीय और यहां तक कि सुनिश्चित वस्तु में परिणत करने के लिये दो आभ्यंतर परिवर्तन अत्यधिक सहायक होते हैं। प्रथम तो अंदर की वह गुप्त अंतरतम आत्मा सामने आ जाती है जो मन की चंचल क्रियाशीलता से, हमारे प्राणिक आवेगों की हलचल से तथा भौतिक चेतना के अंधकार से आवृत थी–यही वे तीन शक्तियां हैं जिन्हें हम इस समय, इनके अस्त-व्यस्त संयोग में, अपनी आत्मा कहकर पुकारते हैं। आत्मा के सामने आने के फलस्वरूप केंद्र में एक भागवत उपस्थिति अपनी मोक्षजनक ज्योति और अमोघ शक्ति के सहित, अपेक्षाकृत निर्बाध रूप में, विकसित होने लगेगी और फिर उसकी ज्योति एवं शक्ति हमारी प्रकृति के समस्त चेतन और अवचेतन स्तरों के भीतर विकीर्ण होने लगेगी। यही दो चिह्न हैं, इनमेंसे पहला यह सूचित करता है कि परम खोज के प्रति हमारी दीक्षा और समर्पण पूर्ण हो गये हैं, दूसरा यह कि भगवान् ने हमारा यज्ञ अंतिम रूप में स्वीकार कर लिया है।

पांचवां अध्याय

यज्ञ का आरोहण (१) : : ज्ञान के कर्म–चैत्य पुरुष

इस प्रकार, यही हमारे यज्ञ के यजनीय परम और अनंत देव का आधारभूत सर्वांगीण ज्ञान है और यही त्रिविध यज्ञ अर्थात् कर्मों के यज्ञ, प्रेम और पूजा के यज्ञ एवं ज्ञान के यज्ञ का वास्तविक रूप है। कारण, जब हम केवल कर्मों के यज्ञ की चर्चा करते हैं तब भी हमारा मतलब केवल अपने बाह्य कर्मों के अर्पण से नहीं अपितु उस सबके अर्पण से होता है जो हमारे अंदर क्रियाशील और शक्तिमय है। अपनी बाह्य क्रियाओं के समान ही अपनी आंतरिक गतियां भी हमें उसी एक वेदी पर अर्पित करनी होती हैं। यज्ञ के रूप में किये गये समस्त कर्म का मूल तत्त्व होता है आत्म-साधना तथा आत्म-पूर्णता का एक ऐसा प्रयत्न जिसके द्वारा हम उस ऊर्ध्वज्योति से, जो हमारे मन, हृदय, संकल्प, इन्द्रिय, प्राण और शरीर की सभी गतियों में प्रवाहित होती है, चैतन्यमय और ज्योतिर्मय बनने की आशा कर सकते हैं। दिव्य चेतना की बढ़ती हुई ज्योति से हम अपनी आत्मा में संसार-यज्ञ के स्वामी का सान्निध्य और साथ ही अपनी अंतरतम सत्ता तथा अध्यात्मिक स्वरूप में उससे तादात्म्य भी प्राप्त कर लेंगे, जो कि प्राचीन वेदांत के अनुसार जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। अपिच, इसकी सहायता से हम, अपनी प्रकृति में भगवत्साधर्म्य लाभ कर, अपनी संभूति में भी उससे एकमय हो जायंगे, जो कि वेद के ऋषियों की गूढ़ भाषा में यज्ञ के प्रतीक का गुह्य तात्पर्य है।

परंतु यदि पूर्णयोग की दृष्टि में मानसिक सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता की ओर द्रुत विकास का स्वरूप यही है तो एक प्रश्न पैदा होता है, जो है तो अत्यंत जटिल पर क्रियात्मक दृष्टि से अत्यंत प्रबल महत्त्व रखता है। जीवन और कर्म जिस प्रकार के आज हैं उनके साथ और अपनी अब तक अपरिवर्तित मानव प्रकृति की विशेष प्रवृत्तियों के साथ हमें किस प्रकार वर्तना

होगा ? एक महत्तर चेतना की ओर आरोहण करना एवं इसकी शक्तियों का हमारे मन, प्राण और शरीर पर अधिकार कर लेना योग का प्रमुख लक्ष्य माना गया है; तथापि इह-लोक का जीवन, न कि और कहीं का कोई अन्य जीवन, अपनी यंत्रात्मक सत्ता और प्रकृति का रूपांतर, न कि उच्छेद, आत्मा के वर्तमान कार्यक्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तो फिर हमारी सत्ता की वर्तमान क्रियाओं का क्या होगा ? ज्ञान और इसके प्राकट्य की ओर अभिमुख मन की क्रियाओं का, हमारे भावग्राही और संवेदनग्राही अंगों की क्रियाओं का, बाह्य आचार, जनन और उत्पादन की क्रियाओं का और मनुष्य, पदार्थ, जीवन, संसार एवं विश्वप्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त करने में प्रवृत्त इच्छाशक्ति की क्रियाओं का क्या होगा ? क्या इनका त्याग करना होगा और इनके स्थान पर जीवन-यापन की कोई अन्य प्रणाली प्रतिष्ठित करनी होगी जिसमें अध्यात्मभावापन्न चेतना अपनी सच्ची अभिव्यक्ति और आकृति प्राप्त कर सके ? क्या इन्हें वैसी की वैसी जारी रखना होगा जैसी कि ये अपने बाह्य रूप में हैं, और केवल कर्मगत आंतरिक भावना के द्वारा ही इन्हें रूपांतरित करना होगा अथवा क्या इनका क्षेत्र विस्तृत करना और इन्हें नए रूपों में उन्मुक्त करना होगा ? और क्या यह कार्य चेतना के एक वैसे विपर्यय के द्वारा करना होगा जैसा भूतल पर तब देखने में आया था जब मनुष्य ने पशु की प्राणिक क्रियाओं को तर्क, विचारयुक्त इच्छाशक्ति, परिष्कृत भाव एवं सुव्यवस्थित बुद्धि के अंतःसंचार से मानसीकृत, विस्तारित और रूपांतरित करने का बीड़ा उठाया था ? अथवा क्या कुछ कार्यों का तो त्याग करना होगा और केवल ऐसे ही कर्मों को जारी रखना होगा जो आध्यात्मिक परिवर्तन सहन कर सकें, और शेष कर्मों के स्थान पर एक नए जीवन का सर्जन करना होगा जो, अपनी स्फुरणा और प्रेरकशक्ति की भांति अपने रूप में भी, मुक्त आत्मा की एकता, विशालता, शांति, हर्ष और सामंजस्य को प्रकट करने-वाला हो ? सभी समस्याओं में से यही एक ऐसी समस्या है जिसने उन लोगों के मन को बहुत व्याकुल किया है जिन्होंने योग की लंबी यात्रा में मानव से भगवान् की ओर ले जाने-वाले पथों का अनुसरण करने का यत्न किया है।

इसके लिये सब प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके एक छोर पर तो यह समा-धान है कि कर्म और जीवन का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये,—जहां तक कि ऐसा करना शारीरिक तौर पर संभव है, और दूसरे छोर पर यह कि जीवन को ज्यों का त्यों पर एक नई भावना के साथ अंगीकार करना चाहिये—एक ऐसी भावना के साथ जिससे इसकी सभी चेष्टाएं अनुप्राणित और उदात्त हो उठें, और देखने में चाहे वे वैसी ही रहें जैसी पहले थीं, किंतु उनकी मूल भावना और, फलतः, उनका अंतरीय अर्थ परिवर्त्तित हो जाय। संसार-त्यागी तपस्वी या अंतर्मुख, आनंद-विभोर एवं आत्म-विस्मृत गुह्यदर्शी जिस आत्यंतिक समा-धान पर आग्रह करते हैं वह स्पष्ट ही पूर्णयोग के उद्देश्य के प्रतिकूल है; क्योंकि यदि हमें जगत् में भगवान् को उपलब्ध करना है तो यह जगत्-व्यवहार तथा स्वयं कर्म को सर्वथा एक ओर तजकर नहीं किया जा सकता। इससे कुछ निचले शिखर पर, प्राचीन काल में धार्मिक विचारकों ने यह नियम निर्धारित किया था कि मनुष्य को केवल ऐसे काम ही जारी रखने चाहियें जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की जिज्ञासा, सेवा या पूजाप्रणाली के अंग हों और कुछ अन्य ऐसे काम भी जो इनसे संबद्ध हों अथवा, इनके साथ ही, कुछ वे काम भी जो जीवन की सामान्य व्यवस्था के लिये अनिवार्य हों किंतु जो धार्मिक भावना से और परंपरागत धर्म

तथा धर्मशास्त्र के विधि-निषेधों के अनुसार ही किये जायं। परंतु यह इतना रूढ़िबद्ध नियम है कि इसके द्वारा स्वतंत्र आत्मा अपने आपको कर्मों में चरितार्थ नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, यह एक घोषित तथ्य है कि यह नियम ऐहिक जीवन से पारलौकिक जीवन की ओर जाने की कठिनाइयों को पार करने के लिये एक अस्थायी समाधान से अधिक कुछ नहीं है। इसके अनुसार अंतिम ध्येय तो एकमात्र पारलौकिक जीवन ही रहता है। वास्तव में, किसी भी सर्वांगीण योग को गीता के इस व्यापक आदेश की ही शरण लेनी होगी कि मुक्त आत्मा को भी, सत्य में निवास करते हुए, जीवन के सभी कर्म करते रहने चाहियें ताकि एक गुप्त दिव्य पथप्रदर्शन के अनुसार हो रहे विश्व-विकास की योजना मंद या विनष्ट न हो जाय। परंतु यदि सभी कर्म वैसे ही आकार-प्रकार के साथ और वैसी ही पद्धति के अनुसार करने होंगे जैसे वे अब अज्ञान में किये जाते हैं, तो हमारी प्राप्ति केवल आंतरिक ही होगी और इस बात का भी भय रहेगा कि कहीं हमारा जीवन बाह्य क्षीण ज्योति के कार्यों में लगी हुई अन्तर्ज्योति का एक संदिग्ध और अस्पष्ट सूत्र ही न बन जाय और परिपूर्ण आत्मा अपनी दिव्य प्रकृति से भिन्न वा विजातीय अपूर्णता के सांचे में ही अपने आपको प्रकट न करती रहे। यदि कुछ समय तक इससे अच्छा कुछ नहीं किया जा सकता,—और संक्रमण के दीर्घ काल में ऐसा कुछ अनिवार्यतः होता ही है,—तो ऐसी स्थिति तब तक बनी ही रहेगी जब तक सब साधन-सामग्री तैयार नहीं हो जाती और अंतःस्थित आत्मा शरीर और बहिर्जगत् के जीवन पर अपने रूपों को लागू करने में पर्याप्त समर्थ नहीं हो जाती। किंतु इसे केवल एक संक्रमणावस्था के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, अपनी आत्मा के आदर्श या अपने पथ के चरम लक्ष्य के रूप में नहीं।

इसी कारण, नैतिक समाधान भी अपर्याप्त है। नैतिक नियम प्रकृति के दुर्दम अश्वों के मुंह में लगाममात्र डालता है और उनपर एक कठिन तथा आंशिक नियंत्रण का प्रयोग करता है, परंतु इसमें प्रकृति का ऐसा रूपांतर करने की शक्ति नहीं है कि वह दिव्य आत्म-ज्ञान से प्राप्त होनेवाली अंतःस्फुरणाओं को चरितार्थ करती हुई सुरक्षित स्वतंत्रता में विचरण कर सके, इसके सर्वोत्तम रूप में भी इसकी विधि है—सीमाओं को निर्धारित करना, दानव का निग्रह करना, हमारे चारों तरफ एक सापेक्ष और अत्यंत संदिग्ध रक्षा की दीवार खड़ी कर देना। आत्म-रक्षण का यह या इसी प्रकार का कोई अन्य उपाय साधारण जीवन में किंवा योग में कुछ काल के लिये आवश्यक हो सकता है; किंतु योग में यह केवल संक्रमणावस्था का एक चिह्न भर हो सकता है। हमारा लक्ष्य है आमूल रूपांतर और आध्यात्मिक जीवन की पावन विशालता और, यदि हमें यह प्राप्त करना है तो, हमें एक अधिक गंभीर समाधान तथा एक अधिक विश्वस्त अति-नैतिक और क्रियाशील तत्त्व की खोज करनी होगी। इस विषय में साधारण धार्मिक समाधान यह है कि व्यक्ति को अंदर से आध्यात्मिक और बाहरी जीवन में नैतिक होना चाहिये पर यह एक समझौतामात्र है। हम जिस लक्ष्य की खोज कर रहे हैं वह जीवन और आत्मा में समझौता नहीं वरन् आंतर सत्ता और बाह्य जीवन दोनों का आध्यात्मीकरण है। अतएव, वस्तुओं के मूल्य और महत्त्व के संबंध में मनुष्य ने जो गड़बड़ मचा रखी है,—ऐसी गड़बड़ जो आध्यात्मिक और नैतिक के भेद को ही उड़ा देती है और यहां तक दावा करती है कि नैतिक तत्त्व ही हमारी प्रकृति में एकमात्र सच्चा आध्यात्मिक तत्त्व है,—वह हमारे लिये किसी काम की नहीं हो सकती। वास्तव में नीतिधर्म एक मानसिक नियं-

त्रण है और सीमित भ्रांतिशील मन स्वतंत्र और सदा-प्रकाशमान आत्मा नहीं है और न हो ही सकता है। इसी प्रकार, उस सिद्धांत को भी स्वीकार करना असंभव है जो जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है, इसके तत्त्वों को ज्यों का त्यों मूलभूत रूप में ग्रहण करता है और इसे रंजित तथा सुशोभित करने के लिये एक अर्ध-आध्यात्मिक या मिथ्या-आध्यात्मिक प्रकाश को आमंत्रित भर करता है। न ही प्राण और अध्यात्म में एक प्रकार का कुसंबंध स्थापित करने के लिये बार बार यत्न करना उपयुक्त हो सकता है,—ऐसा कुसंबंध कि भीतर तो गुह्य अनुभव हो और बाहर एक ऐसा सौंदर्यरसिक, बौद्धिक एवं ऐन्द्रिय प्रकृतिपूजावाद या उच्च सुखवाद हो जो गुह्य अनुभव का सहारा लेकर और आध्यात्मिक स्वीकृति की चमक-दमक में अपनी कामनाओं को तृप्त करता रहे। कारण, यह भी एक अनिश्चित समझौता है और यह कभी भी सफल नहीं हो सकता, यह दिव्य सत्य और उसकी सर्वांगपूर्णता से उतना ही दूर है जितना कि इससे उलटा अतिनैतिकवाद। ये सभी उस भ्रांतिशील मानव मन के स्खलनपूर्ण हल हैं जो उच्च आध्यात्मिक शिखरों और साधारण मानसिक एवं प्राणिक प्रेरक-भावों की निम्नतर उपत्यका के बीच कार्यनिर्वाह करने का मार्ग टटोल रहा है। इनके मूल में जो भी आंशिक सत्य छिपा हो, उसे केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि उसे आध्यात्मिक स्तर तक ऊंचा उठाकर और परम सत्य-चेतना में परखकर अविद्या की मलिनता और भ्रांति से छुड़ा लिया जाय।

संक्षेप में, यह निःशंक होकर कहा जा सकता है कि जब तक वह अतिमानसिक सत्य-चेतना प्राप्त नहीं हो जाती, जिसके द्वारा वस्तुओं के बाह्य रूप अपने अपने स्थान में सुस्थित हो जायंगे और उनका सारतत्त्व तथा वह अन्तरीय तत्त्व भी जो सीधा इस आध्यात्मिक सारतत्त्व से निकलता है, प्रकट हो जायंगे, तब तक कोई भी प्रस्तावित समाधान सामयिक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस बीच हमारी एकमात्र सुरक्षा इस बात में है कि हम आध्यात्मिक अनुभूति के पथप्रदर्शक नियम की खोज करें—अथवा अपने भीतर के उस प्रकाश को उन्मुक्त करें जो हमें तब तक मार्ग दिखा सकता है जब तक कि वह महत्तर साक्षात् सत्य-चेतना हमें अपने से ऊर्ध्व स्तर में प्राप्त नहीं हो जाती या हमारे अंदर ही उत्पन्न नहीं हो जाती। क्योंकि हमारे अंदर की और सब चीजें जो केवल बाहरी हैं, वह सब कुछ जो आध्यात्मिक बोध या प्रत्यक्षानुभव नहीं है,—बुद्धि की कल्पनाएं, उसके उपपादन अथवा निष्कर्ष, जीवन-शक्ति के निर्देश या उसकी प्रेरणाएं तथा भौतिक पदार्थों की असंदिग्ध आवश्यकताएं, ये सब कभी अर्ध-प्रकाश होते हैं और कभी मिथ्या प्रकाश। ये प्रकाश, अपने श्रेष्ठ रूप में भी, केवल कुछ काल के लिये ही सहायक हो सकते हैं या केवल थोड़ी सी ही सहायता कर सकते हैं और शेषांश में तो ये हमें बाधा पहुंचाते या भ्रम में ही डालते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति का पथप्रदर्शक नियम तो मानव चेतना को भागवत चेतना की ओर खोल देने से ही अवगत हो सकता है। हममें ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि हम भागवती शक्ति की क्रिया, आज्ञा और सक्रिय उपस्थिति को अपने अंदर ग्रहण कर सकें और अपने आपको उसके नियंत्रण के प्रति समर्पित कर सकें। इस समर्पण और नियंत्रण से ही पथप्रदर्शन प्राप्त होता है। परंतु समर्पण तब तक निश्चित रूप से साधित नहीं हो सकता, और न ही तब तक पथप्रदर्शन का कोई पूरा भरोसा हो सकता है जब तक कि हम उन मानसिक रचनाओं, प्राणिक आवेगों और अहं के उत्तेजनों से आक्रांत हैं जो हमें आसानी से छलकर मिथ्या

अनुभव के हाथों में सौंप सकते हैं। इस विपत्ति का सामना हम अपनी उस अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष के उद्‌घाटन के द्वारा ही कर सकते हैं जो अभी नौ बटा दस भाग छिपा ही हुआ है। यह हमारे अंदर विद्यमान तो आरंभ से ही होता है पर साधारणतया क्रियाशील नहीं होता। यही हमारी वह अन्तर्ज्योति है जिसे हमें उन्मुक्त करना होगा। कारण, जब तक हम अविद्या के घेरे में ही घूमते रहते हैं और सत्य-चेतना हमारे ईश्वराभिमुख पुरुषार्थ का संपूर्ण नियंत्रण अपने हाथ में नहीं ले लेती, तब तक इस अंतरतम आत्मा का प्रकाश ही हमारा एकमात्र अचूक प्रकाश होता है। भागवती शक्ति की क्रिया जो हमारे अंदर संक्रमण के नियमों के अनुसार कार्य करती है, और चैत्य पुरुष का प्रकाश, जो हमें सदा अज्ञान की शक्तियों की मांगों और उत्तेजनाओं से बचाकर एक उच्चतर संवेग का सचेतन रूप में और सावधानता के साथ अनुसरण करने के लिये प्रेरित करता है—ये दोनों अपने बीच के संक्रमण-काल में हमारे कर्म के एक नित्य-विकसनशील आभ्यंतर नियम को जन्म देते हैं। वह नियम तब तक चालू रहता है जब तक हम अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक और अतिमानसिक विधान को प्रतिष्ठित नहीं कर पाते। इस संक्रमण में, स्वभावतः ही, तीन अवस्थाएं आ सकती हैं, एक तो वह जिसमें हम समस्त जीवन और कर्म को स्वीकार करते और इन्हें भगवान् को सौंप देते हैं ताकि वह इन्हें शुद्ध तथा परिवर्त्तित करे और इनके अंदर के सत्य को उन्मुक्त कर दे, दूसरी वह जिसमें हम पीछे की ओर हट जाते हैं और अपने चारों ओर एक आध्यात्मिक दीवार खड़ी करके इसके दरवाजों में से केवल ऐसे कार्यों को प्रवेश करने देते हैं जो आध्यात्मिक रूपांतर के नियम के अधीन रहना स्वीकार करते हैं, तीसरी वह जिसमें आत्मा के संपूर्ण सत्य के उपयुक्त नए रूपों से संपन्न, स्वतंत्र और सर्वस्पर्शी कर्म करना हमारे लिये फिर से संभव हो जाता है। किंतु इन चीजों का निर्णय किसी मानसिक नियम से नहीं बल्कि अपनी अंतरस्थ आत्मा के प्रकाश में और भागवती शक्ति के नियामक बल एवं वृद्धिशील मार्गदर्शन के अनुसार करना होगा। वह भागवती शक्ति पहले तो परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में प्रेरित करती है, फिर स्पष्ट रूप में नियंत्रण रखना और आदेश देना आरंभ करती है और अंत में योग का संपूर्ण भार ही अपने हाथ में ले लेती है।

यज्ञ के त्रिविध स्वरूप के अनुसार हम कर्मों को भी तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं, ज्ञान के कर्म, प्रेम के कर्म तथा प्राणगत शक्ति के कर्म, और यह देख सकते हैं कि किस प्रकार यह अधिक सुनम्य आध्यात्मिक नियम प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है और निम्नतर प्रकृति से उच्चतर की ओर संक्रमण को संपादित करता है।

★

ज्ञान की खोज में मानव मन की जो क्रियाएं होती हैं उन्हें योग के दृष्टिकोण से स्वभावतः ही दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो है परा विद्या या परम अतिबौद्धिक ज्ञान जो अपने आपको परात्पर-रूप एकमेव और अनंत की खोज पर एकाग्र करता है अथवा प्राकृतिक प्रपंच के मूल चरम सत्यों के भीतर अंतर्ज्ञान, निदिध्यासन एवं साक्षात् आंतर संस्पर्श के द्वारा प्रवेश का यत्न करता है। दूसरी है अपरा विद्या; यह अपने आपको गोचर पदार्थों अर्थात् एकमेव और अनंत देव के उन छद्मरूपों के बाह्य ज्ञान में विकीर्ण कर देती है जिनमें वह देव हमें अपने चारों ओर की जगत्-अभिव्यक्ति के बाह्यतर पदार्थों के भीतर और इनके द्वारा दृष्टिगोचर होता है। इन दो, पर और अपर, गोलार्धों का जो स्वरूप मनुष्यों ने

मन की अज्ञ सीमाओं में निर्मित या कल्पित किया है उसमें भी ये, विकसित होकर, कुछ तीव्र रूप में पृथक् हो गये हैं.... दर्शन ने कभी तो आध्यात्मिक या कम-से-कम अंतर्ज्ञानात्मक और कभी वस्तुनिरपेक्ष एवं बौद्धिक बनकर तथा कभी आध्यात्मिक अनुभव को बौद्धिक रूप देकर या आत्मिक उपलब्धियों को तर्क के उपकरण का सहारा देकर, सदैव अंतिम सत्य के निर्धारण को अपना क्षेत्र मानने का दावा किया है। परंतु जब बौद्धिक दर्शन ने तत्त्व-चिंतन के अति सूक्ष्म शिखरों पर पहुंचकर अपने को व्यावहारिक जगत्-संबंधी तथा नश्वर पदार्थों के अनुशीलन-विषयक ज्ञान से विलग नहीं भी किया तब भी यह, अमूर्त चिंतन के अपने स्वभाव के कारण, जीवन के लिये शक्ति का स्रोत शायद कभी नहीं रहा। अवश्य ही, कभी कभी यह उच्च चिंतन के लिये शक्तिशाली रहा है, इसने बिना किसी परोक्ष उपयोग या लक्ष्य के मानसिक सत्य का उसी के लिये अनुसंधान किया है और कभी कभी शब्दों और विचारों के अस्पष्ट एवं काल्पनिक आदर्शलोक में मन के सूक्ष्म व्यायाम के लिये अत्यंत सबल भी रहा है, परंतु जीवन के अधिक गोचर तथ्यों से यह दूर ही हट गया है अथवा उनके ऊपर से छलांग मारकर उन्हें छोड़ता ही चला गया है। यूरोप में प्राचीन दर्शन बहुत शक्तिशाली रहा, पर केवल कुछ एक लोगों के लिये ही; भारत में इसने, अपने अधिक आध्यात्मीकृत रूपों में, प्रबल प्रभाव डाला किंतु जाति के जीवन का रूपांतर नहीं कर सका.... धर्म ने, दर्शन की भांति, शिखरों पर ही रहने का यत्न नहीं किया, वरन् इसका लक्ष्य मनुष्य के मन के भागों की अपेक्षा कहीं अधिक उसके प्राण या जीवन के भागों को अधिकार में लाना और उन्हें ईश्वर की ओर आकृष्ट करना था। इसने आध्यात्मिक सत्य और प्राणिक तथा भौतिक जीवन के बीच सेतु बांधने की घोषणा की। इसने निम्नतर को उच्चतर के अधीन करने और दोनों में संगति बैठाने, जीवन को भगवान् की सेवा करने के योग्य तथा भूतल को द्युलोक का आज्ञापालक बनाने का यत्न किया। यह स्वीकार करना होगा कि बहुधा इस आवश्यक प्रयत्न का परिणाम विपरीत ही हुआ, इसने द्यौ को पृथ्वी की कामनाओं का समर्थक बना दिया, क्योंकि धार्मिक विचार का बहाना बनाकर मनुष्य लगातार अपने अहं की पूजा और सेवा ही करता रहा। धर्म अपने सारभूत आध्यात्मिक अनुभव की छोटी सी उज्ज्वल रश्मि को निरंतर त्यागकर, जीवन के साथ किये गये अपने सदा-विस्तारशील अनिश्चित समझौतों के धुंधले समुदाय में ही पूरी तरह से खो गया। चिंतनात्मक मन को संतुष्ट करने के प्रयत्न में, इसने बहुत बार इसे या तो दबा डाला या मत-मजहब के सिद्धांतों की बेड़ी पहिना दी। मानव हृदय को अपने पाश में पकड़ने की चेष्टा करते हुए, यह स्वयं ही धर्मानुरागी भावुकतावाद और संवेदनवाद के गर्त्तों में जा गिरा। मनुष्य की प्राणिक प्रकृति पर शासन करने के लिये उसे अपने अधिकार में लाने का यत्न करते हुए, यह स्वयं ही कलुषित हो गया और उस समस्त धर्मांधता, नरसंहारी क्रोधोन्माद, अत्याचार की जंगली या कठोर प्रवृत्ति, प्ररोही मिथ्यात्व एवं दृढ़ अज्ञानासक्ति का शिकार हो गया जिनमें कि प्राणिक प्रकृति की स्वाभाविक रुचि होती है। मनुष्य के स्थूल भाग को ईश्वर की ओर आकृष्ट करने की इसकी इच्छा ने स्वयं इसे ही धोखा देकर धर्मसंबंधी यांत्रिकता, खोखले संस्कार और निर्जीव कर्मकांड की जंजीर से बांध दिया। सर्वोत्कृष्ट वस्तु ने बिगड़कर सबसे निकृष्ट को जन्म दिया; कारण, जीवन-शक्ति की विचित्र रसायन-विद्या अच्छाई में से बुराई पैदा करती है जैसे कि यह बुराई में से अच्छाई भी पैदा कर सकती है। साथ ही, इस अधोमुख पतन के विरुद्ध आत्म-

रक्षा के व्यर्थ प्रयास में, धर्म ने एक प्रबल प्रेरणा के वश ज्ञान, कर्म-कलाप, कला एवं जीवन तक को दो विपरीत श्रेणियों,–आध्यात्मिक और सांसारिक, धार्मिक और ऐहिक, पवित्र और अपवित्र,–में बांटकर सत्तामात्र को दो खण्डों में विभक्त कर दिया। परंतु स्वयं यह रक्षात्मक विभाजन भी रूढ़िरूप तथा कृत्रिम बन गया और इसने रोग को ठीक करने के स्थान पर बढ़ा ही दिया.... दूसरी ओर विज्ञान, कला और जीवन-विद्या, यद्यपि पहले ये धर्म की छत्रछाया में ही सेवा या निवास करते रहे, आगे चलकर इससे अलग हो गये, इसके विजातीय या विरोधी बन गये, अथवा यहां तक कि इसके उन शिखरों से, जिनके लिये तत्त्व-ज्ञानात्मक दर्शन और धर्म अभीप्सा करते हैं पर जो इन्हें निरुत्साह, वन्ध्य और सुदूर या निःसार और मायामय तथा अवास्तविकता के शिखर प्रतीत होते हैं, ये उदासीनता, घृणा या संदेहपूर्वक पीछे हट गये। कुछ काल के लिये यह विच्छेद उस चरम सीमा को पहुंच गया जहां तक कि मानव मन की एकांगी असहिष्णुता इसे ले जा सकती थी। यहां तक कि यह भय पैदा हो गया कि कहीं इसके परिणामस्वरूप एक अधिक उच्च या अधिक आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्नमात्र सर्वथा लुप्त ही न हो जाय। पर वास्तव में पार्थिव जीवन में भी एक उच्चतर ज्ञान ही एकमात्र ऐसी चीज़ है जिसकी सदा-सर्वदा आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना निम्नतर विज्ञान और कार्य-व्यवहार, चाहे वे अपने परिणामों की प्रचुरता की दृष्टि से कितने भी फलप्रद, कैसे भी समृद्ध, स्वतन्त्र और चमत्कारक क्यों न हों, सहज ही एक ऐसे यज्ञ का रूप धर लेते हैं जो बिना ठीक विधि के मिथ्या देवों को अर्पित होता है। अंत में वे मनुष्य के हृदय को कलुषित और कठोर बनाकर एवं उसके मन के क्षितिजों को सीमित कर उसे या तो एक पाषाणमय भौतिक कारागृह में बंद कर देते हैं या एक अंतिम निराशाजनक संशय-विकल्प और मोहभंग की ओर ले जाते हैं। इस अर्द्ध-ज्ञान के, जो अभी तक अज्ञान ही है, भास्वर प्रस्फुरण के ऊपर एक वंध्य अज्ञेयवाद हमारी प्रतीक्षा कर रहा है।

एक ऐसा योग, जो परम देव को सर्वांगीण रूप में प्राप्त करने के लिये किया जाता है, विश्वात्मा के कर्मों या स्वप्नों की भी–यदि वे स्वप्न हैं तो–अवहेलना नहीं करेगा, न ही वह उस भव्य उद्यम और बहुमुखी विजय से पराङ्मुख होगा जिसे परम देव ने मानव प्राणी में अपने लिये निर्धारित किया है। परंतु इस प्रकार की व्यापकता के लिये इसकी पहली शर्त यह है कि संसार में हमारे कर्म भी यज्ञ के अंग होने चाहियें और वह यज्ञ हमें सर्वोच्च देव तथा भागवती शक्ति को ही अर्पित करना चाहिये, किसी अन्य देव तथा अन्य शक्ति को नहीं, साथ ही वह हमें ठीक भावना के साथ और यथार्थ ज्ञानपूर्वक, अपनी स्वतंत्र आत्मा के द्वारा अर्पित करना चाहिये, जड़प्रकृति के सम्मोहित क्रीतदास द्वारा नहीं। यदि कर्मों का विभाजन करना ही हो तो इन दो प्रकार के कर्मों में ही विभाजन करना होगा–एक तो वे जो हृदय की पावन ज्वाला के अत्यंत निकट हैं और दूसरे वे जो इससे अधिक दूर हैं तथा इसी कारण इसके द्वारा न्यूनतम प्रभावित या पकाशित हैं,–अथवा यूं कहें कि एक तो वे समिधाएं जो जोर से या चमक के साथ जलती हैं और दूसरे वे काष्ठ जो वेदी पर अत्यंत घना ढेर लगा दिये जाने के कारण अपनी आर्द्र, भारी और विस्तृत बहुलता से आग की तेजी को रोक देते हैं। परंतु वैसे, इस विभाजन के अतिरिक्त, ज्ञान के सभी कर्म जो सत्य को खोजते या प्रकट करते हैं, अपने आपमें, पूर्ण उत्सर्ग के लिये उचित सामग्री हैं; उनमेंसे किसी को भी दिव्य

जीवन के विशाल ढांचे से बहिष्कृत करने की आवश्यकता नहीं। मानसिक और भौतिक विज्ञान जो पदार्थों के नियमों, आकारों तथा प्रक्रियाओं का अनुसंधान करते हैं, वे विज्ञान जो मनुष्यों और जीव-जंतुओं के जीवन से संबंध रखते हैं, सामाजिक, राजनीतिक, भाषा-संबंधी तथा ऐतिहासिक विज्ञान और साथ ही वे विज्ञान जो उन कार्यों और व्यापारों को जानने तथा नियंत्रित करने का यत्न करते हैं जिनसे मनुष्य अपने संसार और परिपार्श्व को वशीभूत कर उन्हें उपयोग में लाता है, उत्कृष्ट ललित कलाएं जो एक साथ ही कर्म भी हैं और ज्ञान भी,—कारण, प्रत्येक सुनिर्मित और अर्थगर्भित कविता, चित्र, मूर्त्ति या भवन सर्जनशील ज्ञान की कृति होता है, चेतना की जीवंत उपलब्धि एवं सत्य की प्रतिमा होता है, मानसिक और प्राणिक अभिव्यक्ति या जगत्-अभिव्यक्ति का सक्रिय रूप होता है,—वह सब जो कि खोज करता है, वह सब जो कि उपलब्ध करता है, वह सब जो वाणी या आकार प्रदान करता है, अनंत की लीला के ही किसी अंश को चरितार्थ करता है और उतने अंश में वह ईश्वर-उपलब्धि या दिव्य सृष्टि का साधन बनाया जा सकता है। परंतु योगी को देखना होगा कि आगे से वह उसे अज्ञ मानसिक जीवन के अंग के रूप में कभी स्वीकार न करे। उसे वह केवल तभी स्वीकार कर सकता है यदि वह अपने अंतर्निहित संवेदन, स्मरण और समर्पण के द्वारा, अध्यात्म-चेतना की गति में परिणत हो जाय और इसके सर्वग्राही एवं प्रकाशप्रद ज्ञान की विशाल पकड़ का अंग बन जाय।

सब कुछ यज्ञ के रूप में ही करना चाहिये, सब कार्यों का ध्येय और उनके प्रयोजन का सार एकमेव भगवान् ही होना चाहिये। जो विद्याएं ज्ञानवृद्धि में सहायक हैं उनके अध्ययन में योगी का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह मनुष्य में तथा प्राणियों, पदार्थों और शक्तियों में भागवती चित्-शक्ति के व्यापारों तथा उसके सृष्टिसंबंधी आशयों की खोज करे और उन्हें हृदयंगम करे, साथ ही उन रहस्यों एवं प्रतीकों को, जिनमें वह अपनी अभिव्यक्ति को व्यवस्थित करती है, कार्यान्वित करने के उसके ढंग को भी खोजे और समझे। व्यावहारिक विद्याओं में, चाहे वे मानसिक और भौतिक हों अथवा गुह्य और आंतरात्मिक, योगी का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह भगवान् के तरीकों और उसकी गतिविधियों की तह में जाय और जो काम हमें सौंपा गया है उसकी साधन-सामग्री का ज्ञान प्राप्त करे जिससे हम आत्मा के रहस्य, आनंद और आत्म-कृतार्थता को सचेतन और निर्दोष रूप से प्रकट करने के लिये उस ज्ञान को काम में ला सकें। कलाओं में योगी का लक्ष्य केवल सौंदर्य-भावना की और मन या प्राण की तृप्ति करना नहीं बल्कि यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान् को देखना, उसके कार्यों में उसके भाव और अर्थ का आत्म-प्रकाश अनुभव करते हुए उसकी पूजा करना तथा देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों और पदार्थों में उसी एकमेव भगवान् को व्यक्त करना होना चाहिये। वह सिद्धांत जो धार्मिक अभीप्सा और सच्ची से सच्ची तथा महान् से महान् कला में घनिष्ठ संबंध देखता है सार-रूप में सही है; किंतु हमें मिश्रित और संदिग्ध धार्मिक प्रेरकभाव के स्थान पर आध्यात्मिक अभीप्सा, दृष्टि एवं अर्थप्रकाशक अनुभूति को प्रतिष्ठित करना होगा। क्योंकि दृष्टि जितनी अधिक विशाल और व्यापक होगी, जितना ही अधिक यह मानवता में और सब पदार्थों में छुपे हुए भगवान् की अनुभूति को अपने अंदर धारण करेगी और एक स्थूल धार्मिकता के परे अध्यात्म-जीवन में उन्नीत हो जायगी, इस उच्च आशय से उद्भूत होनेवाली कला भी उतनी ही अधिक प्रकाशमान, नमनीय, गभीर और शक्तिशाली होगी।

योगी की दूसरे लोगों से विशेषता यह होती है कि वह एक उच्चतर तथा विशालतर अध्यात्म-चेतना में निवास करता है; अतः उसकी समस्त ज्ञानकृति या सर्जन-कृति निश्चय ही वहीं से उद्भूत होनी चाहिये, वह मन में नहीं गढ़ी जानी चाहिये,—क्योंकि वह दृष्टि एवं सत्य मनोमय मनुष्य की दृष्टि एवं सत्य से अधिक महान् है जिसकी अभिव्यक्ति योगी को करनी होती है अथवा यूं कहना चाहिये कि जो योगी की व्यक्तिगत संतुष्टि के हित नहीं बल्कि दिव्य प्रयोजन के हित अपने आपको उसके द्वारा प्रकट करने तथा उसके कार्यों को ढालने के लिये उसपर दबाव डालता है।

इसके साथ ही जो योगी परम को जानता है वह इन कर्मों में किसी प्रयोजन या आवश्यकता के वशीभूत नहीं होता; क्योंकि उसके लिये न तो ये कोई कर्त्तव्य होते हैं, न ही मन का आवश्यक धंधा, न कोई उत्कृष्ट विनोद और न सर्वोच्च मानवीय प्रयोजन द्वारा आरोपित कोई कार्य। वह किसी कर्म में भी आसक्त और अवरुद्ध नहीं हो जाता, न ही इन कर्मों में यश, गौरव या व्यक्तिगत संतोषरूपी उसका कोई निजी हेतु होता है; वह इन्हें छोड़ भी सकता है या जारी भी रख सकता है, जैसी भी उसके अंतःस्थित भगवान् की इच्छा हो, परन्तु उच्चतर पूर्ण ज्ञान की खोज में किसी अन्य कारण से इनका त्याग करने की उसे आवश्यकता नहीं। वह इन कर्मों को ठीक वैसे ही करेगा जैसे परम शक्ति कर्म करती है और सर्जन करती है, अर्थात् सर्जन और अभिव्यंजन के आध्यात्मिक हर्षविशेष के लिये अथवा ईश्वर के रचे इस संसार को सुसंबद्ध रखने या लोकसंग्रह करने और इसे यथावत् व्यवस्थित या परिचालित करने में सहायता देने के लिये। गीता की शिक्षा है कि ज्ञानी मनुष्य को अपने जीवन के ढंग से उन लोगों में भी जिन्हें अभी आध्यात्मिक चेतना प्राप्त नहीं हुई है 'सभी' कर्मों के लिये—केवल उन्हीं के लिये नहीं जो अपने स्वरूप की दृष्टि से पुण्यमय, धार्मिक या तपोमय समझे जाते हैं बल्कि सभी के लिये—प्रेम पैदा करना चाहिये, साथ ही उसे उनके अंदर सब कर्म करने का अभ्यास भी डलवाना चाहिये। उसे अपने दृष्टांत से मनुष्यों को संसार-कर्म से हटाना नहीं चाहिये। क्योंकि, संसार को उसकी महान् ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा में आगे ही आगे बढ़ाना होगा; मनुष्यों और राष्ट्रों को ऐसी राह से नहीं ले चलना होगा कि वे अज्ञानमय कर्म से अकर्म के निकृष्टतर अज्ञान में जा गिरें अथवा शोचनीय विघटन और विनाश की उस प्रवृत्ति में जा डूबें जो जातियों तथा राष्ट्रों पर तब आक्रमण करती है जब तामसिक तत्त्व,—अंधकारमय अस्तव्यस्तता और भ्रांति का या क्लांति और जड़ता का तत्त्व—प्रबल हो जाता है। गीता में भगवान् कहते हैं, "मुझे भी कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई चीज नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो या जो मुझे अभी अपने लिये प्राप्त करनी आवश्यक हो; तो भी मैं संसार में कर्म करता हूं, क्योंकि यदि मैं कर्म न करूं तो सब नियम-धर्म अस्तव्यस्त हो जायंगे, लोकों में अव्यवस्था छा जायगी और मैं इन प्रजाओं का विनाशक बन जाऊंगा।" आध्यात्मिक जीवन को अपनी पवित्रता के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि वह अवर्णनीय ब्रह्म के सिवा और सभी वस्तुओं में रस लेना छोड़ दे या ज्ञान-विज्ञान, कला-कलाप और जीवन के मूल पर ही कुठाराघात करे। अपितु पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान एवं कर्म का एक सहज फल यह हो सकता है कि यह उन्हें उनकी सीमाओं से ऊपर उठा ले जा सकता है, साथ ही उनमें हमारे मन को जो अज्ञानयुक्त, परिमित, मंद या क्षुब्ध सुख मिलता है उसके स्थान पर आनंद का एक स्वतंत्र, प्रगाढ़

और उन्नायक वेग प्रतिष्ठित करके यह उन्हें सर्जनशील आध्यात्मिक बल और प्रकाश का एक नवीन उद्‌गम प्रदान कर सकता है। वह उद्‌गम फिर उन्हें उनकी परिपूर्ण ज्ञानज्योति और अद्यावधि स्वप्नातीत संभावनाओं की ओर तथा अर्थ, रूप और प्रयोग की अत्यंत सक्रिय शक्ति की ओर अधिक शीघ्रता तथा गंभीरता के साथ ले जा सकता है। जो एकमात्र आवश्यक वस्तु है उसी का सर्वप्रथम तथा सदा-सर्वदा अनुसरण करना होगा, और सभी चीजें तो उसके परिणामस्वरूप स्वयमेव प्राप्त होंगी। उनकी हमें अपने अंदर कोई नई वृद्धि नहीं करनी पड़ेगी, वरंच उस आवश्यक वस्तु के आत्मप्रकाश में तथा उसके आत्म-प्रकाशक बल के अंशों के रूप में उनकी पुनः-प्राप्ति एवं पुनर्निर्माण ही करना होगा।

★

इस प्रकार यही है दिव्य और मानवीय ज्ञान में सच्चा संबंध; इनके पारस्परिक भेद का मर्म यह नहीं है कि ये पवित्र और अपवित्र दो विषम क्षेत्रों में विभक्त हैं, बल्कि यह है कि इनकी क्रिया के मूल में रहनेवाली चेतना ही भिन्न भिन्न प्रकार की है। जो ज्ञान उस साधारण मानसिक चेतना से उत्पन्न होता है जो पदार्थों की बाहरी या ऊपरी सतहों में, क्रिया-पद्धति और प्रपंच में रुचि रखती है,—चाहे वह रुचि उस प्रपंच के लिये हो या किसी ऊपरी उपयोगिता के लिये अथवा कामना या बुद्धि की मानसिक या प्राणिक संतुष्टि के लिये हो,— वह मानवीय ज्ञान है। परंतु ज्ञान की यह क्रिया यदि आध्यात्मिक या आध्यात्मीकारक चेतना से उत्पन्न हो तो यह योग का अंग बन सकती है। कारण, आध्यात्मिक चेतना जिस भी वस्तु का निरीक्षण करती है या जिस भी वस्तु के भीतर प्रवेश करती है उसमें कालातीत सनातन की उपस्थिति को और सनातन की कालगत अभिव्यक्ति के तरीकों को खोजती और उपलब्ध करती है। यह तो स्पष्ट ही है कि अज्ञान से संक्रमण करने के लिये एकनिष्ठता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अतएव जिज्ञासु के लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह अपनी शक्तियां एकत्र कर उन्हें केवल उसी पर केंद्रित करे जो संक्रमण की क्रिया में सहायक है, परंतु जो कुछ सीधा उस अनन्य लक्ष्य की ओर उन्मुख नहीं है उस सबसे कुछ काल के लिये किनारा खींच ले या उसे केवल गौण स्थान दे। वह अनुभव कर सकता है कि मानव ज्ञान का यह या वह अनुशीलन, जिसमें वह अपने मन की स्थूल शक्ति के द्वारा व्यस्त रहने का अभ्यस्त था, अब भी उसे उसी प्रवृत्ति या अभ्यास के वश, गहराइयों में से ऊपरी सतह की ओर ले आता है अथवा यह उसे उन शिखरों से, जिन पर वह चढ़ चुका है या जिनके पास वह पहुँचने ही वाला है, निचले स्तरों पर उतार लाता है। तब ये प्रवृत्तियां कुछ काल के लिये स्थगित रखनी या छोड़नी पड़ सकती हैं जब तक कि वह उच्चतर चेतना में सुस्थिर होकर इसकी शक्तियों को सभी मानसिक क्षेत्रों पर प्रयुक्त करने में समर्थ नहीं हो जाता; बाद में, उस प्रकाश के अधीन होकर या उसमें उन्नीत होकर ये, उसकी चेतना के रूपांतर द्वारा, अध्यात्म तथा देवत्व के क्षेत्र में परिवर्त्तित हो जाती हैं। जो कुछ इस प्रकार रूपांतरित नहीं किया जा सकता या दिव्य चेतना का अंग बनने से इन्कार करता है उस सबको वह बिना झिझक के त्याग देगा। पर ऐसा वह किसी ऐसी पूर्वनिश्चित धारणा के कारण नहीं करेगा कि यह सब सारशून्य है या नए अंतर्जीवन का अंश बनने में असमर्थ है। इन चीजों के लिये कोई निश्चित मानसिक कसौटी या सिद्धांत नहीं हो सकता। अतः वह किसी अपरिवर्तनीय नियम का अनुसरण नहीं करेगा, बल्कि मन

की किसी भी प्रवृत्ति को अपने संवेदन, अंतर्दृष्टि या अनुभूति के अनुसार स्वीकार या अस्वीकार करेगा। इस प्रकार, अंत में महत्तर शक्ति और ज्योति प्रकट हो जायंगी, नीचे जो कुछ भी है उस सबकी ये अचूक छानबीन करेंगी और मानव विकास ने दिव्य प्रयास के लिये जो कुछ तैयार किया है उसमेंसे अपने लिये सामग्री का ग्रहण या वर्जन करेंगी।

ठीक किस प्रकार से या किस क्रम से यह प्रगति एवं परिवर्तन होगा यह बात निश्चय ही वैयक्तिक प्रकृति के स्वरूप, आवश्यकता और सामर्थ्यों पर निर्भर करेगी। आध्यात्मिक क्षेत्र में सारतत्त्व सदा एक ही होता है, पर फिर भी वहां विविधता का कोई अंत नहीं होता; कम से कम पूर्णयोग में तो सीमित तथा सुनिश्चित मानसिक नियम की कठोरता प्रायः लागू होती ही नहीं। कारण, कोई भी दो प्रकृतियां, जब वे एक ही दिशा में चलती हैं तब भी, ठीक उन्हीं लीकों अथवा पदचिह्नों पर या अपनी प्रगति की सर्वथा समान अवस्थाओं में से होती हुई आगे नहीं बढ़तीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्नति की अवस्थाओं का तर्कसम्मत क्रम बहुत कुछ इस प्रकार का होता है। सर्वप्रथम, एक विस्तीर्ण परिवर्तन होता है जिसमें व्यक्तिगत प्रकृति की सभी विशिष्ट एवं स्वाभाविक मानसिक क्रियाएं ऊंची उठाई जाती हैं या उच्चतर दृष्टिबिंदु से जांची जाती हैं और हमारी अंतःस्थित आत्मा, चैत्य पुरुष अथवा यज्ञ के पुरोहित के द्वारा भगवान् की सेवा में उत्सर्ग कर दी जाती हैं। उसके बाद सत्ता के आरोहण के लिये, तथा इसके ऊर्ध्वमुख प्रयास से प्राप्त होनेवाले चेतना के एक नवीन शिखर की विशिष्ट ज्योति और शक्ति को ज्ञान की संपूर्ण क्रिया में उतार लाने के लिये प्रयत्न होता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने आपको चेतना के आभ्यंतर केंद्रीय परिवर्तन पर प्रबल रूप से एकाग्र कर सकता है और बहिर्गामी मानसिक जीवन के बड़े भारी भाग को त्याग सकता है अथवा उसे तुच्छ और गौण स्थान दे सकता है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वह इसे या इसके कुछ भागों को समय समय पर फिर से अपना भी सकता है—यह देखने के लिये कि कहां तक नवीन अंतरीय आंतरात्मिक और आध्यात्मिक चेतना इसकी गतियों के भीतर लाई जा सकती है। परंतु शनैः शनैः स्वभाव या प्रकृति का वह दबाव कम होता जायगा जो मानव प्राणियों में किसी एक या दूसरे प्रकार के कर्म को ऐसा आवश्यक बना देता है कि वह जीवन का एक अनिवार्य सा अंग प्रतीत होने लगता है। अंत में कोई भी आसक्ति शेष नहीं रहेगी, कहीं भी कोई निम्नतर दबाव या चालक शक्ति अनुभूत नहीं होगी। हमें केवल भगवान् से ही मतलब होगा, केवल भगवान् ही हमारी सारी सत्ता की एकमात्र आवश्यकता होंगे। यदि कर्म करने के लिये कोई दबाव होगा भी तो वह दृढ़मूल कामना का या विश्वप्रकृति की शक्ति का नहीं बल्कि उस महत्तर चित्-शक्ति की ज्योतिर्मयी प्रेरणा का दबाव होगा जो उत्तरोत्तर हमारी सारी सत्ता का एकमात्र प्रेरक-बल बनती जा रही है। दूसरी तरफ, आंतर आध्यात्मिक विकास के किसी काल में व्यक्ति को कर्मों के निषेध की अपेक्षा कहीं अधिक उनके विस्तार का अनुभव भी हो सकता है; योग-शक्ति के चमत्कारी स्पर्श से मानसिक सर्जन की नई क्षमताओं और ज्ञान के नए क्षेत्रों का उद्घाटन भी हो सकता है। सौंदर्यात्मक अनुभूति, एक क्षेत्र में या युगपत् अनेक क्षेत्रों में कलात्मक सर्जन की शक्ति, साहित्यिक भावप्रकाशन की बुद्धि या प्रतिभा, दार्शनिक चिंतन की योग्यता, आंख या कान या हाथ की कोई शक्ति या मन की शक्ति भी उद्बुद्ध हो सकती है जहां पहले इनमेंसे कोई भी दिखाई नहीं देती थी। अंतरस्थ भगवान् इन निगूढ़ ऐश्वर्यों को उन गहराइयों में से, जिनमें

ये छिपे पड़े हैं, बाहर निकाल ला सकता है अथवा ऊपर से कोई शक्ति अपने सामर्थ्यों को नीचे उंडेल सकती है, इसलिये कि वह हमारी यंत्रात्मक प्रकृति को उस कर्म या सर्जन के योग्य बना सके जिसकी प्रणालिका या निर्मात्री बनना ही इसका प्रयोजन है। योग के गुप्त महेश्वर की चुनी हुई विधि या विकास-पद्धति कोई भी क्यों न हो, फिर भी इस अवस्था की सामान्य परिसमाप्ति इस वृद्धिशील चेतना में होती है कि वह ऊर्ध्वस्थित योग-महेश्वर हमारे मन की सभी गतियों का तथा ज्ञान की संपूर्ण क्रियाओं का संचालक, निर्णायक तथा निर्मा-यक है।

जिस रूपांतर से जिज्ञासु का ज्ञानात्मक मन और ज्ञान के कर्म अविद्या की कार्यप्रणाली छोड़कर, पहले थोड़ा थोड़ा और फिर पूरी तरह से, आत्मा के प्रकाश में काम करनेवाली मुक्त चेतना की कार्यप्रणाली का अनुसरण करने लगते हैं, उसके दो चिह्न होते हैं। प्रथम यह कि चेतना का एक केंद्रीय परिवर्तन हो जाता है और परम तथा विश्वमय सत्ता का, स्वयं भगवान् और सर्वगत भगवान् का एक वर्धमान प्रत्यक्ष अनुभव, दर्शन तथा वेदन प्राप्त होता है। फलतः, मन प्रधान रूप से इसी चीज में अधिकाधिक संलग्न होने की स्थिति में उन्नीत हो जायगा और यह अनुभव करेगा कि वह उच्च एवं विशाल होकर एकमात्र आधारभूत ज्ञान के प्रकाशन का एक उत्तरोत्तर उद्दीप्त साधन बन रहा है। पर साथ ही केंद्रीय चेतना समय पाकर ज्ञान की बाह्य मानसिक क्रियाओं को उत्तरोत्तर ऊंचा ले जायगी और इन्हें अपना एक भाग या अधिकृत प्रदेश बना लेगी। यह इनके भीतर अपनी अधिक विशुद्ध गति का संचार करेगी और अधि-काधिक आध्यात्मीकृत तथा ज्ञानोद्दीप्त मन को इन तलीय क्षेत्रों अर्थात् अपने नवविजित प्रदेशों में, और साथ ही अपने गभीरतर आध्यात्मिक साम्राज्य में अपना यंत्र बना लेगी। यह दूसरा चिह्न होगा जो इस बात की विशेष पूर्ति तथा सिद्धि का चिह्न होगा कि भगवान् स्वयं ज्ञाता बन गये हैं और जो किसी समय शुद्ध रूप से मानवीय मानसिक कार्य था उसकी गतियों सहित, सभी आंतरिक व्यापार उनके ज्ञान का क्षेत्र बन गये हैं। वैयक्तिक चुनाव, सम्मति किंवा अभिरुचि न्यूनातिन्यून होती जायगी, बौद्धिक क्रिया, मानसिक उधेड़बुन या अति-कठोर मस्तिष्क-श्रम भी न्यूनातिन्यून हो जायगा; जो कुछ देखना आवश्यक है, जो कुछ जानना आवश्यक है वह सब अंदर की एक ज्योति देखे-जानेगी, वही विकास, निर्माण एवं संघटन भी करेगी। आंतर ज्ञाता ही व्यक्ति के मुक्त तथा विश्वभावापन्न मन में एक सर्वग्राही ज्ञान के कर्म करेगा।

ये दो परिवर्तन उस प्रारंभिक सफलता के चिह्न हैं जिसके होने पर मानसिक प्रकृति के कार्य उन्नीत, आध्यात्मीकृत, विस्तारित, विश्वमय एवं मुक्त हो जाते हैं और अपने इस असली प्रयोजन से सचेतन हो जाते हैं कि वे कालावच्छिन्न विश्व में अपनी अभिव्यक्ति को विरचित और विकसित करनेवाले भगवान् के साधन हैं। परंतु यह नहीं हो सकता कि रूपां-तर का संपूर्ण क्षेत्र केवल इतना ही हो, क्योंकि पूर्ण सत्य का जिज्ञासु अपना आरोहण केवल इन सीमाओं तक ही समाप्त नहीं कर सकता, न वह अपनी प्रकृति के विशालीकरण को ही यहीं तक सीमित कर सकता है। यदि वह ऐसा करेगा तो ज्ञान अभी भी उस मन का व्यापार बना रहेगा जो मुक्त, विश्वमय एवं अध्यात्ममय तो बन चुका है पर फिर भी अपेक्षा-कृत सीमाबद्ध एवं सापेक्ष है और अपनी क्रियाशीलता के असली सार में भी अपूर्ण है, जैसा कि मनमात्र स्वभावतः ही होता है। यह सत्य की महान् रचनाओं को स्पष्ट रूप से प्रति-

क्षिप्त तो करेगा, पर जिस क्षेत्र में सत्य विशुद्ध, प्रत्यक्ष, प्रभुत्वशाली और स्वाभाविक है वहां विचरण नहीं कर सकेगा। इस शिखर से अभी और ऊंचा आरोहण करना होगा, जिससे आध्यात्मीकृत मन अपने को अतिक्रांत कर ज्ञान की अतिमानसिक शक्ति में रूपांतरित हो जायगा। आध्यात्मीकरण की प्रक्रिया में यह मानव बुद्धि की भड़कीली दरिद्रता में से बाहर निकलना शुरू कर ही चुका होगा; और अब यह पहले उच्चतर मन के विशुद्ध विपुल विस्तारों में और तदनन्तर ऊर्ध्व के प्रकाश से प्रकाशित और भी महत्तर प्रज्ञा के ज्योतिष्मान् मण्डलों में क्रमशः आरोहण करेगा। इस अवस्था में यह एक अंतर्ज्ञान की,–जो परतः-प्रकाशित नहीं बल्कि स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वतः-सत्य होता है और जो पहले की तरह पूर्ण रूप से मानसिक न होने के कारण भ्रांति के बहुल आक्रमण से अभिभूत भी नहीं होता,–प्रारंभिक दीप्तियों को अधिक खुलकर अनुभव करने लगेगा और एक कम मिश्रित प्रतिक्रिया के साथ उन्हें अपने अंदर प्रवेश भी करने देगा। परंतु यहां भी आरोहण की समाप्ति नहीं हो जायगी, इसे और भी ऊपर उस अखंडित अंतर्ज्ञान के असली स्तर में उठना होगा जो मूलभूत सत् की आत्म-संवित् से निकला हुआ प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है और, इससे भी परे, वह तत्त्व प्राप्त करना होगा जहां से यह प्रकाश आता है। कारण, मन से भी परे एक अधिमानस है, एक अधिक मूलभूत और क्रियाशील शक्ति है जो मन को आश्रय देती है, उसे अपने में से निकली हुई एक क्षीण रश्मि समझती है और एक अधोमुखी गति को संक्रांत करनेवाले पट्टे या अविद्या को उत्पन्न करनेवाले साधन के तौर पर उसका प्रयोग करती है। आरोहण का अंतिम पग होगा स्वयं इस अधिमानस को भी पार करना अथवा इसका अपने और भी महत्तर उद्गम में लौट जाना तथा विज्ञान की अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरित हो जाना। अतिमानसिक ज्योति में ही भागवत सत्य-चेतना की मुहर है। इस चेतना में विश्वगत निश्चेतना और छाया से अकलुषित परम सत्य के कर्मों को संगठित करने की एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जैसी इससे नीचे की अन्य किसी चेतना में हो ही नहीं सकती। वहां पहुंचना और अविद्या का रूपांतर कर सकनेवाली अतिमानसिक क्रियाशक्ति को वहां से उतार लाना पूर्णयोग का सुदूर पर अटल और परम लक्ष्य है।

जैसे ही इनमेंसे प्रत्येक उच्चतर शक्ति का प्रकाश ज्ञान के मानवीय कार्यों पर डाला जाता है, पवित्र एवं अपवित्र और मानवीय एवं दैवी का सब प्रकार का भेद अधिकाधिक क्षीण होने लगता है और आगे चलकर यह अंतिम तौर पर मिट जाता है, मानों यह एक सर्वथा निरर्थक वस्तु हो। भागवत विज्ञान जिस चीज को स्पर्श करता तथा जिसके भीतर पूर्णरूपेण प्रवेश करता है, वह रूपांतरित होकर इसके निज प्रकाश और बल की गति बन जाती है। वह गति निम्नतर बुद्धि की मलिनता और सीमाओं से मुक्त होती है। अतएव, कुछ कार्यों से नाता तोड़ लेना नहीं वरन् उन्हें अनुप्राणित करनेवाली चेतना को बदलकर उन सबका कायापलट कर देना ही मुक्ति का मार्ग है, यही ज्ञानयज्ञ का एक अधिक महान्–सदा ही अधिकाधिक महान्–ज्योति और शक्ति की ओर आरोहण है। मन और बुद्धि के सब कर्मों को पहले उच्च और विशाल बनाना होगा, फिर उन्हें प्रकाशयुक्त कर उच्चतर प्रज्ञा के स्तर में उठा ले जाना होगा, तत्पश्चात् उन्हें एक महत्तर मनोतीत अंतर्ज्ञान की क्रियाओं में परिणत कर अधि-मानस-ज्योति के प्रबल प्रवाहों में रूपांतरित करना होगा, और फिर इन्हें भी अतिमानसिक विज्ञान के पूर्ण प्रकाश और प्रभुत्व में रूपांतरित कर देना होगा। इस जगत् में चेतना का

जो विकास हो रहा है उसमें इस चीज के पूर्वचिह्न विद्यमान हैं पर अभी यह वहां बीजरूप में तथा उसकी प्रक्रिया के आयासपूर्ण दृढ़ आशय में छुपी हुई है। यह प्रक्रिया या यह विकास तब तक नहीं रुक सकता जब तक यह आत्मा की अद्यावधि-अपूर्ण अभिव्यक्ति के स्थान पर पूर्ण अभिव्यक्ति के यंत्र विकसित नहीं कर लेता।

★

यदि ज्ञान चेतना की एक विशालतम शक्ति है और इसका व्यापार मुक्त और आलोकित करना है, तो प्रेम एक गंभीरतम तथा तीव्रतम शक्ति है और दिव्य परम रहस्य की अतिशय गभीर तथा निगूढ़ गुहाओं की कुंजी बनने का विशेष सौभाग्य केवल इसी को प्राप्त है। मनोमय जीव होने के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति यह है कि वह चिंतक मन तथा इसके तर्क एवं संकल्प को और सत्य के पास पहुंचने तथा उसे कार्यान्वित करने के इसके तरीके को सर्वोपरि महत्त्व देता है, यहां तक कि उसका झुकाव यह मानने की ओर है कि और कोई तरीका है ही नहीं। उसका हृदय, जो अपने भावों और अपरिमेय गतियों से संपन्न है, उसकी बुद्धि को ऐसा दिखाई देता है कि यह एक सांधकार एवं संदिग्ध शक्ति है–जो प्रायः ही भयानक तथा भ्रामक होती है–और इसलिये इसे तर्कबुद्धि, मानसिक संकल्प और प्रज्ञा के नियंत्रण में रखने की आवश्यकता है। परंतु, हृदय में या इसके पीछे एक गभीरतर गुह्य ज्योति भी है। यह हृदय की ज्योति चाहे वह चीज नहीं है जिसे हम अंतर्ज्ञान कहते हैं, –क्योंकि अंतर्ज्ञान, मन की चीज न होते हुए भी मन से होकर ही नीचे आता है–तथापि, यह सत्य से सीधा संबंध रखती है और ज्ञानगर्वित मानवीय बुद्धि की अपेक्षा भगवान् के अधिक निकट है। प्राचीन शिक्षा के अनुसार अंतर्यामी भगवान् या निगूढ़ पुरुष का स्थान गुह्य हृदय में है,– **हृदये गुहायाम्**, जैसा कि उपनिषदें कहती हैं,–और अनेक योगियों के अनुभव के अनुसार, इसी की गहराइयों से आंतर आप्त पुरुष की वाणी या निःश्वास प्रकट होता है।

हृदयसंबंधी यह द्विविध भाव, उसकी यह गभीरता और अंधता, जो परस्परविरोधी दिखाई देती हैं, मानव की भावमय सत्ता के दोहरे स्वरूप के कारण पैदा होती हैं। सामने की तरफ तो मनुष्यों में प्राणमय भाव का हृदय है जो पशु के हृदय जैसा है, यद्यपि है अधिक विविध रूप से विकसित। इसके भावों पर अहंकारमय आवेश, अंध और सहज राग-अनुराग तथा उन जीवन-आवेगों की समस्त क्रीड़ा का राज्य है जो दोषों और विकारों से भरे हुए हैं और प्रायः ही निकृष्ट पतन का कारण बनते हैं। यह निस्तेज तथा भ्रष्ट जीवन-शक्ति की वासनाओं, कामनाओं, क्रोधों, उत्कट या भयानक मांगों या तुच्छ लोभों और नीच क्षुद्रताओं से आक्रांत और उनमें आबद्ध है और साथ ही, आवेगमात्र के अधीन होने के कारण, हीन अवस्था में गिरा हुआ है। भावमय हृदय और संवेदनशील सतृष्ण प्राण का यह मिश्रण मनुष्य में कामना की मिथ्या आत्मा को जन्म देता है। यह कामनात्मा वह अपरिष्कृत और भयावह तत्त्व है जिसपर तर्क-बुद्धि, ठीक ही, अविश्वास करती है तथा नियंत्रण रखने की आवश्यकता अनुभव करती है, यद्यपि यह हमारी अपरिपक्व और आग्रहशील प्राणिक प्रकृति पर जितना कुछ वास्तविक नियंत्रण किंवा निग्रह स्थापित करने में सफल होती है वह सदा अत्यंत अनिश्चित और वंचनात्मक ही रहता है। परंतु मनुष्य की सच्ची आत्मा इस भावमय हृदय में नहीं है। वह प्रकृति की किसी ज्योतिर्मयी गुहा में निभृत एक सच्चे और अदृश्य हृदय में है। वहां, दिव्य ज्योति के एक विशेष अंतर्निस्यंदन की छाया में हमारी आत्मा वा प्रशांत अंतरतम सत्ता अवस्थित है जिसका ज्ञान

विरले ही लोगों को है। चाहे आत्मा है तो-सभी में, पर ऐसे लोग विरले ही हैं जो अपनी सच्ची आत्मा को जानते हैं अथवा इसकी प्रत्यक्ष प्रेरणा अनुभव करते हैं। भगवान् की इस नन्हीं सी चिनगारी का वास हम सभी में है। यह हमारी प्रकृति के इस तमसाच्छन्न पिण्ड को धारण करती है और इसी के चारों ओर चैत्य पुरुष अर्थात् हमारे अंदर की गठित आत्मा या वास्तविक 'मनुष्य' वर्धित होता है। ज्यों ज्यों मनुष्य के अंदर का यह चैत्य पुरुष विकसित होता है और हृदय की गतियां इसकी भविष्यवाणियों तथा प्रवर्तनाओं को प्रतिबिंबित करने लगती हैं त्यों त्यों मनुष्य अपनी आत्मा से उत्तरोत्तर सचेतन होता चलता है। वह अब केवल एक ऊंची श्रेणी का पशु नहीं रहता। वह अपने अंतर्यामी परमेश्वर की झांकियों के प्रति जागृत होकर, इसकी गभीरतर जीवन और चेतना-विषयक सूचनाओं को तथा दिव्य वस्तुओं के प्रति संवेग को अपने अंदर अधिकाधिक ग्रहण करने लगता है। वह पूर्णयोग का एक निर्णायक क्षण होता है जब कि यह चैत्य पुरुष मुक्त होकर, पर्दे के पीछे से सामने की ओर आकर, अपनी भविष्य-सूचनाओं, दृष्टियों और प्रेरणाओं की परिपूर्ण बाढ़ से मनुष्य के तन-मन-प्राण को आप्लावित करने और पार्थिव प्रकृति में देवत्व के निर्माण का उपक्रम करने में समर्थ होता है।

हृदय की क्रियाओं पर विचार करते हुए, ज्ञान के कर्मों की भांति ही, इसकी दो प्रकार की गतियों में प्रारंभिक भेद करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। एक तो वे गतियां हैं जो सच्ची अंतरात्मा से प्रेरित होती हैं अथवा इसके मुक्त होने में सहायता करती हैं और प्रकृति पर शासन करती हैं और दूसरी वे जो अशुद्ध प्राणिक प्रकृति की संतुष्टि में ही लगी रहती हैं। परंतु इस अर्थ में साधारणतः जो भेद किये जाते हैं वे योग के गंभीर या आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये नहीं के बराबर उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक भावों और लौकिक संवेदनों में भी भेद किया जा सकता है और आध्यात्मिक जीवन का यह एक नियम बनाया जा सकता है कि केवल धार्मिक भावों को ही बढ़ाना उचित है और सभी सांसारिक संवेदनों तथा रागों को या तो त्याग देना चाहिये या इन्हें अपनी सत्ता से निकाल फेंकना चाहिये। क्रियात्मक रूप में इसका अर्थ होगा—एक ऐसे संत या भक्त का धार्मिक जीवन जो भगवान् के साथ अकेला रहता है या केवल सार्वभौम ईश्वर-प्रेम में ही दूसरों से जुड़ा होता है अथवा, अधिक से अधिक, बाह्य संसार पर पवित्र, धार्मिक या भक्तिमूलक प्रेम के स्रोतों को प्रवाहित कर रहा होता है। परंतु स्वयं धार्मिक भाव भी प्राणिक चेष्टाओं के उपद्रव और अंधकार से प्रायः निरंतर ही आक्रांत होता रहता है। यह बहुत बार या तो असंस्कृत होता है या संकुचित या मतांध, अथवा यह ऐसी चेष्टाओं से मिला रहता है जो आत्मिक पूर्णता के चिह्न नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि संतभाव की यह उत्कट प्रतिमूर्त्ति, जो कठोर पुरोहितीय पद्धति में जकड़ी हुई है, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, पूर्णयोग के व्यापक आदर्श से बिलकुल भिन्न वस्तु है। ईश्वर और जगत के साथ एक अधिक व्यापक आंतरात्मिक तथा भावमय संबंध जोड़ना अनिवार्य है जो अपने स्तर में अधिक गंभीर तथा नमनीय हो, अपने व्यवहारों में अधिक व्यापक और सर्वस्पर्शी हो और अपने क्षेत्र के भीतर सारे के सारे जीवन को समा लेने में अधिक समर्थ हो।

मनुष्य के संसारी मन ने एक इससे अधिक व्यापक सूत्र प्रदान किया है जो नैतिक भावना पर आधारित है। संसारी मन भावों को दो श्रेणियों में विभक्त करता है, एक तो वे भाव

हैं जो नैतिक भावना से अनुमोदित हैं और दूसरे वे जो अहम्मूलक हैं तथा स्वार्थपूर्ण रूप में सर्वसाधारण एवं लौकिक हैं। परार्थ, परोपकार, करुणा, शुभेच्छा, मानवहित, सेवा-कार्य, अथवा मनुष्य तथा प्राणिमात्र के मंगल के लिये प्रयत्न ही हमारा आदर्श होना चाहिये; इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के अंतर्विकास का पथ यह है कि वह अहंभाव की केंचुली उतार कर आत्म-त्याग की एक ऐसी आत्मा में विकसित हो जाय जो केवल या मुख्यतः दूसरों के लिये अथवा समूची मनुष्यजाति के लिये जीवन यापन करे। अथवा, यदि यह पथ इतना अधिक सांसारिक और मानसिक है कि हमारी संपूर्ण सत्ता इससे संतुष्ट नहीं हो सकती,—क्योंकि हमारे अंदर एक अधिक गहरा धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्वर भी है जिसे यह मानवहितवादी सूत्र विचार में नहीं लाता,—तो इसे एक धार्मिक-नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है, और वास्तव में इसकी मूल भित्ति थी भी ऐसी ही। एवं, हृदय की भक्ति द्वारा भगवान् या पुरुषोत्तम की आंतरिक पूजा में या परम ज्ञान की खोज द्वारा अनिर्वचनीय के अनुसंधान में एक और चीज भी सम्मिलित की जा सकती है। वह है परार्थ के कार्यों द्वारा पुरुषोत्तम की पूजा अथवा मनुष्यजाति के प्रति या अपने आसपास के लोगों के प्रति प्रेम, दया और सेवा के कार्यों के द्वारा अपनी सत्ता की तैयारी। सच पूछो तो इस धार्मिक-नैतिक भावना द्वारा ही सार्वभौम हितकामना या विश्वजनीन करुणा के नियम का या पड़ोसी के प्रति प्रेम और सेवा के नियम का, अर्थात् वैदांतिक, बौद्ध या ईसाई आदर्श का जन्म हुआ था। कारण, मानव-हित का आदर्श सब बंधनों से मुक्त होकर मानसिक और नैतिक आचारधर्म की सांसारिक पद्धति का उच्चतम स्तर तभी बन सकता था यदि वह एक प्रकार के सांसारिक शीतलीकरण (refrigeration) के द्वारा अपने अंदर के धार्मिक तत्त्व की प्रचंडता को शांत कर देता। धार्मिक प्रणाली में कर्मों का यह नियम एक ऐसा साधन है जो अपना उद्देश्य सिद्ध होने पर लुप्त हो जाता है या फिर यह एक गौण विषय ही है। यह उस मतवाद का अंश है जिसके द्वारा मनुष्य देवत्व की पूजा और खोज करता है अथवा यह निर्वाण के मार्ग में आत्मा के उच्छेद का अंतिम से पहला कदम है। सांसारिक आदर्श में इसे अपने आपमें एक उद्देश्य का उच्च पद प्रदान कर दिया जाता है। यह मानव प्राणी की नैतिक पूर्णता का चिह्न बन जाता है, अथवा यह भूतल पर मनुष्य की एक अधिक सुखमय अवस्था या एक अधिक श्रेष्ठ समाज की किंवा जाति के एक अधिक एकीभूत जीवन की शर्त बन जाता है। परंतु इनमें से कोई भी चीज आत्मा की उस मांग को पूरा नहीं करती जिसे पूर्णयोग हमारे सामने रखता है।

परार्थ, परोपकार, मानवहित और सेवा मानसिक चेतना के पुष्प हैं और, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, ये सार्वभौम दिव्य प्रेम की आध्यात्मिक ज्योतिशिखा का मन द्वारा किया गया एक निरुत्साह और निस्तेज अनुकरण ही हैं। ये वास्तव में मनुष्य को अहं-बुद्धि से मुक्त नहीं करते बल्कि इसे केवल विस्तारित कर उच्चतर तथा विपुलतर तृप्ति प्रदान करते हैं। मनुष्य के प्राणिक जीवन एवं प्रकृति का परिवर्तन करने में क्रियात्मक रूप से अशक्त होते हुए, ये केवल इसकी चेष्टा को कुछ संशोधित और शांत करके इसके अपरिवर्तित अहंभावमय मूलतत्त्व पर लीपापोती कर देते हैं। अथवा यदि एक पूर्ण-सत्य संकल्प के साथ एवं अतिकठोरतापूर्वक इनका अनुसरण किया जाय तो इसके लिये हमारी प्रकृति के एक ही अंग को अतीव विस्तृत करने की जरूरत होगी। इस प्रकार की अति करने से विश्वमय और विश्वा-

तीत सनातन की ओर हमारी व्यष्टिभूत सत्ता के अनेक पहलुओं के पूर्ण तथा समग्र दिव्य विकास के लिये कोई आधार नहीं रह जायगा।

धार्मिक-नैतिक आदर्श भी पर्याप्त पथप्रदर्शक नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो केवल धार्मिक और नैतिक आवेगों में पारस्परिक सहायता के लिये समझौता है या पारस्परिक रियायतों का शर्तनामा। धार्मिक आवेग साधारण मानव प्रकृति की उच्चतर प्रवृत्तियों को अपने अंदर समाकर पृथ्वी पर एक अधिक दृढ़ आधिपत्य जमाना चाहता है और नैतिक आवेग जरा से धार्मिक उत्साह के द्वारा अपने आपको अपनी मानसिक कर्कशता और रूक्षता में से निकालकर ऊपर उठने की आशा करता है। इन दोनों के बीच शर्तनामा करने में धर्म अपने आपको गिराकर मानसिक स्तर पर ले आता है और इस प्रकार उसे मन की स्वभावगत त्रुटियां तथा जीवन का परिवर्तन एवं रूपांतर करने में इसकी अक्षमता उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती हैं। मन द्वंद्वों का क्षेत्र है और जैसे केवल सापेक्ष या भ्रम-मिश्रित सत्यों को छोड़कर किसी निरपेक्ष सत्य को प्राप्त करना इसके लिये असंभव है वैसे ही किसी निरपेक्ष शुभ की प्राप्ति भी इसके लिये असंभव है। नैतिक शुभ तो अशुभ के सहायक और संशोधक के रूप में ही अस्तित्व रखता है और अशुभ इसके साथ सदा ही लगा रहता है, मानों यह इसकी छाया, इसका पूरक एवं इसकी सत्ता का हेतु सा हो। परंतु आध्यात्मिक चेतना मानसिक स्तर से ऊंचे स्तर के साथ संबंध रखती है और वहां द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। वहां असत्य जब उस सत्य के सामने आता है जिसे मिथ्या बनाकर तथा बलपूर्वक हथियाकर यह उससे लाभ उठाता था और अशुभ जब उस शुभ के सम्मुख खड़ा होता है जिसका यह विकार या मलिन प्रतिनिधि था तब ये असत्य और अशुभ, पोषण न मिलने के कारण, विवश होकर क्षीण होने लगते हैं और, अन्त में, समाप्त ही हो जाते हैं। पूर्णयोग मानसिक तथा नैतिक आदर्शों के भंगुर सत्त्व का अवलंबन लेने से इन्कार करता है और इस क्षेत्र में अपना सारा बल तीन केंद्रीय प्रबल विधियों पर लगाता है—सच्ची अंतरात्मा या चैत्य पुरुष को विकसित करना जिससे कि यह कामना की मिथ्या आत्मा का स्थान ले ले, मानव प्रेम को दिव्य प्रेम में उदात्त करना और चेतना को इसके मानसिक स्तर से उठाकर उस आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तर में ले जाना जिसकी शक्ति से ही आत्मा और जीवन-शक्ति—दोनों अविद्या के आवरणों और छल-छद्मों से पूर्णरूपेण मुक्त की जा सकती हैं।

अंतरात्मा या चैत्य पुरुष का निज स्वभाव भागवत सत्य की ओर मुड़ना है, वैसे ही जैसे सूर्यमुखी का स्वभाव सूर्य की ओर मुड़ना है। जो कुछ भी दिव्य है या दिव्यता की ओर बढ़ रहा है उस सबको यह स्वीकार करता और उससे चिपट जाता है और जो कुछ उस दिव्यता का विकार या इन्कार है तथा जो कुछ मिथ्या और अदिव्य है उस सबसे यह परे हटता है। परंतु यह अन्तरात्मा पहले-पहल देवाधिदेव की एक चिनगारीमात्र और बाद में घने अंधकार के बीच जल रही एक नन्हीं-सी ज्वाला ही होती है। अधिकांश में यह अपने आंतर पावन धाम में छिपी रहती है और अपने आपको आविर्भूत करने के लिये इसे मन, प्राणशक्ति और भौतिक चेतना से अनुरोध करना और उन्हें प्रेरित करना पड़ता है कि वे यथासंभव उत्तम प्रकार से इसे प्रकट करें। साधारणतः यह, अधिक से अधिक, उनकी बहिर्मुखता को अपने अंतःप्रकाश से आप्लावित करने तथा उनके अंधतमस या उनके स्थूलतर मिश्रण को अपनी पावन सूक्ष्मता द्वारा कुछ कम करने में ही सफल होती है। यहां तक कि

जब चैत्य पुरुष गठित हो जाता है और अपने आपको जीवन में कुछ प्रत्यक्ष ढंग से प्रकट करने में समर्थ होता है तब भी यह इने-गिने लोगों के सिवा शेष सभी में सत्ता का एक छोटा सा अंश ही होता है। प्राचीन ऋषि इसके लिये जिस रूपक का प्रयोग करते थे वह यह है कि "इस देहसंघात में यह मनुष्य के अंगूठे से अधिक बड़ा नहीं है।" यह शारीरिक चेतना के अंधकार एवं अज्ञ क्षुद्रता और मन के भ्रांत निश्चयों या प्राणिक प्रकृति की धृष्टता तथा उग्रता पर विजय पाने में सदा सक्षम नहीं होता। यह अन्तरात्मा मनुष्य के मानसिक, भावुक एवं संवेदनात्मक जीवन को, जैसा कि यह है, इसके संबंधों, इसकी चेष्टाओं, इसके पालित-पोषित रूपों तथा आकारों के सहित स्वीकार करने के लिये बाध्य होती है। इसे इस सब सापेक्ष सत्य में से जो एक सतत मिथ्याकारी भ्रम से मिला हुआ है, इस प्रेम में से जो पाशविक शरीर के प्रयोजनों या प्राणिक अहंकार की तृप्ति में लगा हुआ है, औसत मनुष्य के इस जीवन में से जो देवाधिदेव की विरल तथा मंद झांकियों तथा राक्षस और पिशाच की घोरतर बीभत्सताओं से बिंधा हुआ है, दिव्य तत्त्व को निर्मुक्त और संवर्धित करन के लिये यत्न करना होता है। यद्यपि इसका संकल्प सारतः निर्भ्रांत होता है तो भी यह प्रायः अपने करणों के दबाव में आकर अपने कार्य में गलती कर जाती है, अयथा वेदन प्राप्त कर लेती है, व्यक्ति के चुनाव में अशुद्धि करती है और अपने संकल्प के यथार्थ रूप के विषय में तथा अभ्रांत आंतर आदर्श की अभिव्यक्ति की अवस्थाओं के संबंध में बरबस भूलें कर बैठती है। तथापि इसके अंदर एक ऐसा भविष्य-ज्ञान है जो इसे तर्कबुद्धि की अपेक्षा या ऊंची से ऊंची कामना की भी अपेक्षा अधिक अचूक पथप्रदर्शक बना देता है, और प्रत्यक्ष भ्रांतियों तथा स्खलनों के मध्य भी इसकी आवाज सूक्ष्म बुद्धि और विवेकपूर्ण मानसिक निर्णय की अपेक्षा अधिक अच्छा मार्गदर्शन कर सकती है। आत्मा की यह आवाज वह चीज नहीं है जिसे हम नैतिक भावना (conscience) कहते हैं, वह तो केवल एक मानसिक स्थानापन्न-वस्तु है जो प्रायः ही रूढ़ तथा भ्रांतिशील होती है। आत्मा की आवाज एक अधिक गंभीर और बहुत ही कम सुनाई देनेवाली पुकार है। तथापि जब कभी यह सुनाई दे, इसका अनुसरण करना अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण होता है, यहां तक कि तर्कबुद्धि और बाह्य नैतिक उपदेशक की सहायता से प्रत्यक्षतया सीधे रास्ते पर चलने की अपेक्षा अपनी आत्मा की पुकार के पीछे भटकना अधिक अच्छा होता है। परंतु जब जीवन भगवान् की ओर मुड़ता है तभी अंतरात्मा वास्तव में आगे आ सकती है और बाह्य अंगों पर अपनी शक्ति का बलपूर्वक प्रयोग कर सकती है। स्वयं भगवान् की चिनगारी होने से, भगवान् की ओर ज्योतिशिखा के रूप में बढ़ना ही इसका सच्चा जीवन और इसके अस्तित्व का वास्तविक हेतु है।

योग में एक विशेष अवस्था में पहुंचने पर जब कि मन पर्याप्त अचंचल हो जाता है और पहले की तरह पग पग पर अपने मानसिक निश्चयों की क्षमता का आश्रय नहीं लेता, जब प्राण स्थिर और वशीभूत हो चुकता है और अपनी अविवेकपूर्ण इच्छाशक्ति, मांग और कामना के संबंध में पूर्ववत् निरंतर आग्रहशील नहीं रहता, और जब शरीर को भी इतना बदल दिया जाता है कि वह अंतरीय ज्वाला को अपनी बहिर्मुखता, जड़ता या निष्क्रियता के ढेर के नीचे पूरी तरह से दबा नहीं सकता, तब एक भीतर छुपी हुई और अपने विरल प्रभावों के समय ही अनुभूत होनेवाली अन्तरतम सत्ता सामने आने में समर्थ हो जाती है और यह शेष अंगों को भी आलोकित कर सकती है तथा साधना का नेतृत्व अपने हाथ में ले

सकती है। इसका स्वभाव है भगवान् या सर्वोच्च देव की ओर अनन्य अभिमुखता,—एक ऐसी अनन्य अभिमुखता जो अनन्य होती हुई भी क्रिया तथा गति में नमनशील होती है। यह एक-निष्ठ बुद्धि की तरह किसी लक्ष्य की कट्टरता को अथवा एकनिष्ठ प्राणिक शक्ति की भांति किसी प्रभुत्वशाली विचार या आवेग की हठधर्मिता को जन्म नहीं देती। प्रतिक्षण और नमनशील असंदिग्धता के साथ यह सत्य की ओर ले जानेवाले मार्ग का निर्देश करती है, सही कदम और गलत कदम में सहज ही भेद जतलाती है, दिव्य या ईश्वरमुखी गति को अदिव्य वस्तु के चिमटनेवाले मिश्रण से पृथक् कर देती है। इसका कार्य एक जाज्वल्यमान मशाल के समान है जो, प्रकृति में जो कुछ भी परिवर्तनीय है, उस सबको स्पष्ट दिखा देती है। इसमें संकल्प की एक अग्नि है जो पूर्णता के लिये और समस्त आंतर तथा बाह्य सत्ता के रूपांतरकारी परिवर्तन के लिये आग्रह करती है। यह सर्वत्र दिव्य सारतत्त्व ही देखती है और आवरण एवं आवरक आकारमात्र का परित्याग कर देती है। यह सत्य, संकल्पशक्ति, बल एवं प्रभुत्व तथा हर्ष, प्रेम एवं सौंदर्य की आग्रहपूर्वक मांग करती है, स्थिर ज्ञान के उस सत्य की जो अज्ञान के केवल व्यावहारिक क्षणिक सत्य का अतिक्रमण कर जाता है, केवल प्राणिक सुख की नहीं बल्कि आंतरिक हर्ष की,—क्योंकि यह पतनकारी सुखों की अपेक्षा पवित्रीकारक कष्ट-क्लेश को कहीं अधिक पसंद करती है,—उस प्रेम की नहीं जो अहंकारमय लालसा के खूंटे से बंधा हुआ है या जिसके पैर पंक में फंसे हुए हैं बल्कि ऊंची उड़ान लेनेवाले प्रेम की, उस सौंदर्य की जो सनातन का निरूपण करने के अपने पुरोहितपद पर प्रतिष्ठित है तथा अहं के नहीं बल्कि आत्मा के यंत्रों के रूप में काम आनेवाले बल, संकल्प और प्रभुत्व की आग्रह-पूर्वक मांग करती है। इसका संकल्प जीवन को दिव्य बनाने, उसके द्वारा उच्चतर सत्य को अभिव्यक्त करने और उसे भगवान् तथा सनातन सत्ता पर उत्सर्ग कर देने के लिये होता है।

परंतु चैत्य पुरुष का अत्यंत अंतरंग स्वभाव भगवान् को पाने के लिये पवित्र प्रेम, हर्ष और एकत्व द्वारा प्रवृत्त होना है। भागवत प्रेम ही उसकी खोज का प्रथम विषय होता है, यही उसका प्रेरक, उसका लक्ष्य तथा उसका सत्य का सितारा होता है जो हमारे अंदर के नवजात देवत्व के नवोदित या अभी भी अंधकारावृत पालने की प्रकाशमय गुहा पर चमक रहा होता है। अपने विकास और अपरिपक्व अस्तित्व की प्रथम दीर्घ अवस्था में वह पार्थिव प्रेम, वात्सल्य, मृदुता, सद्भावना, करुणा और दया की और समस्त सुन्दरता, कोमलता सूक्ष्मता, प्रकाश, बल एवं साहस आदि उन सब चीजों की सहायता ले चुका होता है जो मानव प्रकृति की स्थूलता तथा साधारणता को सूक्ष्म एवं पवित्र करने में सहायक हो सकती हैं। परंतु वह जानता है कि अपने सर्वोत्तम रूप में भी ये मानवीय गतियां कितनी मिश्रित होती हैं, वह यह भी जानता है कि अपने निकृष्टतम रूप में ये कैसी पतित होती हैं और साथ ही अहं तथा आत्मवंचक कल्पना-जनित मिथ्यात्व की और आत्मगति के अनुकरण से लाभ उठानेवाले निम्नतर 'स्व' की मुहरछाप से कैसी चिह्नित होती हैं। आविर्भूत होते ही यह, एकदम, सभी पुराने संबंधों तथा त्रुटिपूर्ण भावमय चेष्टाओं का उच्छेद करने और उनके स्थान पर प्रेम तथा एकत्व के महत्तर आध्यात्मिक सत्य को स्थापित करने के लिये उद्यत तथा उत्सुक होता है। यह मानवीय रीतियों और गतियों को फिर भी स्वीकार कर सकता है, किंतु इस शर्त पर कि वे एकमेव देव की ओर ही मोड़ दी जायंगी। यह केवल उन्हीं संबंधों को स्वीकार करता है जो सहायक होते हैं,—हृदय में गुरु के लिये मान, ईश्वरान्वेषकों का समागम, अज्ञानमय

मानवीय और जीवजंतुमय जगत् तथा इसके प्राणियों के प्रति आध्यात्मिक करुणा, सौंदर्य का वह हर्ष, सुख एवं संतोष जो सर्वत्र भगवान् के दर्शन करने से ही प्राप्त होता है। यह हृदय के गुह्य केंद्र में विराजमान अंतर्यामी भगवान् के साथ प्रकृति का मिलन संपादित करने के लिये उसे भीतर निमज्जित करता है और जब ऐसी पुकार विद्यमान होगी तब अहंभाव की कोई भर्त्सना, परार्थ या कर्तव्य या परोपकार या सेवा के कोरे बाहरी बुलावे इसे धोखा नहीं देंगे अथवा इसे इसकी पवित्र अभीप्सा से और निज अंतःस्थित दिव्यता के आकर्षण के प्रति इसकी आज्ञाकारिता से विमुख नहीं करेंगे। यह सत्ता को परात्पर आनंदोद्रेक की ओर उठा ले जाता है; एकमेव सर्वोच्च देव तक पहुंचने के लिये यह अपनी ऊर्ध्वगति में संसार के समस्त अधोमुख आकर्षण को अपने पंखों पर से झाड़ फेंकने के लिये उद्यत होता है। पर साथ ही यह घृणा, कलह, विभाजन, अंधकार और कलहशील अज्ञान के इस जगत् को मुक्त तथा रूपांतरित करने के लिये उस परात्पर प्रेम तथा परम आनंद का नीचे आवाहन भी करता है। सार्वभौम भागवत प्रेम, व्यापक करुणा तथा तीव्र और अति महान् संकल्प की ओर यह अपने को खोल देता है—सबके मंगल के लिये, उस जगन्माता के आलिंगन के लिये जो अपनी संतानों को सब ओर से आच्छादित किये हुई है या अपने चारों ओर एकत्र कर रही है, उस दिव्य अनुराग के संस्पर्श के लिये जिसने संसार का सार्वभौम अज्ञान से उद्धार करने के लिये रात्रि के भीतर डुबकी लगाई है। यह सत्ता के इन महान् एवं सुप्रतिष्ठित सत्यों के मानसिक अनुकरणों या किसी प्राणिक दुरुपयोग से आकृष्ट या भ्रांत नहीं होता। यह अपनी अन्वेषक विद्युत्-दृष्टि से इन्हें प्रकाश में ले आता है और दिव्य प्रेम के संपूर्ण सत्य का नीचे आवाहन करता है इसलिये कि वह इन दूषित रचनाओं में सुधार करे, मानसिक, प्राणिक एवं दैहिक प्रेम को इनकी त्रुटियों या इनके विकारों से मुक्त करे और घनिष्ठता, एकता, आरोही हर्षावेश तथा अवरोही उल्लास का इनका प्रचुर भाग इनके सामने प्रकट करे।

प्रेम के और प्रेमसंबंधी कर्मों के सभी सच्चे सत्यों को चैत्य पुरुष उनके अपने स्थान में स्वीकार करता है। परंतु इसकी ज्वाला सदा ऊपर की ओर आरोहण करती है और यह आरोहण को सत्य की निम्नतर से उच्चतर कोटियों की ओर अग्रसर करने को उत्कण्ठित होता है। यह जानता है कि सर्वोच्च सत्य की ओर आरोहण तथा उस सर्वोच्च सत्य के अवरोहण के द्वारा ही प्रेम को शूली से मुक्त किया जा सकता है और सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। शूली एक ऐसे भागवत अवतरण का चिह्न है जो जागतिक रूप-विकृति की आड़ी रेखा से अवरुद्ध और प्रतिबद्ध है। यह विकृति जीवन को दुःख और दुर्भाग्य की अवस्था में परिणत कर देती है। मूल सत्य की ओर आरोहण के द्वारा ही यह विकृति सुधारी जा सकती है और प्रेम के सभी कर्म तथा ज्ञान के और जीवन के सब कर्म भी पुनः दिव्य अर्थ प्राप्त करके सर्वांगीण आध्यात्मिक सत्ता के अंग बन सकते हैं।

छठा अध्याय

यज्ञ का आरोहण (२) : : प्रेम के कर्म—प्राण के कर्म

चैत्य पुरुष को यज्ञ का नेता और पुरोहित बनाकर प्रेम, कर्म और ज्ञान का यज्ञ करने से ही यह प्राण भी अपने सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप में रूपांतरित किया जा सकता है। यदि ज्ञान-यज्ञ, यथाविधि करने पर, सहज ही एक ऐसी विशालतम और पवित्रतम हवि बन जाता है जो सर्वोच्च देव के प्रति अर्पित करने योग्य होती है, तो हमारी आध्यात्मिक पूर्णता के लिये प्रेम-यज्ञ भी इससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। अपितु, यह अपनी अनन्यता में अधिक तीव्र एवं समृद्ध होता है और ज्ञान-यज्ञ के समान ही विशाल तथा पवित्र भी बनाया जा सकता है। प्रेम-यज्ञ की तीव्रता में यह पावन विशालता तब आती है जब हमारे समस्त क्रियाकलाप में एक दिव्य असीम आनन्द की भावना एवं शक्ति प्रवाहित होती है और हमारे जीवन का संपूर्ण वातावरण सर्वमय और परमोच्च एकमेव की अनन्य भक्ति से परिपूरित हो उठता है। प्रेम-यज्ञ अपनी पूर्णता की पराकाष्ठा को तब पहुंचता है जब सर्वमय भगवान् को अर्पित होकर यह सर्वांगीण, उदार और असीम हो जाता है तथा जब, पुरुषोत्तम की ओर उन्नीत होकर, यह वह दुर्बल, स्थूल तथा क्षणिक चेष्टा नहीं रहता जिसे सामान्य लोग प्रेम कहते हैं, बल्कि एक विशुद्ध, बृहत् तथा गभीर एकीकारक आनंद बन जाता है।

यद्यपि परात्पर और विश्वव्यापी भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम ही हमारे आध्यात्मिक जीवन का नियम होना चाहिये, तथापि यह वैयक्तिक प्रेम के अखिल रूपों का अथवा व्यक्त जगत् में एक आत्मा को दूसरी के प्रति आकृष्ट करनेवाले संबंधों का नितांत बहिष्कार नहीं करता। बल्कि, यह एक आंतरात्मिक परिवर्तन की मांग करता है, अविद्या के आवरणों को दूर करने की और पुरानी निम्नतर चेतना को जारी रखनेवाली अहंभावमय मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओं को शुद्ध करने की मांग करता है। प्रेम की प्रत्येक गति को अध्यात्म-भावापन्न होकर मानसिक अभिरुचि, प्राणिक आवेश या शारीरिक लालसा पर नहीं, बल्कि आत्मा द्वारा आत्मा के अंगीकार और प्रत्यभिज्ञान पर निर्भर करना होगा। प्रेम को उसके मूलभूत आध्यात्मिक तथा आंतरात्मिक सारतत्त्व में पुनः प्रतिष्ठित करके मन-प्राण-शरीर को उस महत्तर एकत्व के अभिव्यंजक यंत्र एवं अंग बनाकर रखना होगा। इस परिवर्तन में वैयक्तिक प्रेम भी आप से आप ऊंचा उठ जायगा और उस दिव्य अंतर्वासी के प्रति, जो प्राणिमात्र में रहनेवाले एकमेव के द्वारा अधिकृत मन, आत्मा और शरीर के अंदर विराजमान है, दिव्य प्रेम में परिणत हो जायगा।

निःसंदेह, समस्त आराधन-रूप प्रेम के मूल में एक आध्यात्मिक शक्ति होती है। जब यह अज्ञानपूर्वक तथा ससीम पदार्थ को अर्पित किया जाता है तब भी विधि-विधान की दरिद्रता तथा उसके परिणामों की तुच्छता में से आध्यात्मिक वैभव की कुछ छटा दिखाई देती है। पूजात्मक प्रेम एक साथ ही अभीप्सा भी होता है और तैयारी भी। यह अपनी अविद्यागत क्षुद्र सीमाओं के भीतर भी एक साक्षात्कार की झलक प्राप्त करा सकता है, जो अभी न्यूनाधिक अंध तथा आंशिक होने पर भी आश्चर्यजनक होता है। अतएव ऐसे क्षण भी आते हैं जब हम नहीं बल्कि एकमेव ही हममें प्रेम करता और प्रेम का पात्र होता है और मानवीय

अनुराग भी इस अनंत प्रेम और प्रेमी की जरा-सी झांकी से उदात्त एवं महिमान्वित किया जा सकता है। यही कारण है कि देवता एवं प्रतिमा और आकर्षक व्यक्ति या श्रेष्ठ पुरुष की पूजा को तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, क्योंकि ऐसी पूजाएं सोपान होती हैं जिनके द्वारा मानवजाति अनंत के आनंदपूर्ण रागावेश और उल्लास की ओर गति करती है। ये अनंत को सांत करती हुई भी उसके रागावेश और उल्लास को हमारी अपूर्ण दृष्टि के समक्ष प्रकाशित करती हैं, जब कि अभी हमें निम्नतर सोपानों को, जो प्रकृति ने हमारी प्रगति के लिये बनाये हैं, प्रयोग में लाना तथा अपनी उन्नति के क्रमों को अंगीकार करना होता है। हमारी भावमय सत्ता के विकास के लिये कई प्रकार की प्रतिमापूजाएं अपरिहार्य हैं, अतएव ज्ञानी जन को तब तक किसी भी अवसर पर प्रतिमा का भंग करने के लिये उतावला नहीं होना चाहिये जब तक वह इसके स्थान पर इससे प्रतिरूपित सद्वस्तु को पुजारी के हृदय में प्रतिष्ठित न कर सके। अपिच, इनमें यह शक्ति इसलिये है कि इनके अंदर सदैव कोई ऐसी चीज होती है जो इनके रूपों से बड़ी है, और यहां तक कि जब हम परमोच्च पूजा की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तब भी वह चीज बनी रहती है और इस पूजा का विस्तार या इसकी व्यापक समग्रता का अंग बन जाती है। सब रूपों और अभिव्यक्तियों से अतीत 'तत्' को जानकर भी यदि हम प्राणी और पदार्थ, मनुष्य और जाति, पशु, पौधे और पुष्प, अपने हाथों की कृति और प्रकृति की शक्ति में, जो अब हमारे लिये जड़ मशीनरी की अंध क्रिया नहीं रहती वरन् विश्व-शक्ति का मुखमंडल और बल-वैभव बन जाती है, भगवान् को स्वीकार नहीं कर सकते तो हमारा ज्ञान अभी हमारे अंदर अपक्व है और हमारा प्रेम भी अपूर्ण है, क्योंकि वह सनातन इन चीजों में भी उपस्थित है।

परात्पर एवं परम सत्[1] को किंवा अनिर्वचनीय को हमारे द्वारा अर्पित चरम अवर्णनीय आराधना भी पूर्ण पूजा नहीं होती यदि हम मनुष्य[2], पदार्थ और प्रत्येक प्राणी में, जहां कहीं वह अपना दिव्यत्व प्रकट करता है अथवा जहां कहीं वह इसे छिपाता है वहां वहां सर्वत्र उसे अपनी पूजा अर्पित नहीं करते। अवश्य ही, इसमें एक प्रकार का अज्ञान होता है जो हृदय को कैद कर रखता है, इसके भावों को विकृत कर डालता है और इसकी आहुति के मर्म को धुंधला कर देता है। समस्त आंशिक पूजा एवं समस्त धर्म, जो मानसिक या भौतिक प्रतिमा खड़ी करता है, इससे मोहित होकर इसके भीतरी सत्य को अज्ञान के किसी न किसी आवरण के द्वारा आच्छादित तथा रक्षित रखने का यत्न करता है और सत्य को उसकी मूर्त्ति में सहज ही खो बैठता है। परंतु ऐकांतिक ज्ञान का अभिमान भी एक अंतराय और बाधा ही होता है। कारण, वैयक्तिक प्रेम के पीछे, इसके अज्ञ मानवीय रूप से ढका हुआ, एक रहस्य छुपा है जिसे मन पकड़ नहीं पाता। वह भगवान् के शरीर का रहस्य है, अनंत के गुह्य रूप का मर्म है, जिसके पास हम हृदय के हर्षोन्माद तथा शुद्ध और उदात्त संवेदन की तीव्रता के द्वारा ही पहुंच सकते हैं। इसका आकर्षण, जो दिव्य मुरलीमोहन की पुकार और सर्व-सुन्दर की मोहक प्रेरणा है, गुह्य प्रेम एवं स्पृहा के द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकता है तथा हमें अधिकृत कर सकता है। यह प्रेम एवं स्पृहा अंत में रूप तथा रूपातीत को एक कर देती है, आत्मा तथा जड़ को अभिन्न कर देती है। इसी एकत्व को प्रेमगत

---

[1]परं भावम्। गीता—९–११ [2]मानुषीं तनुमाश्रितम्। गीता ९–११

भावना यहां अज्ञान के अंधकार में खोज रही है और इसी को वह तब प्राप्त भी कर लेती है जब वैयक्तिक मानवी प्रेम स्थूल जगत् में प्रकट हुए अंतर्यामी भगवान् के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

जो बात वैयक्तिक प्रेम के संबंध में कही गई है, वही सार्वभौम प्रेम के बारे में भी लागू होती है। सहानुभूति, सद्भावना, सर्वजनीन शुभकामना और परोपकार, मानवजाति से प्रेम, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, हमारे चारों ओर के अखिल रूपों एवं आकृतियों का आकर्षण–इन सबके द्वारा आत्मा सब प्रकार से विशाल बनती है। फलतः मनुष्य मनोमय तथा भावमय रूप में अपने अहं की प्रथम सीमाओं से मुक्त हो जाता है। इस विशालता को फिर विश्वमय भगवान् के प्रति एकीकारक दिव्य प्रेम में ऊंचा उठाना आवश्यक होता है। प्रेम में परिसमाप्त आराधन, आनंद में परिसमाप्त प्रेम–सीमातिशायी प्रेम, परात्पर में प्राप्त होनेवाले लोकोत्तर आनंद का आत्म-परिवेष्टित हर्षावेश, जो भक्ति-मार्ग के अंत में हमारी प्रतीक्षा करता है,–एक अधिक व्यापक परिणाम पैदा करता है, अर्थात् यह हमारे अंदर भूतमात्र के प्रति सार्वभौम प्रेम एवं सत्मात्र का आनंद सरसाता है। हम प्रत्येक पर्दे के पीछे भगवान् के दर्शन करते हैं, सभी गोचर पदार्थों में सर्व-सुन्दर का आत्मिक तौर पर आलिंगन करते हैं। उसकी असीम अभिव्यक्ति में विद्यमान सार्वभौम आनंद हमारे द्वारा प्रवाहित होता है, प्रत्येक रूप और गति को अपनी तरंग में समा लेता है, पर किसी में बद्ध या स्थित नहीं हो जाता और सदैव एक महत्तर तथा पूर्णतर अभिव्यक्ति की ओर बढ़ता रहता है। यह सार्वभौम प्रेम मोक्षजनक है और साथ ही रूपांतर करने में भी समर्थ है। आकृतियों और प्रतीतियों का विरोध-वैषम्य अब हृदय पर प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि हृदय ने इन सबके पीछे विद्यमान एकमेव परम सत्य को अनुभव कर लिया है और इनका संपूर्ण प्रयोजन भी समझ लिया है। निःस्वार्थ कर्मी और ज्ञानी की आत्मा की निष्पक्ष समता दिव्य प्रेम के जादूभरे स्पर्श से सर्व-समालिंगी हर्षावेश तथा शत-सहस्रदेहधारी दिव्यानंद में परिवर्तित हो जाती है। सभी वस्तुएं दिव्य प्रियतम के असीम सुख-सदन में उसी की मूर्त्तियां बन जाती हैं और अखिल गतियां उसी की लीलाएं। यहां तक कि दुःख भी परिवर्तित हो जाता है और दुःखदायक वस्तुएं अपनी प्रतिक्रिया में तथा सार रूप में भी बदल जाती हैं; दुःख के रूप झड़ जाते हैं, उनके स्थान पर आनंद के रूप उत्पन्न हो जाते हैं।

चेतना के परिवर्तन का स्वरूप सार रूप में यही है। यह परिवर्तन स्वयं जीवन को भी दिव्य प्रेम और आनंद के महिमान्वित क्षेत्र में परिणत कर देता है। अपने सारतत्त्व में यह जिज्ञासु के लिये तब आरंभ होता है जब वह साधारण स्तर से आध्यात्मिक में पदार्पण करता है और संसार तथा अपने आप तथा दूसरों पर एक प्रकाशयुक्त दृष्टि एवं अनुभूति-वाले नूतन हृदय से दृष्टिपात करता है। यह अपनी पराकाष्ठा को तब पहुंचता है जब आध्यात्मिक स्तर अतिमानसिक भी बन जाता है। वहां हम इसे केवल सार रूप में ही अनुभव नहीं करते बल्कि समस्त आंतर जीवन तथा संपूर्ण बाह्य सत्ता का रूपांतर करनेवाली शक्ति के रूप में इसका सक्रिय अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं।

★

प्रेम की आत्मा और प्रकृति का मिश्रित एवं सीमित मानवी भाव के स्वरूप से परम तथा सर्व-समालिंगी दिव्य अनुराग में यह जो रूपांतर होता है इसे स्वीकार करना अनेक पार्थिव बंधनों में फंसे मानवी संकल्प के लिये कठिन भले ही हो पर मन के लिये इसे कल्पना में

लाना नितांत कठिन नहीं है। हां, जब हम प्रेम के कर्मों पर आयेंगे तब एक प्रकार की समस्या खड़ी हो सकती है। जैसे ज्ञानमार्ग की एक अतीव अतिरंजित पद्धति में उस समस्या की ग्रंथि को ही काट डाला जाता है वैसे ही यहां भी समस्या की ग्रंथि को ही काट डालना और सांसारिक कर्म का परित्याग करके उसके असंस्कृत रूपों के साथ प्रेम की भावना को एकीभूत करने की कठिनाई से भाग जाना संभव है। हमारे सामने यह मार्ग खुला है कि हम बाह्य जीवन और कर्म से सर्वथा हटकर हृदय की नीरवता में भगवान् का आराधन करते हुए एकाकी रहें। यह भी संभव है कि हम केवल वही कर्म अपनावें जो या तो स्वतः भगवत्प्रेम को प्रकट करते हैं,—जैसे प्रार्थना, स्तुति एवं प्रतीकात्मक पूजा-पाठादिरूप अनुष्ठान,— या ऐसी अंगभूत क्रियाएं हैं जो इन चीजों से संबद्ध होकर इनकी भावना को कुछ कुछ धारण कर सकती हैं, और अन्य सब कर्मों को एक तरफ छोड़ दें; आत्मा संत और भक्त के आत्म-मग्न या परमात्म-केंद्रित जीवन में अपनी अंतरीय अभिलाषा पूरी करने के लिये संसार-पथ से हट जाय। दूसरी तरफ, यह संभव है कि जीवन के किवाड़ अधिक विशालतया खोल दिये जायं और अपना भगवत्प्रेम अपने अड़ोस-पड़ोस के लोगों के प्रति तथा मानवजाति के प्रति सेवा-कार्यों में लगाया जाय। हम मनुष्य तथा पशु एवं प्रत्येक प्राणी के प्रति विश्वप्रेम, शुभ-कामना एवं परोपकार और दान तथा सहायता के कार्य कर सकते हैं, एक प्रकार की आध्यात्मिक उमंग के द्वारा उन्हें रूपांतरित भी कर सकते हैं, कम से कम उनके निरे नैतिक रंग-ढंग के भीतर आध्यात्मिक प्रेरक-भाव की एक महत्तर शक्ति का प्रवेश करा सकते हैं। आज के धार्मिक विचारक प्रायः इसी समाधान का समर्थन करते हैं, और हम देखते हैं कि इसी को वे ईश्वरान्वेषक के या दिव्य प्रेम तथा ज्ञान पर अपने जीवन को आधारित करनेवाले मनुष्य के उपयुक्त कर्म-क्षेत्र के रूप में सर्वसम्मति से तथा विश्वासपूर्वक प्रस्तुत कर रहे हैं। परंतु पार्थिव जीवन के साथ भगवान् के पूर्ण मिलन के लिये प्रचालित पूर्णयोग इस संकुचित क्षेत्र में ही नहीं रुक सकता, अथवा इस मिलन को भूतदया तथा परोपकार के नैतिक नियम की क्षुद्रतर चारदीवारी के अंदर बंद नहीं कर सकता। इसमें तो कर्ममात्र को भगवज्जीवन का अंग बनाना होगा, केवल प्रेम और परोपकारमय सेवा के कर्मों को ही नहीं बल्कि ज्ञान के कर्मों और बल, उत्पादन एवं सर्जन के कर्मों को, हर्ष, सौंदर्य एवं अध्यात्मसुख के कर्मों और संकल्प, प्रयत्न एवं सामर्थ्य के कर्मों को भी भगवज्जीवन के अंग बनाना होगा। ये सब कार्य करने का इस योग का तरीका बाह्य और मानसिक नहीं, बल्कि आंतरिक और आध्यात्मिक होगा। इसी आशय से यह सभी कर्मों में, वे चाहे जो कोई भी हों, दिव्य प्रेम एवं भजन-पूजन की भावना, और भगवान् एवं उसके सौंदर्य में प्रसन्नता की भावना ले आयगा ताकि यह समस्त जीवन को आत्मा के भगवत्प्रेममय कर्मों के यज्ञ तथा इसकी सत्ता के स्वामी की पूजा के रूप में परिणत कर सके। इस प्रकार अपने कर्मों की भावना से मनुष्य अपने जीवन को पुरुषोत्तम के प्रति पूजात्मक कर्म में परिवर्तित कर सकता है। गीता में कहा है कि, "जो मुझे भक्तिभरे हृदय से पत्र-पुष्प या फल-तोय अर्पित करता है, उसकी वह भक्ति-भेंट मैं स्वीकार करता हूं और उसका उपभोग करता हूं।"* यह बात नहीं कि कोई समर्पित बाहरी भेंट

---

*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मना।। गीता ९–२६

ही इस प्रकार प्रेम और भक्तिपूर्वक दी जा सकती है बल्कि हमारे सब विचार, हमारे सब भाव और संवेदन तथा हमारी सब बाह्य चेष्टाएं और उनके रूप एवं विषय भी सनातन के प्रति ऐसे उपहार हो सकते हैं। यह ठीक है कि एक विशेष कार्य का या कार्य के किसी विशेष रूप का अपना महत्त्व होता है, यहां तक कि भारी महत्त्व होता है, पर मुख्य वस्तु तो कार्यगत भावना ही है। कार्य जिस भावना का प्रतीक या मूर्त्त प्रकाश होता है वही इसे इसका संपूर्ण मूल्य प्रदान करती है तथा इसका मर्म बताकर इसका समर्थन करती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजा के पूर्ण कर्म में तीन अवयव होते हैं जो एक ही अखण्ड अवयवी की अभिव्यक्तियां होते हैं,—कर्म में भगवान् की क्रियात्मक पूजा; कर्म के बाह्य रूप में किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासा को या भगवान् के साथ किसी संबंध को प्रकट करनेवाला पूजा-प्रतीक; हृदय, अंतरात्मा और आत्मा में एकत्व या एकत्वानुभूति के लिये आंतरिक परानुरक्ति और अतिस्पृहा। इस तरीके से ही जीवन पूजा में परिवर्तित किया जा सकता है,—इसके पीछे परात्पर तथा सार्वभौम प्रेम की भावना और एकत्व की खोज एवं अनुभूति को प्रतिष्ठित करके, प्रत्येक कार्य को ईश्वरोन्मुख भाव का या भगवान् के साथ संबंध का प्रतीक या अभिव्यक्ति बनाकर, जो कुछ हम करें उस सबको पूजा के कार्य में तथा आत्मा के अंतर्मिलन, मन की समझ, प्राण के आज्ञापालन और हृदय के समर्पण के कार्य में परिणत करके इसे पूजा का रूप दिया जा सकता है।

किसी भी पूजाविधि में प्रतीक, अर्थपूर्ण विधि-विधान या अभिव्यंजक प्रतिमा केवल गतिशील और समृद्धिवर्धक सौंदर्यात्मक तत्त्व ही नहीं होती, अपितु एक ऐसा भौतिक साधन भी होती है जिससे मानव प्राणी अपने हृदय के भाव और अभीप्सा को बाहरी तौर पर सुनिश्चित, पुष्ट तथा क्रियाशील बनाने लगता है। क्योंकि, यद्यपि आध्यात्मिक अभीप्सा के बिना पूजा निरर्थक और वृथा है, तथापि अभीप्सा भी कर्म और रूप के बिना एक शरीररहित शक्ति होती है और जीवन के लिये पूरी तरह फलप्रद नहीं हो सकती। परंतु दुर्भाग्यवश मानव-जीवनगत सभी रूपों का यही अंत बदा है कि वे स्थिर आकार में बंधकर निरे लोकाचारात्मक और, परिणामतः, निर्जीव हो जाते हैं। यद्यपि रूप तथा पूजापद्धति अपनी शक्ति को उस मनुष्य के लिये सदैव सुरक्षित रखते हैं जो उनके आशय में अब भी पैठ सकता है, तथापि अधिकतर लोग विधि-विधान को यांत्रिक रीतिरस्म के रूप में तथा प्रतीक को निर्जीव चिह्न के रूप में बरतने लगते हैं। यह चीज धर्म की आत्मा का हनन कर डालती है, इसलिये अंत में पूजा-विधि और रूप को बदलना या बिलकुल छोड़ देना पड़ता है। यहां तक कि कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिनकी दृष्टि में समस्त पूजाविधि और रूप इसी कारण संदिग्ध और सदोष होते हैं; किंतु ऐसे तो विरले ही होते हैं जो बाह्य प्रतीकों की सहायता के बिना काम चला सकें। और फिर, मानव प्रकृति का एक दिव्य तत्त्व-विशेष भी अपनी आध्यात्मिक तृप्ति की पूर्णता के लिये सदैव इनकी अपेक्षा रखता है। सदा ही प्रतीक वहीं तक युक्तियुक्त होता है जहां तक वह यथार्थ एवं सत्य-शिव-सुन्दर होता है, और कोई यहां तक भी कह सकता है कि जो आध्यात्मिक चेतना रसग्राही या भावुक तत्त्व से सर्वथा रहित होती है वह पूर्ण रूप में या कम से कम सर्वांगीण रूप में आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक जीवन में कर्म का आधार होती है आध्यात्मिक चेतना जो नित्य-स्थायिनी और नवस्फूर्त्तिदायिनी है, अपने को नित नए रूपों में प्रकट करने को प्रेरित होती है अथवा सदैव

किसी रूप के सत्य को आत्मा के प्रवाह के द्वारा पुनः नूतन कर सकती है। अपने को इस प्रकार प्रकट करके हर एक काम को आत्मा के किसी सत्य का जीवंत प्रतीक बनाना ही इसकी सर्जनशील दृष्टि और प्रेरणा का वास्तविक स्वभाव है। इसी भाव से आत्म-जिज्ञासु को जीवन के साथ बरतना होगा, इसका रूप बदलना तथा इसे इसके सारतत्त्व में महिमान्वित करना होगा।

परमोच्च दिव्य प्रेम एक सर्जनशील शक्ति है। यद्यपि यह स्वयं अपने में शांत और निर्विकार रह सकता है तो भी यह बाह्य रूप और प्राकटच में रस लेता है और मूक तथा निराकार देवत्व बने रहने के लिये बाधित नहीं है। यहां तक कहा गया है कि स्वयं यह सृष्टि भी प्रेम का कार्य थी या कम से कम एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण थी जिसमें भागवत प्रेम अपने प्रतीकों का आविष्कार करके अपने को परस्पर-व्यवहार तथा आत्म-दान के कर्म में चरितार्थ कर सके। यह सृष्टि का आदि स्वरूप भले ही न हो किंतु इसका अंतिम लक्ष्य और आशय यह सहज में हो सकता है। यह ठीक है कि इस समय सृष्टि का स्वरूप ऐसा नहीं प्रतीत होता, परंतु इसका कारण यह है कि, यद्यपि भागवत प्रेम संसार में है और प्राणियों के इस सब विकास को धारण कर रहा है तो भी जीवन का उपादान और कार्य-व्यवहार तो अहंमूलक रचना तथा भेदभावना से ही गठित है,—यह एक ऐसे संघर्ष से निर्मित है जो हमारे जीवन और चेतना को निष्प्राण तथा निश्चेतन प्रकृति के इस प्रत्यक्षतः-उदासीन, निष्ठुर या यहां तक कि शत्रुरूप जगत् में अपने अस्तित्व तथा स्थायित्व के लिये करना पड़ता है। इस संघर्ष के गोलमाल और अंधकार में सबकी एक दूसरे से मुठभेड़ होती है, प्रत्येक की इच्छा होती है कि वह अपनी निजी अस्ति का अधिकार प्रथम और प्रधान जतावे और केवल गौण रूप में ही अपने आपको दूसरों में तथा बहुत थोड़ा सा दूसरों के लिये माने। यहां तक कि मनुष्य का परार्थ-भाव भी वास्तव में स्वार्थपूर्ण रहता है और वह ऐसा रहेगा ही जब तक कि आत्मा को दिव्य एकत्व का रहस्य प्राप्त नहीं हो जाता। उस एकत्व का परम उद्गम ढूंढ़ने, उसे अंदर से निकाल लाने और बाह्य जीवन के परले छोरों तक प्रसारित करने के लिये ही योग का अभ्यास किया जाता है। कर्ममात्र तथा सर्जनमात्र को पूजा, उपासना और यज्ञ के ही एक रूप तथा प्रतीक में बदल जाना होगा। इसे अपने अंदर एक ऐसी चीज धारण करनी होगी जो इसपर उत्सर्ग की और भागवत चेतना के ग्रहण एवं प्रतिरूपण तथा प्रियतम की सेवा, आत्म-दान एवं समर्पण की छाप लगा दे। ऐसा हमें यावत्संभव कर्म के बाह्य शरीर और रूप में भी करना होगा; इसकी भीतरी उमंग में तो ऐसा सदा ही करना होगा,—ऐसी तीव्रता के साथ जिससे पता चले कि यह हमारी आत्मा से सनातन की ओर बहनेवाला एक प्रवाह है।

कर्ममय आराधन स्वतः एक महान्, पूर्ण एवं प्रभावशाली यज्ञ होता है जो अपने आपको अनेकगुना करके एकमेव का ज्ञान प्राप्त करता है और भगवान् के तेजपुंज के प्रसार को संभव बनाता चलता है। कारण, भक्ति अपने आपको कर्म में मूर्त्त करके न केवल अपने मार्ग को विशाल, समृद्ध और शक्तिशाली बनाती है, बल्कि इस जगत् के अंदर कर्मों के कठोरतर पथ में हर्ष तथा प्रेम का एक दिव्य-रसमय तत्त्व भी ले आती है। भक्तिमार्ग के प्रारंभ में इस तत्त्व का प्रायः अभाव ही होता है क्योंकि तब केवल तपोमय आध्यात्मिक संकल्प ही संघर्षमय उन्नतिकारी प्रयास के साथ एक सीधी चढ़ाई चढ़ता है और हृदय अभी या तो प्रसुप्त

होता है या मूक रहने को बाध्य होता है। यदि दिव्य प्रेम की भावना प्रवेश पा सके, तो पथ की कठोरता कम पड़ जायगी, तनाव हलका हो जायगा, कठिनाई तथा संघर्ष के गर्भ में भी माधुर्य एवं हर्ष उपस्थित रहेगा। निश्चय ही, हमारे समस्त संकल्पों, कर्मों और चेष्टाओं का परम देव के प्रति अनिवार्य समर्पण पूरी तरह से संपन्न और सफल तभी होगा जब कि वह एक प्रेममय समर्पण हो। यदि समस्त जीवन इस पूजा-विधि में परिणत हो जाय, यदि सभी कर्म भगवान् के प्रेम में तथा संसार और इसके प्राणियों के प्रेम में किये जायं और सब प्राणी ऐसे दिखें और लगें मानों वे नाना छद्म-रूपों में अभिव्यक्त भगवान् ही हों तो इस भाव के बल पर सारा जीवन और कर्म पूर्णयोग के अंग बन जायेंगे।

यज्ञ का असली प्राण है—हृदय की भक्ति का आंतरिक अर्पण, और यज्ञ के प्रतीक एवं उसकी क्रिया में अर्पण की भाव-भावना। यदि अर्पण को पूर्ण और विराट् बनाना है, तो सब भावों को भगवान् की ओर मोड़ना ही होगा। यह मानव-हृदय की शुद्धि का एक अत्यंत तीव्र उपाय है। कोई भी नैतिक या सौंदर्यबोधात्मक शुद्धीकरण अपने अपूर्ण बल और ऊपरी दबाव को लिये हुए इसके समान प्रभावशाली कभी नहीं हो सकता। अंतर में एक चैत्य अग्नि प्रज्वलित करनी होगी जिसमें प्रत्येक चीज भगवान् के नाम से होम देनी होगी। उस अग्नि में सब भाव अपने स्थूलतर अंशों को त्याग देने के लिये बाधित किये जायंगे, जो भाव अदिव्य विकार हैं वे राख कर दिये जायंगे, और अन्य सब भाव भी अपनी न्यूनताएं त्यागते जायंगे जब तक कि विशालतम प्रेम और निर्मल दिव्य आनंद की भावना ज्वाला और धूम और धूप में से उद्भूत नहीं हो उठेगी। इस प्रकार एक दिव्य प्रेम उदित होगा और उस प्रेम को जब एक सक्रिय विश्वव्यापिनी समता के साथ, मनुष्य एवं प्राणिमात्र में विराजमान भगवान् के प्रति एक अंतरीय भाव के रूप में विस्तारित किया जायगा, तो वह जीवन की पूर्णता की सिद्धि के लिये अधिक समर्थ होगा, और एक अधिक सच्चा साधन होगा। भ्रातृभाव का निर्बल मानसिक आदर्श कभी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। कर्मों में प्रवाहित इस प्रकार का प्रेम ही जगत् में समस्वरता और इसके सभी प्राणियों में सच्ची एकता संपादित कर सकता है। इसके सिवा अन्य सभी उपाय इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यर्थ के प्रयास होंगे जब तक कि दिव्य प्रेम इस पार्थिव प्रकृति में प्रकट हुई अभिव्यक्ति के सार के रूप में अपने आपको प्रकट नहीं कर देता।

यहीं हमारे अन्तःस्थ निगूढ़ चैत्य पुरुष का यज्ञ के अग्रणी के रूप में आविर्भाव अत्यंत महत्त्व रखता है। यह अन्तरतम पुरुष ही कर्म में आत्मा का पूर्ण बल तथा प्रतीक में सारतत्त्व ला सकता है। यही प्रतीक की सनातन नूतनता, सत्यता और सुन्दरता का तब भी विश्वास दिला सकता है जब कि आध्यात्मिक चेतना अभी अपूर्ण होती है; यह उसे मृत रूप या दूषित तथा दूषक जादू-टोना बन जाने से बचा सकता है। यही कर्म के लिये प्रतीक की शक्ति को इसके आशय सहित सुरक्षित रख सकता है। हमारी सत्ता के अन्य सभी अंग—मन, प्राण-शक्ति, भौतिक या शारीरिक चेतना—इतने अधिक अविद्या के वश में हैं कि ये विश्वस्त यंत्र नहीं हो सकते, किसी पथप्रदर्शक या निर्भ्रांत आवेग के स्रोत बनना तो और भी दूर की बात है। इन अंगों या शक्तियों के प्रेरक-भाव और कर्म का बहुत बड़ा भाग सदैव प्रकृति के पुराने नियम, धोखा देनेवाली मीठी गोलियों तथा रुचिकर निम्न गतियों से ही चिपटा रहता है। ये उन वाणियों और शक्तियों का, जो हमें अपनी ओर पुकारती हैं और प्रेरित करती हैं कि

हम अपने को अतिक्रांत करके महत्तर सत्ता तथा विशालतर प्रकृति में रूपांतरित कर दें, अनिच्छा, धमकी या विद्रोह या बाधक जड़ता के द्वारा सामना करती हैं। इनके अधिकतर भाग का प्रत्युत्तर या तो विरोध-रूप होता है अथवा मर्यादित या समयानुकूल स्वीकृति-रूप। यदि ये पुकार के पीछे चलती भी हैं तो भी, जान-बूझकर नहीं तो यांत्रिक अभ्यासवश ये आध्यात्मिक क्रिया के अंदर अपनी स्वभावगत दुर्बलताएं तथा भ्रांतियां ले आने में ही लग जाती हैं। प्रतिक्षण ही ये आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक प्रभावों से स्वार्थपूर्ण लाभ उठाने के लिये प्रेरित होती हैं। उन प्रभावों से हमारे भीतर जो बल, हर्ष या प्रकाश आता है उसे ये निम्नतर प्राणिक हेतु के लिये प्रयुक्त करती हुई पकड़ी जा सकती हैं। बाद में, जब जिज्ञासु विश्वातीत, विश्वव्यापी या अन्तर्यामी भागवत प्रेम की ओर खुल जाता है तब भी, यदि वह इसे जीवन के अंदर उंडेलने का यत्न करता है, तो उसे इन निम्नतर प्रकृति-शक्तियों के अंधकार तथा विकार पैदा करनेवाले बल का सामना करना पड़ता है। सदैव ये गड्ढों की ओर घसीटती हैं, उस उच्चतर तीव्रता में अपने पतनकारी तत्त्व ढार देती हैं, उतरती हुई शक्ति को अपने लिये तथा अपने स्वार्थों के लिये पकड़ लेने की चेष्टा करती हैं और इसे कामना तथा अहंकार का एक बढ़ा-चढ़ा मानसिक, प्राणिक या भौतिक साधन बनाकर पतित कर डालती हैं। भागवत प्रेम तो सत्य और प्रकाश के एक नए स्वर्ग तथा नए संसार की सृष्टि करनेवाला प्रेम है, किंतु ये उलटे उसी को यहां बन्दी बना लेना चाहती हैं, इसलिये कि वह पुराने संसार की दलदल पर सोने का मुलम्मा चढ़ाने के लिये और भावोद्दीपक प्राणिक कल्पना तथा मानसिक आदर्शभूत मनोरथ-सृष्टि के पुराने मलिन मिथ्या आकाशों को अपने नीले-गुलाबी रंग से रंगने के लिये एक बड़ी भारी अनुमति तथा गौरवप्रद एवं उन्नायक बल बन कर रहे। यदि ऐसा मिथ्याकरण होने दिया गया तो उच्चतर प्रकाश, बल और आनंद लौट जायंगे और हम निम्नतर अवस्था में पतित हो जायंगे; अथवा हमारी उपलब्धि एक अरक्षित पड़ाव और मिश्रण तक ही सीमित रहेगी या वह एक हीनतर हर्षावेश से ढक जायगी, यहां तक कि उसमें डूब ही जायगी, पर वह हर्षावेश सच्चा आनंद नहीं होगा। यही कारण है कि भागवत प्रेम समस्त सृष्टि का हृदय और सभी उद्धारक तथा सर्जक शक्तियों में अत्यंत बलशाली होता हुआ भी पार्थिव जीवन में बहुत ही कम सामने उपस्थित, सबसे कम सफल रक्षक एवं सबसे कम सर्जक रहा है। मानव प्रकृति इसे इसकी शुद्धावस्था में सहन करने में असमर्थ रही है, कारण यही है कि यह सभी दिव्य बलों में सर्वाधिक प्रबल, पवित्र, विरल और तीव्र है। जो थोड़ा सा ग्रहण किया जा सकता था उसे भी तुरंत बिगाड़कर प्राणगत अतिशय पुण्याडंबर, दुर्बल धार्मिक या नैतिक भावुकता, प्रफुल्ल मन या उत्तेजना-कलुषित जीवन-आवेग के ऐन्द्रिय या यहां तक कि लंपट प्रेमसंबंधी गुह्यवाद का रूप दे दिया गया है। जो गुह्य ज्वाला अपनी होम-शिखाओं से संसार का नव-निर्माण कर सकती है, यह विकृत प्रेम उसे आश्रय देने में असमर्थ है और इस कमी की पूर्त्ति उक्त मिथ्याचारों से की गई है। केवल अन्तरतम हृत्पुरुष ही अनावृत और अपनी पूरी शक्ति के साथ उदित होकर हमारी जीवन-यात्रा के यज्ञ को इन गर्त्तजालों में से अक्षत ले चल सकता है। प्रतिक्षण यह मन और प्राण के असत्यों को पकड़ता है, उनकी पोल खोलता तथा उन्हें हटाता है, दिव्य प्रेम एवं आनंद के सत्य को दृढ़तापूर्वक अधिकृत करता है और उसे मन की उमंगों के उत्तेजन से तथा मार्ग-भ्रष्ट करनेवाली प्राण-शक्ति के अंध उत्साह से पृथक् करता है। परंतु मन, प्राण और स्थूल

सत्ता में जो भी चीजें अपने अन्तःसार की दृष्टि से सत्य हैं उन सबका यह उद्धार करता है और उन्हें तब तक यात्रा में अपने संग लिये चलता है जब तक कि वे भावना में नवीन तथा आकृति में उदात्त होकर शिखरों पर आरोहण करती चल सकती हैं।

परंतु अंतरतम हृत्पुरुष का पथप्रदर्शन तब तक पर्याप्त नहीं प्रतीत होता जब तक यह अपने आपको निम्नतर प्रकृति के इस ढेर में से निकालकर उच्चतम आध्यात्मिक स्तरों तक उठाने में सफल नहीं हो जाता और इहलोक में अवतीर्ण वह दिव्य स्फुलिंग एवं ज्वाला अपने आप-को अपने मूल, तेजोमय आकाश के साथ फिर से मिला नहीं देती। क्योंकि अब यह वह आध्यात्मिक चेतना नहीं है जो अपूर्ण है तथा मानव मन, प्राण एवं शरीर के घने कोशों में अपने-आपको खोये हुई है, अब तो यह वह पूर्ण आध्यात्मिक चेतना है जो अपनी पवित्रता, स्वतंत्रता तथा तीव्र विशालता से संपन्न है। जिस प्रकार इसमें नित्य ज्ञाता ही हमारे अंदर ज्ञाता तथा ज्ञानमात्र का प्रेरक एवं प्रयोक्ता बन जाता है, उसी प्रकार वह नित्य आनंद-स्वरूप ही हमारा उपास्य देव हो जाता है और वह अपनी सत्ता तथा आनंद के इस सनातन दिव्य अंश को, जो बाहर विश्व की लीला में संलग्न है, अपनी ओर आकर्षित करता है, वह अनंत प्रेमी ही अपने को अपनी असंख्य व्यक्त आत्माओं के अंदर मधुर एकत्व में उंडेल देता है। संसार में जो भी सौंदर्य है वह सब तब इस प्रियतम का सौंदर्य हो जाता है; सौंदर्य के सभी रूपों को उस शाश्वत सौंदर्य के प्रकाश के तले स्थित होकर अनावृत दिव्य पूर्णता के एक उन्नायक तथा रूपांतरकारी बल के आगे आत्मसमर्पण करना पडता है। तब समस्त आनंद और हर्ष सर्वानंदमय के ही हो जाते हैं; भोग, सुख या आराम के सभी हीन-तर रूपों को इसकी बाढ़ों या धाराओं के वेग का आघात सहन करना पड़ता है। इसके आधर्षक दबाव के नीचे वे या तो असमर्थ वस्तुओं की तरह चूर चूर हो जाते हैं या वे अपने को दिव्य आनंद के रूपों में परिणत करने को बाध्य होते हैं। इस प्रकार वैयक्तिक चेतना के लिये एक ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है जो इसके अंदर अज्ञान के मूल्यों की न्यूनताओं और हीनताओं का प्रभावपूर्वक प्रतिकार कर सकती है। अंत में, सनातन के अपने निज प्रेम और हर्ष की अतिशय वास्तविकता तथा सघन मूर्त्तता को जीवन में उतार लाना संभव होने लगता है। अथवा कम से कम हमारी अध्यात्म-चेतना के लिये अपने को मन से अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और विशालता में उठा ले जाना संभव हो जाता है। अतिमान-सिक विज्ञान के प्रकाश और बल में ही दिव्य आत्म-प्रकटन तथा आत्म-संगठन की शक्ति का तेज और हर्ष विद्यमान हैं। वही अज्ञान के जगत् का परित्राण कर सकते हैं और वही आत्मा के सत्य की प्रतिमा में इसका नवसर्जन कर सकते हैं।

अतिमानसिक विज्ञान में ही आंतरिक आराधन की कृतार्थता, परिपूर्ण उच्चता तथा सर्व-समालिंगी विस्तीर्णता है, गभीर और पूर्ण मिलन है, परम ज्ञान के बल और हर्ष को वहन करनेवाले प्रेम के प्रज्वलित पंख हैं। कारण, जो शून्य निष्क्रिय शांति तथा निस्तब्धता मुक्त मन का द्युलोक है उसे अतिक्रांत करनेवाले सक्रिय हर्षावेश को अतिमानसिक प्रेम जन्म देता है, साथ ही यह अतिमानसिक निश्चल-नीरवता की प्रारंभिक गंभीरतर महत्तर प्रशांति का परित्याग भी नहीं करता। प्रेम की एकता, जो भेदों की वर्तमान सीमाओं तथा प्रत्यक्ष विष-मताओं के द्वारा न्यून या नष्ट हुए बिना इन सबको अपने में सम्मिलित कर सकती है, अति-मानसिक स्तर पर अपनी पूर्ण संभाव्य शक्ति के शिखर पर पहुंच जाती है। वहां प्राणिमात्र के

बीच प्रगाढ़ एकत्व, जो भगवान् और आत्मा के गभीर एकत्व पर प्रतिष्ठित होता है, संबंधों की क्रीड़ा से संगति स्थापित कर सकता है और यह क्रीड़ा ही एकत्व को अधिक पूर्ण एवं निरपेक्ष बनाती है। प्रेम की शक्ति विज्ञानमय होकर जीवन के सभी संबंधों को बिना संकोच या भय के स्वायत्त कर सकती है और उन्हें अपरिष्कृत, मिश्रित तथा क्षुद्र मानवीय ढंगों से मुक्त कर तथा दिव्य जीवन की सुखमय साधन-सामग्री के रूप में उदात्त करके ईश्वर की ओर मोड़ सकती है। अतिमानसिक अनुभव का यह स्वभाव ही है कि यह दिव्य मिलन या अनंत एकत्व से च्युत हुए बिना या उसे जरा भी कम किये बिना भेद की क्रीड़ा को जारी रख सकता है। अतिमानसीकृत चेतना के लिये मनुष्यों और जगत् के साथ स्थापित सब संबंधों को शुद्ध तेजोवल में तथा रूपांतरित अर्थ के द्वारा आलिंगित करना पूरी तरह संभव होगा। कारण, आत्मा तब प्रेम या सौंदर्य-विषयक समस्त भाव एवं सम्पूर्ण खोज के लक्ष्य के रूप में एकमेव सनातन को निरंतर अनुभव करेगी और सब वस्तुओं तथा सब प्राणियों में उस एकमेव भगवान् से मिलने और उसके साथ एक हो जाने के लिये विस्तृत तथा मुक्त प्राणावेग का आत्मिक रूप में प्रयोग कर सकेगी।

*

यज्ञ के कर्मों की तीसरी वा अंतिम श्रेणी में उन सब कर्मों का समावेश किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष ही कर्मयोग का विशेष अंग है; क्योंकि वही यज्ञ की सिद्धि का क्षेत्र और इसका मुख्य प्रदेश हैं। जीवन के अधिक प्रत्यक्ष कार्य-व्यवहार का संपूर्ण क्षेत्र भी इसके अंदर आ जाता है। पार्थिव जीवन से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिये अपने-आपको बाहर की ओर झोंकनेवाली जीवनेच्छा के नानाविध सामर्थ्य भी इसी के अंतर्गत हो जाते हैं। यहीं तपस्यात्मक या पारलौकिक आध्यात्मिकता अपनी खोज के लक्ष्यभूत सत्य का अकाटच खण्डन अनुभव करती है; परिणामतः वह पार्थिव जीवन से मुह मोड़ने को विवश हो जाती है और इसे अप्रतिकार्य अविद्या का एक नित्य अंधकारमय क्रीड़ाक्षेत्र मानकर त्याग देती है। तथापि ठीक इसी कार्य-व्यवहार को पूर्णयोग आध्यात्मिक विजय और दिव्य रूपांतर के लिये अपना क्षेत्र बनाने का दावा करता है। अधिक तपस्यामय अभ्यासक्रम जिस क्षेत्र को सर्वथा त्याग देते हैं तथा अन्य विधियां जिसे केवल अल्पकालिक अग्निपरीक्षा के क्षेत्र या निगूढ़ आत्मा की एक क्षणिक, बाह्य तथा संदिग्धार्थक क्रीड़ा के रूप में स्वीकार करती हैं, पूर्णयोग का जिज्ञासु उसका पूरी तरह से आलिंगन एवं स्वागत करता है, इस नाते कि यह परिपूर्णता तथा दिव्य कर्म का और गुप्त एवं अंतर्वासी आत्मा की पूर्ण आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है। अपने अंदर देवत्व की उपलब्धि उसका प्रथम लक्ष्य है, परंतु संसार में–इसकी योजना और रूप-रचना द्वारा किये गये देवत्व के प्रत्यक्ष निषेध के पीछे भी–देवत्व की पूर्ण उपलब्धि और, अंत में, किसी परात्पर सनातन की क्रियाशीलता की पूर्ण उपलब्धि भी उसका लक्ष्य है। इस क्रियाशीलता के अवतरण से ही यह संसार और आत्मा अपने आवरक कोषों को खोल डालने में समर्थ होंगे और अपने आविष्कारक स्वरूप तथा अभिव्यंजक प्रक्रिया में दिव्य बन जायंगे जैसे वे अब गुप्त रूप से अपने निगूढ़ सार में हैं ही।

पूर्णयोग का यह लक्ष्य इसके अनुगामियों को पूरी तरह से स्वीकार करना होगा, परंतु इसे स्वीकार करते हुए भी इसकी प्राप्ति के मार्ग में आनेवाली अनंत बाधाओं से अनभिज्ञ नहीं रहना होगा। बल्कि, हमें उस प्रबल कारण का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है जिसके बल

पर अन्य कितनी ही साधनाएं यह भी मानने से इन्कार करती हैं कि यह लक्ष्य पार्थिव जीवन का सच्चा मर्म हो सकता है, इसकी अनिवार्यता स्वीकार करने की बात तो दूर रही। कारण, यहां पृथ्वी-प्रकृति में प्राण के कर्मों में ही उस कठिनाई का असली मर्म छिपा है जिसके कारण दर्शन एकाकिता के शिखरों की ओर झुक गया है तथा धर्म की आतुर दृष्टि भी मर्त्य-शरीरगत जन्म की व्याधि से दूरस्थ स्वर्ग या निर्वाण की नीरव शांति की ओर फिर गई है। हमारी मर्त्य सीमाओं और अविद्या के गर्त्तजालों के होते हुए भी, शुद्ध ज्ञान का मार्ग जिज्ञासु के अनुसरण के लिये अपेक्षाकृत ऋजु और सरल होता है। शुद्ध प्रेम के पथ की यद्यपि अपनी ही बिघ्न-बाधाएं, विरह-वेदनाएं एवं अग्नि-परीक्षाएं होती हैं तथापि वह, तुलनात्मक दृष्टि से, खुले आकाश में पक्षी के विचरने की भांति सुगम हो सकता है। ज्ञान और प्रेम तत्त्वतः पवित्र हैं और ये मिश्रित, जटिल, भ्रष्ट एवं पतित तभी होते हैं जब कि ये प्राण-शक्तियों की अस्पष्ट गति में भाग लेते हैं और उनके द्वारा बाह्य जीवन की असंस्कृत गतियों तथा हठीले निम्नतर प्रेरक-भावों के लिये बलात् अधिकृत किये जाते हैं। इन शक्तियों में से केवल जीवन-शक्ति या कम से कम एक प्रकार की प्रबल जीवनेच्छा अपने असली सार में भी एक अपवित्र, अभिशप्त या भ्रष्ट वस्तु प्रतीत होती है। इसके संसर्ग से, इसके मलिन आवरणों में लिपटी हुई या इसकी सतरंगी दलदलों में फंसी हुई दिव्यताएं भी स्वयं सामान्य एवं पंकिल हो जाती हैं और इसके विकारों में नीचे की ओर घसीटी जाने तथा दुर्भाग्यवश दानव एवं असुर जैसी बन जाने से मुश्किल से ही बच पाती हैं। अंधेरी और मलिन जड़ता का तत्त्व इसकी जड़ में है; शरीर और इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओं के कारण सभी मनुष्य क्षुद्र मन, तुच्छ तृष्णाओं और उमंगों से, छोटी छोटी व्यर्थ की चेष्टाओं, आवश्यकताओं, चिंताओं, व्यग्रताओं तथा सुख-दुःखों की निरर्थक आवृत्ति से बंधे हुए हैं। ये सब चीजें अपने से परे किसी चीज की ओर नहीं ले जातीं और इनपर एक ऐसे अज्ञान की छाप लगी हुई है जिसे अपने क्यों और किधर का कुछ पता नहीं है। यह जड़ स्थूल मन अपने छोटे पार्थिव देवों के अतिरिक्त किसी देवत्व में विश्वास नहीं करता; यह संभवतः और अधिक सुख-सुविधा तथा सुप्रबंध की आकांक्षा करता है, पर ऊर्ध्वगति और आध्यात्मिक मुक्ति की याचना नहीं करता। सत्ता के केंद्र में हमारी एक अत्यधिक रसिक बलवत्तर जीवनेच्छा से भेंट होती है, पर यह एक अंधी राक्षसी एवं विकृत आत्मा ही होती है और ठीक उन्हीं तत्त्वों में मजा लेती है जो जीवन को आयास-मय संघर्ष तथा दुःखदायी कलह बना डालते हैं। यह मानवीय या पैशाचिक कामना की आत्मा है जो भड़कीले रंग, उच्छृंखल काव्य तथा शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, प्रकाश-अंधकार, मादक हर्ष और कटु यन्त्रणा के एक मिश्रित प्रवाह के उग्र दुःखांत या उद्दीपक गीति-नाटक में आसक्त रहती है। यह इन चीजों से प्यार करती है और इन्हें अधिकाधिक पाना चाहती है, अथवा, जब यह दुःख भोगती तथा इनके विरुद्ध चिल्लाती है तब भी यह और कोई चीज स्वीकार नहीं कर सकती न ही उसमें रस ले सकती है। यह उच्चतर वस्तुओं से घृणा और विद्रोह करती है और अपने आवेश में ऐसी किसी भी दिव्यतर शक्ति को कुचल देना, चीर डालना या गला घोंट के मार देना चाहती है जो जीवन को शुद्ध, उज्ज्वल तथा सुखी बनाने तथा उस उत्तेजक मिश्रण की तीक्ष्ण सुरा को इसके अधरों से छीनने का प्रस्ताव रखने का दुस्साहस करती है। एक और जीवनेच्छा भी है जो एक उत्थापक आदर्शात्मक

मन का अनुसरण करने को उद्यत होती है तथा उसके इस प्रस्ताव से आकृष्ट हो जाती है कि जीवन में से कुछ सामंजस्य, सौंदर्य, प्रकाश तथा उत्कृष्टतर व्यवस्था का रस ले लेना चाहिए, परंतु यह प्राणिक प्रकृति का एक बहुत छोटा सा भाग है और अपने अधिक उग्र या अंधतर एवं मूढ़तर साथियों से सहज ही अभिभूत हो सकती है। यह मन की पुकार से अधिक ऊंची किसी पुकार का तब तक आसानी से साथ नहीं देती जब तक वह पुकार अपना नाश आप ही नहीं कर लेती, जैसा कि धर्म प्रायः ही कर लेता है, अपनी मांग को इस अवस्था तक कम कर लेने से कि वह हमारी अंध प्राणिक प्रकृति के लिये काफी समझ में आने लायक हो जाय। आध्यात्मिक जिज्ञासु अपने अंदर इन सब शक्तियों से सचेतन हो जाता है तथा इन्हें अपने चारों ओर सब जगह अनुभव करता है। उसे इनके साथ निरंतर संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है ताकि वह इनके चंगुल से छुटकारा पा सके तथा इन्होंने उसकी सत्ता एवं पारिपार्श्विक मानव सत्ता पर जो चिर-रक्षित आधिपत्य जमा रखा है उससे इन्हें च्युत कर सके। यह कठिनाई एक बड़ी भारी कठिनाई है; क्योंकि उनका अधिकार अत्यंत दृढ़ है, स्पष्ट रूप से अदम्य है, यहां तक कि यह इस तिरस्कारपूर्ण उक्ति को सत्य सिद्ध करता है कि मानव-प्रकृति कुत्ते की दुम के समान है। इसे आचार-शास्त्र, धर्म, तर्कबुद्धि या अन्य किसी उद्धारक पुरुषार्थ के बल से चाहे कितना भी सीधा करने का यत्न क्यों न करो, यह अंत में सदा ही विश्व-प्रकृति की कुटिल वक्रावस्था में पुनः पुनः लौट आती है। इस अत्यंत विक्षुब्ध जीवनेच्छा का बल तथा चंगुल इतना दृढ़ है, इसकी वासनाओं तथा भ्रांतियों का संकट इतना महान् है, इसके आक्रमण का आवेश या इसके विघ्नों की कष्टकर बाधा इतनी सूक्ष्म-आग्रहशील या दृढ़-विद्रोही है तथा द्युलोक के ठेठ द्वारों तक ऐसी अड़ी रहती है कि संत और योगी भी इसके षड्यंत्र या इसके बलात्कार के विरुद्ध अपनी मुक्त पवित्रता या अपने अभ्यस्त आत्म-प्रभुत्व से विश्वस्त नहीं हो सकते। इस जन्मजात कुटिलता को सीधा कर डालने का सारा परिश्रम संघर्षकारिणी संकल्पशक्ति को वृथा प्रतीत होता है। सुखमय स्वर्ग की ओर पलायन या निवृत्ति अथवा शांतिपूर्ण लय सहज ही इस श्रेय को प्राप्त कर लेता है कि यही एकमात्र तत्त्वज्ञान है और पुनः जन्म न लेने के मार्ग की खोज इस रूप में प्रचलित हो जाती है कि यह पार्थिव जीवन के नीरस बंधन की या एक दयनीय मिथ्या उन्माद या अंध तथा संदिग्ध सुख-सौभाग्य एवं सिद्धि-सफलता की एकमात्र ओषधि है।

तथापि इस विक्षुब्ध प्राणिक प्रकृति की कोई ओषधि होनी चाहिए और है भी, इसके उद्धार का उपाय तथा रूपांतर की संभावना है ही। किंतु इसके लिए पहले इसकी पथ-भ्रष्टता का कारण ढूंढ़ना होगा और उस कारण का प्रतिकार स्वयं प्राण या जीवन के केंद्र में तथा उसके असली तत्त्व में करना होगा, चूंकि प्राण भी भगवान् की शक्ति है, यह किसी अतिदुष्ट आकस्मिकता या अंधकारमय दानवीय आवेग की रचना नहीं है, इसकी वर्तमान आकृति चाहे कैसी भी तमसावृत या विकृत क्यों न हो। प्राण की मुक्ति का बीज स्वयं इसके अपने अंदर ही है, प्राणशक्ति से ही हमें अपना साधन-बल प्राप्त करना होगा। कारण, यद्यपि ज्ञान में रक्षाकारी प्रकाश है, प्रेम में उद्धारकारी तथा रूपांतरकारी सामर्थ्य है, तथापि ये इह-जीवन में तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक ये प्राण की अनुमति प्राप्त नहीं कर लेते और इसके केंद्र में निहित किसी मुक्त-शक्ति-रूपी साधन का प्रयोग भ्रांतिशील

मानवीय प्राण-शक्ति को दिव्य प्राणशक्ति में उठा ले जाने के लिये नहीं कर पाते। यज्ञ के कर्मों का विभाजन करके कठिनाई की गांठ काट डालना संभव नहीं। हम यह निश्चय करके इससे नहीं बच सकते कि हम केवल प्रेम और ज्ञान के ही कर्म करेंगे और संकल्प एवं शक्ति, अधिकार एवं उपार्जन, उत्पादन एवं सार्थक शक्ति-व्यय तथा युद्ध, विजय एवं प्रभुत्व के कर्मों से किनारा कर लेंगे, कि हम जीवन के अधिक बड़े भाग को अपने से दूर कर देंगे क्योंकि यह साक्षात् कामना और अहंकाररूपी उपादान से ही निर्मित प्रतीत होता है और इसलिये असामंजस्य तथा निरे संघर्ष एवं अव्यवस्था का क्षेत्र बनना ही इसके भाग्य में लिखा है। ऐसा विभाग वास्तव में किया ही नहीं जा सकता; अथवा, यदि इसके लिये प्रयत्न किया भी जाय तो यह अपने असली उद्देश्य में अवश्य ही असफल रहेगा। कारण, यह हमें संसार-शक्ति के कुल सामर्थ्यों से पृथक् कर देगा और अखण्ड विश्व-प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग को, इसकी एकमात्र उसी शक्ति को जो किसी भी सृष्ट्युत्पादक कर्म में आवश्यक साधन है, वन्ध्य बना देगा। प्राण-शक्ति यहां विश्वप्रकृति में एक अपरिहार्य माध्यम है, एक कार्य-साधक तत्त्व है। मन को इसकी सहायता की आवश्यकता है यदि मन के कर्मों को केवल आकृति-हीन उज्ज्वल आंतरिक रचनायें ही नहीं रहना है। आत्मा को इसकी जरूरत है इसलिये कि वह अपनी व्यक्त संभावनाओं को बाह्य सामर्थ्य और रूप प्रदान करके जड़-प्रकृति के अंदर अपनी पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति को मूर्त्त रूप में चरितार्थ कर सके। यदि प्राण आत्मा की अन्य क्रिया-प्रणालियों को अपनी मध्यस्थ शक्ति की सहायता देने से इन्कार करता है अथवा यदि आत्मा ही प्राण को अंगीकार नहीं करती है, तो ये दोनों इह-लोक पर अपने समस्त संभवपर प्रभाव के होते हुए भी, स्थितिशील पर एकाकी या स्वर्णिम पर निर्वीर्य वस्तु में परिणत हो सकते हैं। अथवा यदि कुछ संपन्न हुआ भी तो वह हमारे कर्म का एक आंशिक तेजःप्रसार होगा जो बाह्य की अपेक्षा कहीं अधिक आंतरिक ही होगा। वह शायद जीवन में कुछ हेर-फेर तो करेगा पर इसे परिवर्त्तित नहीं कर सकेगा। दूसरी तरफ, यदि प्राण अपनी शक्तियों को आत्मा के समक्ष प्रस्तुत तो करे पर असंस्कृत रूप में, तो इसका परिणाम और भी बुरा हो सकता है। कारण, संभव है कि वह प्रेम या ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया को हीन और भ्रष्ट गतियों में परिणत कर डाले अथवा उन्हें अपनी निकृष्ट या विकृत क्रियाओं की दुःसंगिनी बना दे। प्राण एक सर्जनशील आध्यात्मिक उपलब्धि की पूर्णता के लिये अपरिहार्य है, किंतु वह प्राण जो मुक्त, रूपांतरित और उदात्त हो, न कि वह जो साधारण मानसीकृत मानव-पाशविक हो, न वह जो आसुरिक या पैशाचिक हो, और न ही वह जो दिव्य तथा अदिव्य दोनों प्रकार का एक साथ मिश्रित हो। अन्य संसार-त्यागी या स्वर्ग-कामी अभ्यासविधियां चाहे जो करें, पर कठिन होते हुए भी, पूर्णयोग का अटल व्रत यही है। यह जीवन के बाह्य कर्मों की समस्या को उलझा नहीं रहने दे सकता, इसे उनके अंदर की नैसर्गिक दिव्यता को ढूंढ़कर उसे प्रेम तथा ज्ञान की दिव्यताओं के साथ सदा के लिये और दृढ़तापूर्वक संबद्ध कर देना होगा।

यह भी कोई हल नहीं है कि जीवन के कर्मों से संबंध तब तक स्थगित रखा जाय जब तक प्रेम और ज्ञान उस शिखर तक विकसित नहीं हो जाते जहां वे जीवन-शक्ति का नवनिर्माण करने के लिये उसपर एक प्रभावशाली तथा सुरक्षित रूप में अपना अधिकार स्थापित कर सकें। कारण, हम देख चुके हैं कि इसके लिये उन्हें पहले अमित ऊंचाइयों तक उठना ोता

है; तभी वे उस प्राणिक विकार से सुरक्षित रह सकते हैं जो उनकी उद्धारक शक्ति को कुंठित या पंगु कर देता है। यदि एक बार हमारी चेतना अतिमानसिक प्रकृति के शिखरों तक पहुंच सके तो ये दुर्बलताएं सचमुच में दूर हो जायंगी। परंतु इसमें द्विविधा यह है कि जहां अपने कंधों पर असंस्कृत जीवन-शक्ति का भार उठाये अतिमानसिक शिखरों तक पहुंचना असंभव है वहां आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक स्तरों का निर्भ्रांत प्रकाश तथा अजेय बल उतारे बिना प्राणेच्छा का जड़मूल से नवनिर्माण करना भी इसके समान ही असंभव है। अतिमानसिक चेतना केवल ज्ञान, आनंद, घनिष्ठ प्रेम और एकत्व ही नहीं है, वह तपस् या संकल्प भी है, बल और शक्ति का तत्त्व भी है, और वह तब तक अवतरित नहीं हो सकती जब तक इस व्यक्त प्रकृति में तपस् अर्थात् बल एवं शक्ति का तत्त्व उसे ग्रहण करने तथा स्पन्दित करने के लिये पर्याप्त विकसित तथा उदात्त नहीं हो जाता। परंतु संकल्प, बल और शक्ति प्राण-शक्ति के सहजात तत्त्व हैं, इस कारण प्राण ठीक कहता है कि ज्ञान और प्रेम ही सर्वोच्च नहीं हैं, और वह ठीक ही किसी ऐसी चीज की तृप्ति के लिये प्रेरित होता है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक विचारशून्य, दुर्दांत और भयानक होते हुए भी भगवान् तथा परब्रह्म की प्राप्ति के लिये अपने ही वीरतापूर्ण और उत्साहपूर्ण ढंग से साहस कर सकती है। प्रेम और ज्ञान ही भगवान् के एकमात्र पहलू नहीं हैं, उसका एक पहलू शक्ति का भी है। जैसे मन ज्ञान के लिये टटोलता है, जैसे हृदय प्रेम के लिये जोहता है, वैसे ही प्राण भी शक्ति और शक्ति-लभ्य अधिकार की प्राप्ति के लिये यत्न करता है, भले ही यह यत्न वह लड़खड़ाते हुए, अनाड़ीपन से या हड़बड़ी के साथ ही क्यों न करे। 'शक्ति' की इस प्रकार की निन्दा करना, कि यह स्वभावतः पतनकारिणी और अशुभ होने के कारण अपने आपमें अनुपादेय या अवांछनीय वस्तु है, नैतिक वा धार्मिक मन की भूल है। अनेकों उदाहरणों से प्रत्यक्षतः ठीक प्रमाणित होने पर भी, यह मूलतः एक अंध एवं अयुक्तियुक्त धारणा है। शक्ति चाहे कितनी भी विकृत और दुष्प्रयुक्त क्यों न हो, जैसे प्रेम और ज्ञान भी विकृत और दुष्प्रयुक्त होते ही हैं, फिर भी वह दिव्य है तथा भगवान् के उपयोग के लिये यहां प्रतिष्ठित की गई है। शक्ति,–संकल्प वा बल–लोकों की संचालिका है और चाहे वह ज्ञान-शक्ति हो या प्रेम-शक्ति अथवा प्राण-शक्ति हो या कर्म-शक्ति या शरीर-शक्ति, वह सदा ही अपने मूल में आध्यात्मिक होती है और साथ ही अपने स्वभाव में दिव्य भी। परंतु नर-पशु, मानव या दानव अज्ञान में इसका जो प्रयोग करता है उसका त्याग करना होगा और उसके स्थान पर इसके एक ऐसे महत्तर एवं स्वाभाविक व्यापार को–हमारे लिये वह चाहे अलौकिक ही क्यों न हो–प्रतिष्ठित करना होगा जो कि अनंत तथा सनातन के साथ एकीभूत अन्तश्चेतना के द्वारा ही प्रेरित और परिचालित हो। पूर्णयोग जीवन के कर्मों का वर्जन करके आन्तरिक अनुभवमात्र से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसका बाह्य को बदलने के लिये अन्दर जाना आवश्यक है, और इसके लिये प्राण-बल को उस योग-शक्ति का अंग तथा व्यापार बनाना होगा जो भगवान् के साथ संपर्क रखती है तथा अपने मार्गदर्शन में दिव्य है।

जीवन के कर्मों के साथ आध्यात्मिक तौर पर संबंध रखने में सारी कठिनाई इसलिये पैदा होती है कि जिजीविषा-शक्ति ने अपने अविद्यागत प्रयोजनों के लिये एक मिथ्या प्रकार की कामनात्मा को जन्म दिया है और इसे वास्तविक चैत्य-रूपी भगवत्स्फुलिंग के स्थान पर ला बिठाया है। जीवन के सभी या अधिकतर कर्म आज इस कामनामय आत्मा से प्रचालित या

कलुषित हैं अथवा वे ऐसे प्रतीत होते हैं। जो कर्म नैतिक या धार्मिक हैं, जो परार्थवाद, परोपकार, आत्म-बलिदान एवं स्वार्थ-त्याग का जामा पहने हैं वे भी इसी के तैयार किये ताने-बाने से बुने हुए हैं। यह कामनामय आत्मा एक अहमात्मक एवं विभाजक आत्मा है और इसकी सभी सहजप्रेरणायें भेदमूलक अहं-ख्यापन के लिये होती हैं। यह खुल्लमखुल्ला या न्यूनाधिक चमकीले पर्दों की आड़ में अपनी ही वृद्धि के लिये, अपने स्वत्व एवं उपभोग तथा विजय और साम्राज्य के लिये सदा ही जोर लगाती रहती है। यदि विक्षोभ, असामंजस्य और विकार के अभिशाप को जीवन से हटाना है, तो सच्ची आत्मा वा हृत्पुरुष को उसके प्रमुख पद पर प्रतिष्ठित करना ही होगा और साथ ही कामना तथा अहंकार की मिथ्या आत्मा का विनाश भी करना होगा। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वयं जीवन पर ही बलात्कार करना और उसे अपनी कृतार्थता की स्वाभाविक दिशा में चलने से मना करना होगा। कारण, इस बाह्य कामनामय आत्मा के पीछे हमारे भीतर एक आन्तर तथा वास्तविक प्राणमय पुरुष भी है जिसे विनष्ट नहीं करना बल्कि प्रमुख स्थान देना है और भागवत प्रकृति की शक्ति के तौर पर अपनी सच्ची कार्यप्रणाली के प्रयोग के लिये उन्मुक्त करना है। हमारी सच्ची अन्तरतम आत्मा के पथप्रदर्शन में इस वास्तविक प्राणमय पुरुष का प्रधान बनकर रहना प्राण-शक्ति के उद्देश्यों को दिव्य ढंग से चरितार्थ करने के लिये आवश्यक है। वे उद्देश्य अपने सार में चाहे वही रहेंगे पर अपने आन्तरिक आशय और बाह्य स्वरूप में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जायंगे। भागवत प्राण-शक्ति भी विकास का एक संकल्प तथा आत्म-ख्यापन की एक शक्ति ही होगी, किंतु यह ख्यापन तलवर्ती क्षुद्र अस्थायी व्यक्तित्व का नहीं बल्कि अन्तरस्थ भगवान् का होगा, यह विकास भी उस सच्चे दिव्य व्यक्ति, केंद्रीय सत्ता एवं गुप्त अक्षर पुरुष के रूप में होगा जो अहं को वशीभूत तथा विलुप्त करके ही उदित हो सकता है। जीवन का सच्चा उद्देश्य है—विकास, पर प्रकृति में एक ऐसी आत्मा का विकास जो अपने आपको मन, प्राण और शरीर में प्रतिष्ठित तथा अभिवर्द्धित करे; स्वामित्व, पर सब पदार्थों में भगवान् का भगवान् पर स्वामित्व, न कि अहं की कामना का वस्तुओं पर वस्तुओं के लिये स्वामित्व; उपभोग, पर संसार में दिव्य आनन्द का उपभोग; अन्धकार की शक्तियों के साथ एक विजयी संघर्ष के रूप में युद्ध, विजय और साम्राज्य, आन्तर तथा बाह्य प्रकृति पर पूर्ण आध्यात्मिक स्व-शासन और प्रभुत्व, अज्ञान के क्षेत्रों पर ज्ञान, प्रेम एवं भागवत संकल्प द्वारा विजय।

जीवन के कर्मों के इस दिव्य अनुष्ठान तथा प्रगतिशील रूपांतर की, जो त्रिविध यज्ञ का तीसरा अंग है, यही शर्त्तें हैं और यही इसके उद्देश्य भी होने चाहियें। योग का लक्ष्य जीवन को बौद्धिक नहीं बल्कि अतिमानसिक बनाना है, नैतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक बनाना है। इसका मुख्य प्रयोजन बाह्य व्यवहारों या स्थूल मनोवैज्ञानिक हेतुओं को नियंत्रित करना नहीं वरन् जीवन तथा इसके कर्म को इनके गुप्त दिव्य तत्त्व पर पुनः प्रतिष्ठित करना है; क्योंकि, इस प्रकार नये आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही जीवन सीधा ऊर्ध्वस्थित गुप्त भागवती शक्ति के द्वारा परिचालित हो सकता है और आज की भांति सनातन नटवर का छद्मवेश और विरूपकारी आवरण न रहकर दिव्यता की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति में रूपांतरित हो सकता है। बाह्य कार्य-कुशलता नहीं, जो मन तथा बुद्धि का तरीका है, बल्कि चेतना का मूलगत आध्यात्मिक परिवर्तन ही जीवन का कायापलट कर सकता है और इसके दुःख-द्विविधा-

ग्रस्त वर्तमान स्वरूप से इसका परित्राण कर सकता है।

★

इस प्रकार, जीवन के दृश्य-प्रपंच पर बाह्य कौशल-प्रयोग के द्वारा नहीं बल्कि इसके असली तत्त्व के रूपांतर के द्वारा ही पूर्णयोग इसे प्रकृति की विक्षुब्ध तथा अज्ञानमय गति से ज्योतिर्मय तथा समस्वर गति में परिवर्तित करने का विचार प्रस्तुत करता है। तीन शर्त्तें हैं जो इस केंद्रीय आन्तर क्रांति तथा नवीन निर्माण की सफलता के लिये अनिवार्य हैं। इनमेंसे एक भी अपने-आपमें पूर्ण रूप से पर्याप्त नहीं है, किंतु इनकी संयुक्त त्रिगुण शक्ति से जीवन को ऊंचा उठाया जा सकता है, इसका रूपांतर किया जा सकता है और संपूर्ण रूप से किया जा सकता है। सर्वप्रथम, जीवन, अपने वर्तमान रूप में, कामना की एक हलचल ही है और इसने हमारे अंदर अपने केंद्र के तौर पर एक कामनामय पुरुष की रचना कर रखी है। यह कामना-पुरुष जीवन की सभी चेष्टाओं को अपने द्वारा जांचता है और इनमें अपने अज्ञानयुक्त, अर्द्ध-प्रकाशित एवं पराजित प्रयत्न की व्याकुल चीख-पुकार और दुःख-दर्द को निहित कर देता है। दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिये कामना को मिटाना होगा और उसके स्थान पर एक शुद्धतर तथा स्थिरतर प्रेरक-शक्ति की प्रतिष्ठा करनी होगी, कामना की पीड़ित आत्मा को विनष्ट कर उसके स्थान पर अपने अंदर के प्रच्छन्न सच्चे प्राणमय पुरुष की प्रशांति, शक्ति एवं प्रसन्नता को प्रकट करना होगा। दूसरे, जीवन, अपने वर्तमान रूप में, कुछ तो प्राण-शक्ति के आवेग से प्रेरित वा परिचालित होता है और कुछ मन से। मन, अधिकांश में, अज्ञानयुक्त प्राणावेग का दास और पृष्ठ-पोषक है, पर अंशतः यह उसका एक चंचल और कम प्रकाशमय या कम योग्य मार्गदर्शक तथा उपदेशक भी है। दिव्य जीवन के लिये मन और प्राणावेग को यंत्रमात्र बनकर रहना होगा, इससे अधिक कुछ नहीं, और अन्तरतम हत्पुरुष को योगमार्ग के अग्रणी या दिव्य मार्ग-दर्शन के निर्देशक के तौर पर उनका स्थान ग्रहण करना होगा। अंत में जीवन, अपने वर्तमान रूप में, विभाजक अहं की संतुष्टि में तत्पर है; इस अहं को विलुप्त होना होगा और इसका स्थान सच्चे आध्यात्मिक पुरुष अर्थात् केंद्रीय पुरुष को लेना होगा। स्वयं जीवन को भी पार्थिव सत्ता में भगवान् की चरितार्थता की ओर मोड़ देना होगा। इसे अपने भीतर जाग रही भागवत शक्ति को अनुभव करना तथा इसके लक्ष्य का आज्ञाकारी यंत्र बनना होगा।

इन तीन रूपांतरकारी आंतर गतियों में से पहली में ऐसी कोई चीज नहीं है जो प्राचीन तथा परिचित न हो, क्योंकि यह सदैव आध्यात्मिक साधना का एक मुख्य उद्देश्य रही है। गीता के एक सुस्पष्ट सिद्धांत में इसका अत्युत्तम निरूपण किया गया है। उसमें बताया गया है कि कर्म के प्रेरक के रूप में फलों की कामना का पूर्ण त्याग, स्वयं कामना का पूर्ण उच्छेद एवं विशुद्ध समता की पूर्ण प्राप्ति आध्यात्मिक व्यक्ति की सामान्य अवस्थाएं हैं। कामना के विनाश का एकमात्र सच्चा और अचूक चिह्न पूर्ण आध्यात्मिक समता है, अर्थात् सब पदार्थों के प्रति आत्मिक समता रखना, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय और सफलता-विफलता से चलायमान न होना, उच्च और नीच, मित्र और शत्रु, पुण्यात्मा और पापी को सम दृष्टि से देखना, सर्वभूत में एकमेव की नानारूप अभिव्यक्ति और सब पदार्थों में देहधारी आत्मा की बहुविध क्रीड़ा या गुप्त क्रमविकास को अनुभव करना। हमारा लक्ष्य मन की अचंचलता, एकाकिता तथा उदासीनता की स्थिति नहीं है, न प्राण की जड़ निस्तब्धता एवं उस शरीर-चेतना की

निष्क्रिय अवस्था ही हमारा लक्ष्य है जो या तो कोई भी चेष्टा करने को सहमत नहीं होती अथवा हर प्रकार की चेष्टा करने को उद्यत हो जाती है। यद्यपि इन चीजों को कभी कभी भूल से आध्यात्मिक स्थिति मान लिया जाता है, तथापि हमारा लक्ष्य तो एक ऐसा विशाल एवं सर्वग्राही अविचल विश्वात्मभाव ही है जैसा प्रकृति के पीछे रहनेवाली साक्षी आत्मा का होता है। यद्यपि यहां की सब वस्तुएं शक्तियों का एक अस्थिर और अर्द्धव्यवस्थित अर्द्ध-अस्तव्यस्त संगठन प्रतीत होती हैं, फिर भी मनुष्य यह अनुभव कर सकता है कि इनके मूल में एक सर्वाधार शांति, निश्चलनीरवता एवं विशालता विद्यमान है जो निष्क्रिय नहीं बल्कि शांत है, अशक्त नहीं बल्कि गुप्त रूप से सर्वशक्तिमान् है,–एक ऐसी घनीभूत तथा अचल-अटल शक्ति से संपन्न है जो विश्व की सभी हलचलों को सहन करने में समर्थ है। यह पीछे रहनेवाली उपस्थिति सब वस्तुओं के प्रति आत्मिक समता रखती है। इसके अंदर जो शक्ति निहित है वह किसी भी कार्य के लिये प्रवाहित की जा सकती है, पर साक्षी आत्मा की कोई भी कामना अपने लिये किसी भी कर्म का चुनाव नहीं करती। असल में कर्म का कर्त्ता तो वह सत्य है जो स्वयं कर्म तथा इसके प्रत्यक्ष रूपों और आवेगों से परे तथा अधिक महान् है, मन या प्राण-शक्ति या शरीर से परे तथा अधिक महान् है, चाहे अपने तात्कालिक प्रयोजन के लिये वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक रूप भी धारण कर सकता है। जब इस प्रकार कामना की मृत्यु हो जाती है और यह शांत सम विशालता चेतना में सर्वत्र छा जाती है तभी हमारे अंदर का सच्चा प्राणमय पुरुष पर्दे से बाहर निकल आता है और अपनी निर्विकार, गंभीर तथा शक्तिशाली उपस्थिति को व्यक्त करता है। प्राणमय पुरुष का सच्चा स्वरूप यही है; यह दिव्य पुरुष का जीवन के अंदर प्रसारित अंश है,–शांत, सशक्त, प्रकाशमय है और नाना सामर्थ्यों से संपन्न है, भगवत्संकल्प का आज्ञाकारी है, अहं से रहित है और फिर भी या वास्तव में इसी कारण समस्त कार्य एवं ध्येयसिद्धि तथा अत्यंत उच्च या अति बृहत् साहस-कर्म करने में समर्थ है। तब एक सच्ची प्राण-शक्ति भी पहले की तरह क्षुब्ध, व्याकुल, विभक्त एवं आयासकारी स्थूल बल के रूप में नहीं वरन् एक महान्, ज्योतिर्मय दिव्य शक्ति के रूप में प्रकट होती है। वह शक्ति शांति, बल और आनंद से परिपूर्ण है, वह विशाल पथ पर विचरण करनेवाला जीवन का देवदूत है जिसके शक्ति के पंख संसार को आच्छादित किये हैं।

परंतु विशाल सामर्थ्य और समता की अवस्था में पहुंचानेवाला यह रूपांतर भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह हमारे लिये दिव्य जीवन के करणोपकरण को खोल देता है, तथापि उसका शासन और सूत्र-संचालन हमें प्रदान नहीं करता। यहीं पर उन्मुक्त हृत्पुरुष की उपस्थिति हस्तक्षेप करती है। यह हृत्पुरुष हमें सर्वोच्च शासन और मार्गदर्शन प्रदान नहीं करता,–क्योंकि वह इसका कार्य नहीं है,–किंतु यह अज्ञान से दिव्य ज्ञान में संक्रमण के काल में आंतर तथा बाह्य जीवन एवं कर्म के लिये एक वृद्धिशील पथप्रदर्शन अवश्य प्रदान करता है। प्रतिक्षण यह एक पद्धति, पथ एवं सोपानक्रम का निर्देश करता है जो हमें एक ऐसी संसिद्ध आध्यात्मिक स्थिति में पहुंचा देगा, जहां एक परम क्रियाशील उपक्रम-शक्ति सदा उपस्थित रहकर दिव्यी-कृत प्राण-शक्ति की क्रियाओं का संचालन करती रहेगी। इसके द्वारा प्रसारित प्रकाश से प्रकृति के अन्य अंग भी आलोकित हो उठते हैं जो अब तक अपनी भ्रांत तथा स्खलनशील शक्तियों से अधिक श्रेष्ट किसी मार्गदर्शक के अभाव के कारण अज्ञान के

घेरे में भटकते आ रहे हैं। मन को तो यह विचारों तथा बोधों का यथार्थ अनुभव प्रदान करता है और प्राण को इस बात का अचूक ज्ञान कि कौन सी चेष्टायें भ्रांत हैं अथवा भ्रांत करनेवाली हैं और कौन सी सत्प्रेरित। अंदर विराजमान एक शांत भविष्यवक्ता के समान कोई हमारे पतनों के कारणों को हमारे सामने खोलकर हमें समय पर चेतावनी दे देता है कि वे फिर नहीं होने चाहियें, अनुभव तथा अन्तर्ज्ञान के द्वारा हमारे कार्यों की सही दिशा और उनके ठीक कदम तथा यथार्थ आवेग का एक ऐसा नियम निकाल लेता है जो कठोर नहीं बल्कि नमनीय होता है। एक ऐसी संकल्प-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो जिज्ञासाकुल पर अत्यधिक भ्रांतिशील मन के साथ नहीं बल्कि विकसनशील सत्य के साथ अधिक समस्वर होती है। उदय होनेवाले महत्तर प्रकाश के प्रति सुनिश्चित अभिमुखता, आत्मिक सहज प्रेरणा, आन्तरात्मिक कुशलता, तथा वस्तुओं के वास्तविक तत्त्व, गति एवं आशय में पैठनेवाली एक ऐसी अंतर्दृष्टि जो आंतर संस्पर्श, आंतर दृष्टि और यहां तक कि तादात्म्य के द्वारा उपलब्ध ज्ञान के तथा आध्यात्मिक दिव्य दृष्टि के सदा अधिकाधिक निकट पहुंचती जाती है, ये सब मानसिक निर्णय की उथली सूक्ष्मता का और प्राण-शक्ति के उत्सुक अवधारणों का स्थान लेने लगते हैं। जीवन के कर्म भी अपने को शुद्ध करने तथा भ्रांति का त्याग करने लगते हैं और बुद्धि द्वारा थोपी हुई कृत्रिम या तार्किक व्यवस्था की तथा कामना के मनमाने नियम की जगह अन्तरात्मा की गभीर अन्तर्दृष्टि के निर्देश को प्रतिष्ठित करके परम आत्मा के गूढ़ पथों में प्रवेश करने लगते हैं। हृत्पुरुष जीवन पर यह नियम लागू कर देता है कि यह अपने सारे कर्मों को भगवान् और सनातन के प्रति आहुति के रूप में अर्पित करे। जीवन जीवनातीत के प्रति आह्वान बन जाता है; इसका प्रत्येक छोटे-से-छोटा कार्य भी अनन्त की भावना से विशाल हो उठता है।

जैसे जैसे हमारे अंदर आन्तरिक समता बढ़ती है और हमें उस सच्चे प्राणमय पुरुष का अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता है जो एक महत्तर आदेश-निर्देश देने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है, जैसे जैसे हमारी प्रकृति के सभी अंगों में अंतरात्मा की पुकार बढ़ती है वैसे वैसे वह, जिसे हमारी पुकार संबोधित करती है, अपने को प्रकाशित करने लगता है, जीवन तथा इसके सामर्थ्यों को अधिकृत करने के लिये अवतरित होता है, और उन्हें अपनी उपस्थिति तथा प्रयोजन की उच्चता, गभीरता और विशालता से भर देता है। अधिकतर लोगों में नहीं तो बहुतों में यह समता तथा मुक्त आंतरात्मिक संवेग या निर्देश की अवस्था से पहले भी अपना कुछ न कुछ अंश प्रकट करता है। बाह्य अज्ञान के ढेर के नीचे दबे पड़े और छुटकारे के लिये क्रन्दन कर रहे प्रच्छन्न चैत्य तत्त्व की पुकार, विह्वल ध्यान का एवं ज्ञान की खोज का दबाव, हृदय की उत्कंठा और अद्यावधि अज्ञ पर सच्चा एवं तीव्र संकल्प—ये सब उच्चतर प्रकृति को निम्नतर से पृथक् करनेवाले पर्दे को हटाकर मूल स्रोत के द्वार खोल सकते हैं। दिव्य पुरुष की एक कला अपने आपको या अनंत के कुछ प्रकाश, बल, आनंद एवं प्रेम को व्यक्त कर सकती है। संभव है कि यह केवल एक क्षणिक सत्य-दर्शन, एक झलक या एक अचिर झांकी ही हो जो शीघ्र ही लौट जाय तथा प्रकृति के तैयार होने तक प्रतीक्षा करे, परंतु यह बार बार भी प्राप्त हो सकती है, बढ़ सकती है और देर तक भी रह सकती है। ऐसी दशा में एक लंबी और विस्तृत सर्वांगीण क्रिया आरंभ हो जाती है, जो कभी विशद या तीव्र होती है और कभी मन्द एवं धुंधली। किसी किसी समय एक भागवत शक्ति सामने आकर

मार्ग दिखाती है और प्रेरणा या निर्देश तथा प्रकाश प्रदान करती है। अन्य समयों में यह पीछे हट जाती है तथा सत्ता को उसी के साधनों के भरोसे छोड़ती प्रतीत होती है। सत्ता में जो कुछ भी अज्ञ, अंध एवं कलुषित है अथवा केवल अपूर्ण तथा निकृष्ट ही है उसे उभाड़कर और शायद चरम सीमा को पहुंचाकर उसका उपाय वा सुधार किया जाता है, अथवा उसे समाप्त किया जाता है, उसे अपने दुःखदायी परिणाम दिखाकर अपने लोप या रूपांतर के लिये पुकार करने को विवश किया जाता है, या फिर उसे एक निकम्मी या सुधार के अयोग्य वस्तु की भांति प्रकृति से निकाल दिया जाता है। यह प्रक्रिया सरल तथा सम नहीं हो सकती, दिन और रात, प्रकाश और अंधकार, शांति और निर्माण अथवा युद्ध और उथलपुथल, वर्धमान भागवत चेतना की उपस्थिति और अनुपस्थिति, आशा के शिखर तथा निराशा के अतल गर्त्त, प्रियतम का आलिंगन और उसके विरह की वेदना, विरोधी शक्तियों का दुर्धर्ष आक्रमण तथा प्रबल धोखा, उग्र विरोध एवं दुर्बल करनेवाला परिहास अथवा देवताओं तथा ईश्वरीय दूतों की सहायता, सांत्वना एवं संदेश बारी बारी से आते हैं। जीवन-समुद्र को दीर्घकाल तक और बलपूर्वक अत्यधिक मथा और विलोडा जाता है जिससे कि इसका अमृत और गरल प्रबलता के साथ उछल उछलकर ऊपर आते हैं। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि हमारी सारी सत्ता और प्रकृति वृद्धिशील अवतरण के पूर्ण राज्य एवं उसकी व्यापक उपस्थिति के लिये पूर्ण रूप से सज्जित और सन्नद्ध नहीं हो जाती। परंतु यदि समता, आन्तरात्मिक ज्योति और इच्छाशक्ति विद्यमान हों, तो यह प्रक्रिया—यद्यपि यह पूर्ण रूप से टाली तो नहीं जा सकती—बहुत हलकी एवं सुगम अवश्य की जा सकती है। निश्चय ही, तब यह अपनी अत्यंत कष्टकर विपदाओं से मुक्त हो जायगी; आंतर शम, प्रसाद एवं विश्वास रूपांतर की सभी कठिनाइयों और परीक्षाओं में कदमों को सहारा देगा और वर्धमान शक्ति प्रकृति की पूर्ण स्वीकृति से लाभ उठाकर विरोधी शक्तियों के सामर्थ्य को शीघ्र ही न्यून और नष्ट कर देगी। निश्चित मार्गदर्शन और रक्षण सदा-सर्वदा विद्यमान रहेंगे, कभी सामने उपस्थित और कभी पर्दे के पीछे कार्यरत। अंतिम परिणाम की शक्ति प्रयत्न के आरंभ में तथा बीच की लंबी अवस्थाओं में भी पहले से ही उपस्थित रहेगी। हर समय जिज्ञासु दिव्य मार्गदर्शक और रक्षक से या परम मातृ-शक्ति की क्रिया से सचेतन रहेगा; उसे इस बात का ज्ञान होगा कि सब कुछ अधिक से अधिक भले के लिये ही किया जा रहा है, और कि प्रगति निश्चित है और विजय अनिवार्य। दोनों अवस्थाओं में एक ही प्रक्रिया अटल रूप से काम करती है; आंतर तथा बाह्य, संपूर्ण प्रकृति को, संपूर्ण जीवन को, अपनाना होगा इसलिये कि ऊर्ध्व के दिव्यतर जीवन के दबाव के द्वारा, इसकी शक्तियों एवं इनकी गतियों को अभिव्यक्त, परिचालित तथा रूपांतरित किया जाय जब तक कि महत्तर आध्यात्मिक शक्तियां इहलोक के सब कुछ को अपने अधिकार में लाकर आध्यात्मिक कर्म तथा दिव्य लक्ष्य का साधन नहीं बना लेतीं।

इस प्रक्रिया में तथा इसकी प्रारंभिक अवस्था में ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपने संबंध में हम जो कुछ जानते हैं वह अर्थात् हमारी वर्तमान चेतन सत्ता हमारी गुप्त सत्ता के विशाल संघात की एक प्रतिनिधि-रचना, तलीय क्रिया एवं परिवर्तनशील बाह्य परिणाम ही है। हमारा प्रत्यक्ष जीवन और इसके कर्म कुछ एक अर्थपूर्ण अभिव्यक्तियों की श्रृंखला से अधिक कुछ नहीं हैं, किंतु जिसे यह जीवन अभिव्यक्त करने का यत्न करता है वह उपरि-

तल पर नहीं है। जिस गोचर सम्मुखस्थ सत्ता को हम 'अपना-आप' मानते हैं और जिसे हम अपने चारों ओर के संसार के सामने प्रस्तुत करते हैं, हमारी सत्ता उसकी अपेक्षा एक बहुत अधिक विस्तृत वस्तु है। यह सम्मुखस्थ तथा बाह्य सत्ता मानसिक रचनाओं, प्राणिक चेष्टाओं तथा शारीरिक व्यापारों का एक अस्तव्यस्त संकर है। इसके घटक अवयवों तथा मशीनरी में इसका पूर्ण विश्लेषण करने पर भी हमारी वास्तविक सत्ता का सारा रहस्य प्रकाश में नहीं आता। उसे तो हम अपनी सत्ता के पीछे, नीचे और ऊपर, इसके प्रच्छन्न स्तरों में, प्रवेश करके ही जान सकते हैं। अत्यंत पूर्ण तथा सूक्ष्म तलीय छानबीन और प्रयोग-कुशलता से भी हमें अपने जीवन, इसके उद्देश्यों एवं इसकी प्रवृत्तियों का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, न हम इनका पूरी सफलता के साथ नियंत्रण ही कर सकते हैं। हमारी यह असमर्थता ही मानवजाति के जीवन को नियंत्रित, मुक्त तथा पूर्ण बनाने में हमारी बुद्धि, नैतिकता और अन्य प्रत्येक बाह्य क्रिया की असफलता का वास्तविक कारण है। हमारी अत्यंत धुंधली भौतिक चेतना के भी नीचे एक अवचेतन सत्ता है। इसमें सब प्रकार के बीज, जो हमारे बिना जाने ही हमारे उपरितल पर अंकुरित हो उठते हैं, ऐसे छिपे पड़े हैं जैसे आच्छादक एवं पोषक धरती में सब प्रकार के बीज छिपे रहते हैं। साथ ही, इसमें हम निरंतर ऐसे नए बीज भी डाल रहे हैं जो हमारे अतीत को चिरायु करते हैं और हमारे भविष्य पर प्रभाव डालते हैं। यह अवचेतन सत्ता एक अंधकारपूर्ण सत्ता है जो अपनी गतियों में क्षुद्र एवं विश्रृंखल है और प्रायः ही मनमौजी ढंग से अवबौद्धिक होती है, किंतु पार्थिव जीवन पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अथच हमारे मन, हमारे प्राण एवं हमारी सचेतन स्थूल सत्ता के मूल में एक विस्तृत प्रच्छन्न चेतना भी है,–आंतर मनोमय, आंतर प्राणमय, आंतर सूक्ष्मतर अन्नमय स्तर हैं जो अंतरतम चैत्य सत्ता, अर्थात् अन्य सबको संबद्ध करनेवाली अंतरात्मा के द्वारा धारित हैं। इन निगूढ़ स्तरों में भी ऐसे अनेकों पूर्व-विद्यमान व्यक्तित्व निहित हैं जो हमारी विकसनशील तलीय सत्ता की साधन-सामग्री, चालक शक्तियां तथा अंतःप्रवृत्तियां जुटाते हैं। यहां हममें से प्रत्येक के अंदर एक केंद्रीय पुरुष के साथ साथ अनेक गौण व्यक्तित्व भी हो सकते हैं जो इस पुरुष की अभिव्यक्ति के विगत इतिहास के द्वारा अथवा बाह्य जड़ जगत् में इसकी वर्तमान क्रीड़ा को आश्रय देनेवाले आंतर स्तरों पर इसके आविर्भावों के द्वारा निर्मित होते हैं। अपने ऊपरी तल पर तो हम अपने चारों ओर के सब पदार्थों से विच्छिन्न हैं, सिवा इसके कि हम उस बाह्य मन एवं इंद्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा उनसे संपर्क प्राप्त करते हैं जो हमें जगत् के प्रति तथा जगत् को हमारे प्रति केवल बहुत थोड़ा सा ही खोलता है, किंतु इन आंतर स्तरों में हमारे तथा शेष सत्ता के बीच की दीवार पतली है तथा आसानी से टूट जाती है। यहां हम वैश्व तथा वैयक्तिक सत्ता का निर्माण करनेवाली गुप्त विश्व-शक्तियों, मानस-शक्तियों, प्राण-शक्तियों एवं सूक्ष्मभौतिक शक्तियों की क्रिया तुरंत अनुभव कर सकते हैं–यह नहीं कि उनके परिणामों से इसका अनुमानमात्र कर सकते हैं बल्कि इसे प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। यदि हम अपने को इसके लिए कुछ शिक्षित करें तो हम इन विश्व-शक्तियों को, जो अपने आपको हमपर या हमारे चारों ओर फेंकती हैं, अपने हाथ में लेकर अधिकाधिक अपने वश में कर सकते हैं अथवा कम से कम हमपर तथा दूसरों पर होनेवाली इनकी क्रिया को और इनकी रचनाओं एवं वास्तविक गतियों को भी बहुत काफी परिवर्तित कर सकते हैं।

हमारे मानव मन के ऊपर और भी महत्तर स्तर हैं जो इसके लिए अतिचेतन हैं। वहां से प्रभाव, शक्तियां तथा संस्पर्श गुप्त रूप से अवतीर्ण होते हैं; वे यहां की वस्तुओं के आद्य निर्धारक हैं और, यदि उनके पूर्णैश्वर्य समेत उनका यहां आवाहन किया जाय तो, वे स्थूल संसार के जीवन की संपूर्ण रचना और व्यवस्था को पूर्ण रूप से बदल सकते हैं। यह सब एक गुप्त अनुभव और ज्ञान है। पूर्णयोग में जब हम भागवत शक्ति की ओर उद्घाटित होते हैं तो वह हमपर क्रिया करती हुई इस सब अनुभव और ज्ञान को उत्तरोत्तर हमारे समक्ष प्रकाशित करती है, इसे प्रयोग में लाती और इसके परिणामों को हमारी संपूर्ण सत्ता तथा प्रकृति के रूपांतर के लिये साधनों एवं सोपानों के रूप में तैयार करती है। तब हमारा जीवन उपरितल पर उछलती हुई एक छोटी सी लहर नहीं रहता बल्कि विश्व-जीवन और हमारा जीवन एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, भले ही अभी वे घुलमिलकर एकीभूत नहीं हो जाते। हमारी आत्मसत्ता एवं हमारी आत्मा किसी विशाल विश्वात्मा के साथ आंतरिक तादात्म्य की स्थिति में ही नहीं अपितु परात्पर के साथ एक प्रकार के सायुज्य की स्थिति में भी उन्नीत हो जाती है, यद्यपि विश्व-व्यापार से भी वह सचेतन रहती है और इसपर प्रभुत्व भी रखती है।

इस प्रकार हमारी खंडित सत्ता को अखण्ड बनाने की प्रक्रिया से ही योगनिष्ठ भागवत शक्ति अपने ध्येय की ओर अग्रसर होगी। मुक्ति, सिद्धि एवं स्वामित्व इस अखण्डीकरण पर ही आश्रित हैं, क्योंकि उपरितल की लघु तरंग अपनी ही गति पर काबू नहीं पा सकती, अपने चारों ओर के विराट् जीवन पर कोई वास्तविक नियंत्रण प्राप्त करना तो उसके लिये और भी कम संभव है। शक्ति,—अनन्त और सनातन देव की शक्ति,—हमारे भीतर अवतरित होती है, कार्य करती है, प्रत्येक आवरण को टुकड़े-टुकड़े करके हमें विशाल तथा मुक्त कर देती है, दृष्टि, विचारणा और प्रत्यक्ष ज्ञान की नित्य नवीनतर तथा महत्तर शक्तियों और नूतनतर तथा महत्तर प्राणिक प्रेरक-भावों को हमारे सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा और इसके करणों को अधिकाधिक विस्तृत करके नयें नमूने में ढालती है, प्रत्येक न्यूनता को हमारे सामने ला खड़ा करती है ताकि उसे दोषी ठहराकर दूर किया जाय। यह हमें महत्तर पूर्णता की ओर खोल देती है, अनेक जन्मों या युगों का कार्य अल्प काल में कर डालती है जिसके फलस्वरूप नूतन जन्म तथा अभिनव दृश्य हमारे भीतर लगातार खुलते जाते हैं। अपने कार्य में विस्तारशील यह हमारी चेतना को शरीर की सीमा से मुक्त कर देती है। फलतः, हमारी चेतना समाधि या निद्रा में अथवा यहां तक कि जागरित अवस्था में भी बाहर जाकर अन्य लोकों में या इस लोक के अन्य प्रदेशों में प्रवेश कर वहां कार्य कर सकती है अथवा अपना अनुभव अपने साथ ला सकती है। यह बाहर फैल जाती है, शरीर को अपना एक छोटा सा भागमात्र अनुभव करती है, और उसे अपने अन्तर्गत करने लगती है जो पहले इसे अपने अन्तर्गत रखता था। यह विश्वचेतना को प्राप्त करती है और विश्व के समान व्यापक बननें के लिये अपने को विस्तृत करती है। जगत् में क्रीड़ारत शक्तियों को यह बाह्य निरीक्षण तथा संपर्क से ही नहीं बल्कि अन्दर से तथा प्रत्यक्ष रूप में जानने लगती है, उनकी गति को अनुभव करती है, उनके व्यापार को पहचानती है, और उनपर तुरंत ही उसी प्रकार क्रिया कर सकती है जिस प्रकार एक वैज्ञानिक भौतिक शक्तियों पर क्रिया करता है। हमारे मन-प्राण-शरीर में उनके कार्यों तथा परिणामों को स्वीकृत या निराकृत अथवा संशोधित, परि-

र्वतित या पुनर्गठित करके यह प्रकृति की पुरानी क्षुद्र चेष्टाओं के स्थान पर नई अति महत् शक्तियां तथा गतियां उत्पन्न कर सकती है। हम वैश्व मन की शक्तियों के व्यापार को अनुभव करने तथा यह जानने लगते हैं कि किस प्रकार उस व्यापार से हमारे विचार उत्पन्न होते हैं। अपने मानसिक बोधों के सत्य और अनृत को हम अंदर से अलग अलग करते हैं और उनका क्षेत्र बढ़ाते तथा उनका अर्थ विस्तृत एवं प्रकाशित करते हैं। हम अपने मन तथा कर्म के स्वामी बन जाते हैं और अपने चारों ओर के जगत् में मन की गतियों का रूप निर्धारित करने में समर्थ और तत्पर हो जाते हैं। विश्वव्यापी प्राण-शक्तियों की धारा और तरंग को हम अनुभव करने लगते हैं, अपने बोधों, भावों, संवेदनों एवं आवेगों का उद्‌गम तथा नियम जान लेते हैं, स्वीकार, परित्याग एवं पुनर्गठन करने में स्वतंत्र होते हैं और प्राण-शक्ति के उच्चतर स्तरों की ओर उठ जाते हैं। 'जड़तत्त्व' की पहेली की कुंजी भी हमें हृदयंगम होने लगती है, 'मन', 'प्राण' तथा 'चेतना' के साथ होनेवाली इसकी क्रीड़ा को हम समझ लेते हैं, इसका करणात्मक तथा फलित व्यापार हम अधिकाधिक जानते जाते हैं तथा अन्त में इसके इस चरम रहस्य का पता पा लेते हैं कि यह केवल शक्ति का नहीं बल्कि निर्वर्त्तित तथा अवरुद्ध या अस्थिर तथा बद्ध चेतना का भी रूप है और हम यह भी देखने लगते हैं कि यह मुक्त हो सकता है तथा उच्चतर शक्तियों को प्रत्युत्तर देने के लिये नमनीय बन सकता है, और साथ ही इसमें ऐसी शक्यताएं भी हैं कि यह आत्मा की आधी से अधिक निश्चेतन प्रतिमूर्त्ति और अभिव्यक्ति न रहकर उसका सचेतन शरीर बन सकता है। यह सब और इससे भी अधिक कुछ उत्तरोत्तर संभव होता जाता है जैसे जैसे भागवती शक्ति की क्रिया हमारे अंदर बढ़ती है और, प्रत्युत्तर देने में हमारी तमसाच्छन्न चेतना के अत्यधिक प्रतिरोध या आयास के विरुद्ध आगे बढ़ने, पीछे हटने और फिर आगे बढ़ने के बहुत अधिक संघर्ष और प्रयत्न के द्वारा महत्तर पवित्रता, सत्यता, उच्चता तथा विशालता की ओर अग्रसर होती है—एक ऐसे संघर्ष और प्रयत्न के द्वारा जो अर्द्ध-निश्चेतन तत्त्व का सचेतन तत्त्व में सुमहान् रूपांतर करने के कार्य के कारण अनिवार्य हो जाता है। यह सब हमारे अंदर होनेवाले आंतरात्मिक जागरण पर, और भागवत शक्ति के प्रति हमारे प्रत्युत्तर की पूर्णता तथा हमारे वर्धमान समर्पण पर निर्भर करता है।

परंतु यह सब तो केवल बाह्य कर्म की महत्तर संभावना से समन्वित एक महत्तर आंतर जीवन ही कहला सकता है और केवल एक संक्रमण-कालीन उपलब्धि होता है। पूर्ण रूपांतर तो तभी हो सकता है यदि हमारा यज्ञ अपने उच्चतम शिखरों पर आरोहण करे और दिव्य अतिमानसिक विज्ञान की शक्ति, ज्योति एवं आनंद के द्वारा जीवन पर अपनी क्रिया करे। कारण, केवल तभी वे सब शक्तियां, जो विभक्त हैं और अपने-आपको जीवन तथा इसके कर्मों में अधूरे तौर पर प्रकट करती हैं, अपने मूल एकत्व, सामंजस्य, एकमेव सत्य, वास्तविक पूर्णत्व तथा पूर्ण मर्म तक ऊंची उठ सकती हैं। वहां ज्ञान और संकल्प एक ही हैं, प्रेम और बल एक अखण्ड गति हैं। जो जो द्वन्द्व हमें यहां सताते हैं वे वहां अपनी समस्वरित एकता में परिणत हो जाते हैं। शिव वहां अपना चरम रूप विकसित करता है और अशिव अपने को अपने दोष से मुक्त करके उस शिव में लौट जाता है जो इसके पीछे बराबर ही विद्यमान था। पाप-पुण्य एक दिव्य पवित्रता तथा निर्भ्रान्त सत्य गति में विलीन हो जाते हैं। सुख की दोलायमान क्षणिकता एक ऐसे आनंद में विलीन हो जाती है जो एक शाश्वत तथा

प्रसन्न आध्यात्मिक ध्रुवता की क्रीड़ा है। दुःख ध्वस्त होता हुआ उस आनंद का स्पर्श पा लेता है जो निश्चेतन की इच्छा के किसी घोर विकार के वश तथा आनंद को ग्रहण करने में इसकी असमर्थता के कारण विश्वासघातपूर्वक त्याग दिया गया था। जैसे जैसे हमारी चेतना सीमित एवं देहबद्ध अन्न-मन में से परा-प्रज्ञा के उच्चात्युच्च शिखर की स्वतंत्रता तथा पूर्णता में उठती जाती है, वैसे वैसे ये चीजें, जो मन के निकट एक कल्पना या रहस्यमात्र हैं, प्रत्यक्ष तथा अनुभवग्राह्य होती जाती हैं। परंतु ये पूर्णरूप से सत्य तथा स्वाभाविक तभी हो सकती हैं जब अतिमानस तत्त्व हमारी प्रकृति का नियम बन जाय।

अतएव, जीवन की सार्थकता एवं इसकी मुक्ति और रूपांतरित पार्थिव प्रकृति के अंदर इसका दिव्य जीवन में कायापलट—यह सब इसपर निर्भर करता है कि आरोहण सफलतापूर्वक संपन्न हो और इन उच्चतम स्तरों से पृथ्वी-चेतना में एक परिपूर्ण गतिशीलता का अवतरण साधित हो जाय।

*

जैसी कि पूर्णयोग के स्वरूप की कल्पना या अवधारणा की गई है, यह इन आध्यात्मिक साधनों को लेकर आगे बढ़ता है तथा इसका सारा आधार प्रकृति के इस पूर्ण रूपांतर पर ही है। इसका यह स्वरूप अपने आप इस प्रश्न का निश्चित उत्तर दे देता है कि इस योग में जीवन के साधारण कार्यों को किस भाव से करना होता है और उनका क्या स्थान है।

पूर्णयोग में कर्मों और जीवन का तपस्वी या ध्यानी या रहस्यवादी का सा कोई भी नितांत त्याग, निमग्न ध्यान और निष्क्रियता का कोई सिद्धांत, प्राण-शक्ति और इसकी क्रियाओं का कोई भी उन्मूलन या तिरस्कार, पृथ्वी-प्रकृति में अभिव्यक्ति का किसी प्रकार का परिवर्जन—इन सबका कुछ भी स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। जिज्ञासु के लिये किसी समय यह आवश्यक हो सकता है कि वह तब तक अपने भीतर पीछे की ओर हटकर रहे, अपनी आंतर सत्ता में निमग्न रहे, अविद्यामय जीवन के कलह-कोलाहल के प्रति अपने द्वार बंद रखे जब तक कि एक विशेष आंतर परिवर्तन संपादित न हो जाय या कोई ऐसी चीज उपलब्ध न हो जाय जिसके बिना अब जीवन पर कोई प्रभावपूर्ण क्रिया करना कठिन या असंभव हो गया हो। परंतु यह केवल एक अवसर या प्रसंग, एक अचिरस्थायी आवश्यकता या उपक्रमरूप आध्यात्मिक दांव-पेच ही हो सकता है; यह उसके योग का नियम या सिद्धांत नहीं हो सकता।

मानव-जीवन के कार्यकलाप का धार्मिक या नैतिक आधार पर अथवा एक साथ दोनों आधारों पर विभाग करना, उन्हें केवल पूजासंबंधी कर्मों या केवल लोकसेवा और परोपकार के कर्मों तक सीमित कर देना पूर्णयोग की भावना के विपरीत होगा। कोई निपट मानसिक नियम या निरा मानसिक अंगीकार या निषेध इसकी साधना के उद्देश्य और क्रम के विरुद्ध होता है। सभी चीजों को आध्यात्मिक शिखर तक ऊंचा उठा ले जाना होगा और आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित करना होगा। आंतर आध्यात्मिक परिवर्तन के प्रत्यक्षानुभव, तथा बाह्य रूपांतर को जीवन के किसी एक भाग पर ही नहीं, बल्कि सारे-के-सारे जीवन पर लागू करना होगा। जो कुछ इस परिवर्तन में सहायक है या इसे अनुमति देता है वह सब स्वीकार करना होगा, जो कुछ अपने-आपको रूपान्तरकारिणी गति के अधीन कर देने में अशक्त या अयोग्य है अथवा इससे इन्कार करता है वह सब त्याग देना होगा। वस्तुओं के

या जीवन के किसी भी रूप के प्रति, किसी पदार्थ और कार्य के प्रति नाममात्र की भी आसक्ति नहीं रखनी होगी। सब कुछ त्याग देना होगा यदि ऐसी जरूरत आ पड़े; वह सब कुछ स्वीकार करना होगा जिसे भगवान् दिव्य जीवन के लिये अपनी साधन-सामग्री के रूप में वरण करें। परंतु जो स्वीकार या परित्याग करे वह न तो मन होना चाहिये, न कामना की स्पष्ट या प्रच्छन्न प्राणिक शक्ति, और न ही नैतिक भावना, प्रत्युत वह होना चाहिये हृत्पुरुष का आग्रह, योग के दिव्य मार्गदर्शक का आदेश, उच्चतर आत्मा या आत्म-तत्त्व की दिव्य-दृष्टि और स्वामी का ज्ञानदीप्त मार्गदर्शन। अध्यात्म-मार्ग कोई मानसिक मार्ग नहीं है। मानसिक नियम या मानसिक चेतना इसकी निर्धारयित्री या इसकी नेत्री नहीं हो सकती।

ऐसे ही, चेतना की दो श्रेणियों, आध्यात्मिक और मानसिक अथवा आध्यात्मिक और प्राणिक, में मेल या समझौता अथवा बाह्यतः अपरिवर्तित जीवन को केवल भीतर से उदात्त कर देना योग का नियम या लक्ष्य नहीं हो सकता। सारे जीवन को अपनाना होगा पर सारे ही जीवन का रूपांतर करना होगा; सारे जीवन को अतिमानस-प्रकृति में अवस्थित आध्यात्मिक सत्ता का-एक अंग, रूप एवं समुचित अभिव्यक्ति बनना होगा। जड़ जगत् में आध्यात्मिक विकास का शिखर और सर्वोच्च गति यही है। जैसे प्राणप्रधान पशु से मनोमय मनुष्य में परिवर्तित होने पर जीवन अपनी मूल चेतना, क्षेत्र और प्रयोजन में कुछ से कुछ हो गया था, वैसे ही देहभावापन्न मनोमय जीव से एक ऐसे आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक जीव में परिवर्तन, जो जड़तत्त्व का प्रयोग तो करेगा पर इसके वश में नहीं होगा, जीवन को ऊंचा उठाकर कुछ से कुछ बना देगा। तब जीवन दोषयुक्त, त्रुटिपूर्ण, सीमित एवं मानवीय न रहकर अपनी आधारिक चेतना, क्षेत्र और प्रयोजन में बिलकुल और ही चीज बन जायगा। जीवन के उन सब रूपों को, जो परिवर्तन को नहीं सह सकते, लुप्त हो जाना होगा, जो इसे सहन कर सकते हैं केवल वही जीवित बचे रहेंगे और आत्मा के राज्य में प्रवेश करेंगे। भागवत शक्ति कार्य कर रही है और वह हर क्षण चुनाव करेगी कि क्या करना है या क्या नहीं करना है, किसे क्षणिक या स्थायी रूप से ग्रहण करना है और किसे क्षणिक या स्थायी रूप से त्याग देना है। यदि हम उसके स्थान पर अपनी कामना या अपनी 'मैं' को नहीं ला बिठाते,—और इस बारे में आत्मा को सदा जाग्रत्, सदा सावधान, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति सचेतन तथा हमारे अंदर या बाहर से होनेवाले अदिव्य कुपथप्रवर्तन के प्रति प्रतिरोधपूर्ण रहना होगा,—तो वह शक्ति सुपर्याप्त है तथा अकेली ही सर्वसमर्थ है और वही हमें ऐसे मार्गों एवं ऐसे साधनों से कृतार्थता की ओर ले चलेगी जो मन के लिये इतने विशाल, इतने अन्तरीय और इतने जटिल हैं कि यह उनका अनुसरण ही नहीं कर सकता, उनके संबंध में आदेश-निर्देश देना तो दूर रहा। यह एक दुर्गम, विकट एवं विपत्संकुल पथ है, पर इसके सिवाय और कोई पथ है भी नहीं।

दो नियम ऐसे हैं जो कठिनाई को कम कर देंगे और विपद् का निवारण करेंगे। हमें उस सबका परित्याग करना होगा जिसका मूल अहंकार, प्राणिक कामना, कोरा मन और उसकी अत्यभिमानपूर्ण तर्कणा और अक्षमता है, तथा उस सबका भी जो अविद्या के इन प्रतिनिधियों की सहायता करता है। हमें अन्तरतम आत्मा की वाणी, गुरु के निर्देश, परम प्रभु के आदेश और भगवती माता की क्रियाप्रणाली का श्रवण और अनुसरण करना सीखना होगा। जो कोई शरीर की कामनाओं तथा दुर्बलताओं से, क्षुब्ध-अज्ञान-युक्त प्राण की तृष्णाओं

और वासनाओं से, तथा महत्तर ज्ञान की शांति और ज्योति को न पाये हुए वैयक्तिक मन के आदेशों से चिपटा रहता है वह सच्चे आंतरिक नियम को नहीं ढूंढ़ सकता और दिव्य चरितार्थता के मार्ग में रोड़े अटका रहा है। जो कोई तमसाच्छन्न करनेवाली उन शक्तियों को जान लेने तथा त्यागने और भीतर तथा बाहर विद्यमान सच्चे मार्गदर्शक को पहचानने तथा उसके पीछे चलने में समर्थ है वह आध्यात्मिक नियम को खोज लेगा और योग के लक्ष्य पर पहुंच जायगा।

चेतना का आमूल तथा पूर्ण रूपांतर पूर्णयोग का संपूर्ण मर्म है। इतना ही नहीं, अपने उत्तरोत्तर प्रबल रूप में तथा अपनी विकसनशील अवस्थाओं के द्वारा यह इस योग की संपूर्ण पद्धति भी है।

सातवां अध्याय

आचार के मानदंड और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य

जिस ज्ञान पर कर्मयोगी को अपने समस्त कर्म और विकास की नींव रखनी होती है उसके भवन की मुख्य शिला है—एकता का अधिकाधिक प्रत्यक्ष बोध एवं सर्वव्यापी एकत्व का जीवंत-जाग्रत् अनुभव। कर्मयोगी जिस वर्धमान चेतना में रहता-सहता है वह यह है कि संपूर्ण सत्ता एक अविभाज्य समष्टि है—समस्त कर्म भी इस दिव्य अविभाज्य समष्टि का अंग है। अब उसका वैयक्तिक कर्म तथा इसके परिणाम पहले की तरह कोई ऐसी पृथक् गति नहीं हो सकते और न ही वे कोई ऐसी पृथक् गति प्रतीत हो सकते हैं जो समष्टि में पृथग्भूत व्यष्टि की अहंभावमयी "स्वतंत्र" इच्छा से मुख्यतया या पूर्णतया निर्धारित हो। हमारे कर्म एक अविभाज्य विश्व-कर्म का भाग हैं। वे जिस समष्टि में से उठते हैं उसके अंदर यथास्थान रखे हुए होते हैं अथवा, यों कहना अधिक ठीक होगा कि, वे अपने को स्वयं अपने स्थान में रखते हैं और उनका परिणाम उन शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है जो हमारी पहुंच से परे हैं। वह विश्व-कर्म अपनी विराट् समग्रता तथा अपनी प्रत्येक छोटी-मोटी क्रिया में उस एकमेव की अखण्ड गति है जो अपने आपको विश्व में उत्तरोत्तर अभिव्यक्त कर रहा है। मनुष्य भी अपने अंदर तथा बाहर रम रहे इस एकमेव के प्रति तथा प्रकृति की गति में इसकी शक्तियों की गूढ़, अद्‌भुत तथा मार्मिक प्रक्रिया के प्रति जितना जाग्रत् होता है उतना ही वह अपने तथा वस्तुओं के सच्चे स्वरूप से अधिकाधिक सचेतन होता जाता है। यह कर्म एवं गति हममें तथा हमारे चारों ओर रहनेवालों में भी वैश्व व्यापारों के उस छोटे से खण्डित अंश तक ही सीमित नहीं है जिससे हम अपनी स्थूल चेतना में अभिज्ञ हैं; इसके आधार में वह अपरिमेय मूलभूत पारिपार्श्विक सत्ता विद्यमान है जो हमारे मन के लिये प्रच्छन्न या अवचेतन है, साथ ही यह उस अनन्त परात्पर सत्ता से भी आकृष्ट होती है जो हमारी प्रकृति के लिये अतिचेतन है। हमारा कर्म भी हमसे अज्ञात विश्वमयता में से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार हम स्वयं उससे प्रादुर्भूत हुए हैं। हम तो इसे अपने वैयक्तिक स्वभाव और व्यक्तिगत विचारात्मक मन या संकल्प से अथवा आवेग या कामना की

शक्ति से एक आकारमात्र देते हैं। किंतु वस्तुओं का वास्तविक सत्य एवं कर्म का यथार्थ नियम इन वैयक्तिक तथा मानवीय रचनाओं को अतिक्रांत किये हुए है। जो कोई भी दृष्टि-बिन्दु एवं मनुष्य का बनाया हुआ कर्म का जो कोई भी नियम वैश्व गति की इस अविभाज्य समग्रता की उपेक्षा करता है वह आध्यात्मिक सत्य के नेत्र के लिये एक अपूर्ण दृष्टिकोण तथा अज्ञानयुक्त सिद्धांत होता है, भले ही बाह्य व्यवहार में वह कितना भी उपयोगी क्यों न हो।

जब हम इस विचार की कुछ झांकी प्राप्त कर चुकते हैं अथवा इसे अपनी चेतना में इस रूप में गड़ा लेने में सफल हो जाते हैं कि यह मन का एक ज्ञान है तथा उससे फलित एक अंतरात्म-वृत्ति है, तब भी अपने बाह्य अंगों में तथा क्रियाशील प्रकृति में इस सार्वभौम दृष्टि-बिन्दु का अपनी वैयक्तिक सम्मति, वैयक्तिक इच्छा-शक्ति और वैयक्तिक उमंग एवं कामना की मांगों के साथ मेल बैठाना हमारे लिये कठिन होता है। हम अब भी इस अखण्ड गति के साथ इस प्रकार बरतते चले जाने के लिये विवश होते हैं मानों यह एक निर्वैयक्तिक साधन-सामग्री का पुंज हो जिसमेंसे हमें, अहं को अथवा व्यक्ति को, अपनी ही इच्छा-शक्ति तथा मन की मौज के अनुसार निजी संघर्ष एवं प्रयत्न से कुछ गढ़ डालना है। अपनी परिस्थिति के प्रति मनुष्य की साधारण वृत्ति यही है, पर वास्तव में है यह मिथ्या, क्योंकि हमारी 'मैं' और इसकी इच्छा-शक्ति वैश्व शक्तियों की रचनाएं एवं कठपुतलियां हैं और जब हम अहं से पीछे हटकर उस सनातन देव के दिव्य ज्ञान-संकल्प की चेतना में भीतर लौटते हैं जो इन शक्तियों में कार्य करता है, तभी हम ऊर्ध्वलोक से एक तरह प्रतिनिधि रूप में नियुक्त होकर इनके स्वामी बन सकते हैं। परंतु दूसरी तरफ यह वैयक्तिक स्थिति मनुष्य के लिये तब तक यथार्थ वृत्ति बनी रहती है जब तक वह अपने व्यक्तित्व से प्रेम करता है किंतु उसे पूर्ण रूप से विकसित नहीं कर पाता है; क्योंकि इस दृष्टिबिन्दु तथा प्रेरक बल के बिना वह अपने अहं में वर्धित नहीं हो सकता, न ही अवचेतन या अर्ध-चेतन विश्वमय समष्टि-सत्ता में से अपने आपको पर्याप्त रूप से विकसित कर सकता तथा विशिष्ट बना सकता है।

परंतु पीछे जब हमें विकास की पृथक्कारक, व्यक्तिप्रधान एवं उग्र अवस्था की आवश्यकता नहीं रहती, जब हम इस क्षुद्र अवस्था से, जिसकी शिशु-आत्मा को आवश्यकता पड़ती है, एकता, सार्वभौमता तथा विश्वचेतना की ओर और, इससे भी परे, अपनी परात्पर आत्म-प्रकृति की ओर बढ़ना चाहते हैं तब अपने संपूर्ण जीवन-अभ्यास पर से इस अहं-चेतना के प्रभुत्व को दूर करना कठिन होता है। अपनी विचार-शैली में ही नहीं अपितु अनुभव, संवेदन और कर्म करने के अपने तरीके में भी हमारे लिये यह स्पष्टतया समझ लेना अनिवार्य है कि यह गति या यह वैश्व कर्म सत्ता की कोई ऐसी असहाय निर्वैयक्तिक तरंग नहीं है जो किसी अहं के बल एवं आग्रह के अनुसार उस अहं की इच्छाशक्ति का साथ देती हो। बल्कि, यह उस वैश्व पुरुष की गति है जो अपने क्षेत्र का ज्ञाता है, उस ईश्वर के कदम हैं जो अपनी विकासशील कर्म-शक्ति का स्वामी है। जैसे गति एक तथा अखण्ड है, वैसे ही जो गति के अंदर विद्यमान है वह भी एक, अद्वितीय तथा अखण्ड है। यही नहीं कि समस्त परिणाम उसी के द्वारा निर्धारित होता है अपितु समस्त प्रारंभ, क्रिया तथा प्रक्रिया उसकी वैश्व शक्ति की गति पर निर्भर हैं और केवल गौणतया तथा अपने बाह्य रूप में ही ये प्राणी से संबंध रखते हैं।

तो फिर व्यक्तिरूपी कर्मी की आध्यात्मिक स्थिति क्या होगी? सक्रिय विश्वप्रकृति में इस

एक विश्वमय पुरुष तथा इस एक समग्र गति से उसका वास्तविक संबंध क्या है? वह केवल एक केंद्र है—एक ही वैयक्तिक चेतना के विभेदन का केंद्र, एक ही अखण्ड गति के निर्धारण का केंद्र। उसका व्यक्ति-भाव एक दृढ़ व्यक्तित्व की तरंग के रूप में एकमेव विराट् पुरुष तथा परात्पर एवं सनातन पुरुष को प्रतिबिंबित करता है। अविद्या में यह सदा एक भग्न एवं विरूप प्रतिबिंब ही होता है क्योंकि हमारी चेतन जाग्रत् आत्मा, जो उस तरंग का शिखर है, दिव्य आत्मा के अपूर्ण तथा मिथ्याभूत सादृश्य को ही प्रतिक्षिप्त करती है। हमारी सब सम्मतियां, कसौटियां, रचनाएं एवं नियम-व्यवस्थाएं केवल ऐसी चेष्टाएं होती हैं जो वैश्व तथा विकसनशील समग्र क्रिया को और भगवान् की एक चरम अभिव्यक्ति में सहायक इसकी बहुमुखी गति को इस टूटे-फूटे, प्रतिबिंबित तथा विकृत करनेवाले दर्पण में यत्किंचित् प्रदर्शित करती हैं। हमारा मन भी इस वैश्व क्रिया को यथासंभव अत्युत्तम रूप में एक ऐसे सूक्ष्म सादृश्य के साथ प्रदर्शित करता है जो उत्तरोत्तर कम अक्षम होता जाता है जैसे जैसे कि मन का विचार अपनी विशालता, ज्योति और शक्ति में बढ़ता है; किंतु यह सदा एक सादृश्य ही होता है, यहां तक कि यह एक सच्चा आंशिक प्रतिरूप भी नहीं होता। भागवत संकल्प केवल विश्व की एकता में और जीवधारी तथा विचारशील प्राणियों की समष्टि में ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यष्टि की आत्मा में अपने दिव्य रहस्य के किंचित् अंश को तथा अनंत के निगूढ़ सत्य को उत्तरोत्तर आविर्भूत करने के लिये युग-युगांतर में कार्य करता है। अतएव विश्व में, समष्टि तथा व्यष्टि में एक बद्धमूल सहज-ज्ञान किंवा विश्वास है कि वह पूर्णता लाभ कर सकता है, उसके अंदर एक निरंतर वृद्धिशील तथा अधिक पर्याप्त एवं अधिक समस्वर आत्म-विकास के लिये अविराम प्रवृत्ति है,—एक ऐसे विकास के लिये जो वस्तुओं के गुप्त सत्य के अधिक निकट हो। यह प्रवृत्ति वा प्रयत्न मनुष्य के रचनाकारी मन के समक्ष ज्ञान, वेदन, चरित्र, सौंदर्यबोध और कर्म के मानदण्डों के रूप में प्रकट होता है,—ऐसे नियमों, आदर्शों, सूत्रों एवं सिद्धांतों के रूप में प्रकट होता है जिन्हें मनुष्य सार्वभौम नियमों का रूप दे देने का यत्न करता है।

★

यदि हमें आत्मा में स्वतंत्र होना है, यदि हमें केवल परम सत्य के ही अधीन रहना है, तो हमें इस विचार को तिलांजलि दे देनी होगी कि अनंत हमारे मानसिक या नैतिक नियमों से बंधा हुआ है या कि आचार के हमारे ऊंचे से ऊंचे वर्तमान मानदण्डों में कोई अनुल्लंघनीय, पूर्ण या नित्य वस्तु भी विद्यमान हो सकती है। अधिकाधिक ऊंचे अस्थायी मानदण्डों का निर्माण करना, जब तक कि उनकी आवश्यकता हो, भगवान् की विश्व-विकास-यात्रा में उनकी सेवा करना है; किंतु एक पूर्णनिरपेक्ष मानदण्ड की कठोर स्थापना करना सनातन स्रोत के प्रवाह-पथ में बाधा खड़ी करने का यत्न करना है। प्रकृति-बद्ध आत्मा जब एक बार यह सत्य अनुभव कर लेती है तब वह शुभाशुभ के द्वंद्व से मुक्त हो जाती है। कारण, जो कुछ भी व्यक्ति और विश्व को उनकी दिव्य परिपूर्णता के लिये सहायता देता है वह सब शुभ है, और जो कुछ उस वर्धमान पूर्णता को रोकता या भंग करता है वह सब अशुभ है। परंतु क्योंकि पूर्णता काल में प्रगतिशील या विकासशील है, शुभ और अशुभ भी परिवर्तनशील वस्तुएं हैं तथा अपने अर्थ एवं मूल्य को समय समय पर बदलते रहते हैं। कोई एक वस्तु, जो आज अशुभ है तथा जो अपने वर्तमान रूप में अवश्यमेव त्याज्य है,

एक समय सामूहिक तथा वैयक्तिक उन्नति के लिये सहायक एवं आवश्यक थी। कोई दूसरी वस्तु जिसे आज हम अशुभ मानते हैं एक अन्य आकार तथा विन्यास में सहज ही किसी भावी पूर्णता का अंग बन सकती है। और फिर आध्यात्मिक धरातल पर हम इस विभेद से भी परे चले जाते हैं, क्योंकि हम इन सब चीजों का, जिन्हें हम शुभ और अशुभ कहते हैं, प्रयोजन एवं दिव्य उपयोग जान लेते हैं। इनमें जो कुछ भी मिथ्या है उसका तब हमें त्याग करना होता है; जिसे हम अशुभ कहते हैं उसमें और जिसे हम शुभ कहते हैं उसमें जो कुछ भी विकृत, अज्ञ तथा तमोग्रस्त है उस सबका हमें समान रूप से त्याग करना होता है। तब हमें केवल सत्य और दिव्य को ही अंगीकार करना होता है, किंतु शाश्वत प्रक्रियाओं में और कोई भेद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जो लोग केवल कठोर मानदण्ड के अनुसार ही कार्य कर सकते हैं और केवल मानवीय मूल्यों को ही अनुभव कर सकते हैं, दिव्य मूल्यों को नहीं, उन्हें यह सत्य संभवतः एक ऐसी भयानक रिआयत प्रतीत होगा जो नैतिकता के आधार तक को नष्ट कर सकती है और आचारमात्र में अव्यवस्था पैदा करके केवल संकर को ही स्थापित कर सकती है। निःसंदेह, यदि चुनाव नित्य एवं अपरिवर्तनशील नैतिकता और नैतिकता के नितांत अभाव के बीच हो, तो अविद्याग्रस्त मनुष्य के लिये इसका ऐसा ही परिणाम होगा। परंतु मानवीय स्तर पर भी, यदि हममें यह पहचानने के लिये पर्याप्त ज्योति एवं पर्याप्त नमनशीलता हो कि आचार का कोई मानदण्ड अस्थायी होता हुआ भी उसके अपने समय तक के लिये आवश्यक हो सकता है और यदि हम उसका तब तक सच्चाई से पालन कर सकें जब तक उसके स्थान पर एक श्रेष्ठतर मानदण्ड प्रतिष्ठित न कर लें, तो हमें कोई ऐसी हानि नहीं होगी, बल्कि हम केवल एक अपूर्ण तथा असहिष्णु सद्गुण की कट्टरता को ही खोयेंगे। परंतु इसके स्थान पर हमें प्राप्त होगी उन्मुक्तता, अनवरत नैतिक प्रगति की क्षमता, उदारता, संघर्षरत और स्खलनशील प्राणियों के इस सब संसार के प्रति ज्ञानयुक्त सहानुभूति रखने की शक्ति और इस उदारता के द्वारा इसे इसके मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता देने का अधिक योग्य अधिकार और अधिक महान् बल। अंत में, जहां मनुष्यता समाप्त होगी तथा दिव्यता आरंभ होगी, जहां मानसिक चेतना अतिमानसिक में अंतर्धान हो जायगी और सांत अपने को अनंत में निमज्जित कर देगा वहां अशुभमात्र एक परात्पर दिव्य शुभ में विलीन हो जायगा और यह शुभ फिर चेतना के जिस जिस भी स्तर को स्पर्श करेगा उस उसपर एक सार्वभौम रूप धारण कर लेगा।

इसलिये, यह एक निश्चित बात है कि जिन किन्हीं भी मानदण्डों से हम अपने आचार का नियमन करना चाहें वे सभी केवल हमारे अस्थायी, अपूर्ण एवं विकासशील प्रयत्न ही होते हैं। इन प्रयत्नों का प्रयोजन यह होता है कि जिस वैश्व उपलब्धि की ओर प्रकृति बढ़ रही है उसमें अपनी लड़खड़ाती मानसिक प्रगति को हम अपने प्रति प्रदर्शित करें। परंतु दिव्य अभिव्यक्ति हमारे क्षुद्र नियमों तथा भंगुर पुण्य भावनाओं से आबद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि इसके मूल में जो चेतना है वह इन वस्तुओं की तुलना में अतीव बृहत् है। यदि एक बार हम इस तथ्य को, जो हमारी तर्कशक्ति के स्वेच्छाचारी राज्य के लिये काफी क्षोभजनक है, हृदयंगम कर लें तो हम मनुष्यजाति की वैयक्तिक तथा सामूहिक यात्रा की प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं को नियंत्रित करनेवाले क्रमिक मानदण्डों को पारस्परिक संबंध की दृष्टि

से उनके समुचित स्थान पर रखने में अधिक अच्छी तरह समर्थ होंगे। इनमेंसे अत्यंत व्यापक मानदण्डों पर यहां हम एक विहंगम-दृष्टि डाल लें। हमें देखना है कि उस अन्य माप-रहित आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक कार्यशैली से इनका कैसा संबंध है। योग इस दूसरी शैली को आयत्त करना चाहता है और इस ओर उसकी प्रगति तब होती है जब व्यक्ति भगवत्संकल्प के प्रति समर्पण करता है, और इस ओर अधिक सफलतापूर्वक वह तब अग्रसर होता है जब व्यक्ति इस समर्पण के द्वारा एक ऐसी महत्तर चेतना की ओर आरोहण करता है जिसमें सक्रिय सनातन ब्रह्म के साथ एक प्रकार का तादात्म्य संभव हो जाता है।

★

मानवीय आचार के मुख्य मानदण्ड चार हैं जो एक सीढ़ी के उत्तरोत्तर ऊंचे सोपान हैं। प्रथम है वैयक्तिक आवश्यकता, अभिरुचि एवं कामना; द्वितीय है समष्टि का नियम एवं हित; तृतीय है आदर्श नैतिक नियम; अंतिम है प्रकृति का सर्वोच्च दिव्य नियम।

मनुष्य इन चार में से पहले दो को ही अपने प्रकाशप्रद और मार्गदर्शक साधनों के रूप में संग लेकर अपने जीवन-विकास की सुदीर्घ यात्रा का आरंभ करता है, क्योंकि ये दोनों उसकी पाशविक एवं प्राणिक सत्ता के नियम हैं, और प्राणप्रधान तथा देहप्रधान पशुवृत्ति मनुष्य के तौर पर ही वह अपना विकास प्रारंभ करता है। इस भूतल पर मनुष्य का असली काज है–मानवता के सांचे में भगवान् को अधिकाधिक मूर्तिमंत करना; सचेत रूप में हो या अचेत रूप में, इसी लक्ष्य के लिये विश्वप्रकृति अपनी बाह्य तथा आंतर प्रक्रियाओं के घने पर्दे की आड़ में उसके अंदर कार्य कर रही है। परंतु भौतिक या पाशविक मनुष्य जीवन के आंतरिक लक्ष्य से अनभिज्ञ है; वह केवल इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओं को ही जानता है और, स्वभावतः ही, अपनी आवश्यकता की प्रतीति तथा कामना के उत्तेजनों और निर्देशों को छोड़कर और कोई ऐसा मार्गदर्शक उसके पास नहीं है जो उसे बता सके कि उससे किस चीज की अपेक्षा की जाती है। निःसंदेह, और सब चीजों से पहले अपनी शारीरिक तथा प्राणिक मांगें और आवश्यकताएं पूरी करना, तथा, दूसरे स्थान पर, अपने अंदर जो भी हृद्गत या मनोगत तृष्णाएं या कल्पनाएं या गतिशील विचार उठते हैं उन्हें पूरा करना उसके आचार का पहला प्राकृतिक नियम होता है। केवल एक ही ऐसा समबल या प्रबल नियम है जो इस अनिवार्य प्राकृतिक मांग का परिवर्तन या प्रतिषेध कर सकता है। यह वह मांग है जो उसके परिवार के अथवा समाज या वंश एवं गण या समुदाय के, जिसका वह सदस्य है, विचारों, आवश्यकताओं और कामनाओं के द्वारा उसपर लादी जाती है।

यदि मनुष्य केवल अपने लिये ही जी सकता,–ऐसा तो वह तभी कर सकता था यदि व्यक्ति का विकास जगत् में भगवान् का एकमात्र लक्ष्य होता,–तो इस दूसरे नियम के कार्यान्वित होने की आवश्यकता ही न पड़ती। परंतु सत्तामात्र अवयवी तथा अवयवों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा और निर्मित द्रव्य एवं उसके निर्मायक अंगों की एक-दूसरे के लिये आवश्यकता तथा समुदाय एवं उसके व्यक्तियों की अन्योन्य-निर्भरता के द्वारा ही प्रगति करती है। भारतीय दर्शन के शब्दों में, भगवान् अपने आपको सदा ही व्यष्टि तथा समष्टि के द्विविध रूप में प्रकट करता है। मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व तथा इसकी पूर्णता एवं स्वतंत्रता की वृद्धि के लिये बल लगाता हुआ भी अपनी वैयक्तिक आवश्यकताएं एवं कामनाएं पूरी करने में तब तक असमर्थ रहता है जब तक वह अन्य मनुष्यों के साथ

मिलकर के बल नहीं लगाता। वह अपने आप में पूर्ण है और फिर भी दूसरों के बिना अधूरा है। यह बाध्यता उसके वैयक्तिक आचार-नियम को सामुदायिक नियम के घेरे में ले आती है। सामुदायिक नियम की उत्पत्ति एक स्थायी समुदाय-सत्ता के निर्माण से होती है जिसका अपना सामूहिक मन तथा प्राण होता है। व्यक्ति के अपने देहबद्ध मन और प्राण एक नश्वर इकाई के रूप में उस सामूहिक मन और प्राण के अधीन होते हैं। तथापि उसके अंदर एक ऐसी सत्ता भी है जो अमर तथा स्वतंत्र है और जो समष्टि-शरीर से बंधी हुई नहीं है,–ऐसे समष्टि-शरीर से जो उसके देहबद्ध जीवन की समाप्ति के बाद भी बना रहता है परंतु जो उसकी नित्य आत्मा से अधिक स्थायी नहीं हो सकता, न ही इसे अपने नियम से बांधने का दावा कर सकता है।

यह देखने में अधिक व्यापक तथा प्रभुत्वपूर्ण नियम, अपने आपमें, उस प्राणिक तथा शारीरिक सिद्धांत के विस्तार से अधिक कुछ नहीं है जो व्यष्टिरूप प्राथमिक मनुष्य को संचालित करता है; यह गण या समुदाय का नियम है। व्यक्ति अपने जीवन को कुछ अन्य व्यक्तियों के जीवन के साथ, जिनसे वह जन्म, अभिरुचि या परिस्थिति के कारण संबद्ध होता है, कुछ हद तक एकीभूत कर लेता है। समुदाय की सत्ता उसकी अपनी सत्ता एवं तृप्ति के लिये आवश्यक ही है; अतएव, आरंभ से नहीं तो समय आने पर, इसकी सुरक्षा, इसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति और इसके सामूहिक विचारों, कामनाओं एवं जीवन-अभ्यासों की चरितार्थता, जिनके बिना यह संयुक्त ही नहीं रह सकता, निश्चित रूप से प्रमुख स्थान ले लेती हैं। तब, वैयक्तिक विचार एवं भाव, आवश्यकता एवं कामना और प्रवृत्ति एवं प्रकृति की तृप्ति को किसी नैतिक या परोपकारात्मक प्रेरक-भाव के कारण नहीं, बल्कि परिस्थितिवश इस या उस अन्य व्यक्ति वा व्यक्तिसमूह के नहीं बल्कि समूचे समाज के विचारों एवं भावों, आवश्यकताओं एवं कामनाओं और प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों की तृप्ति के निरंतर अधीन करना होता है। यह सामाजिक आवश्यकता ही नैतिकता का तथा मनुष्य के सदाचारसंबंधी संवेग का गुप्त मूल है।

यह यथार्थ रूप से ज्ञात नहीं है कि किसी आदिम काल में मनुष्य अकेला या केवल अपनी संगिनी के संग रहता था जैसे कि कुछ एक पशु रहते हैं। उसका संपूर्ण वृत्तांत हमें बताता है कि वह एक सामाजिक प्राणी था, एकाकी शरीर और आत्मा नहीं। समुदाय का नियम सदैव उसके स्व-विकास के वैयक्तिक नियम पर सवार रहा है; प्रतीत होता है कि सदैव समूह के अंदर एक इकाई के रूप में ही उसका जन्म, रहन-सहन तथा विकास हुआ है। परंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टिबिंदु से, तर्कतः और स्वभावतः, वैयक्तिक आवश्यकता तथा कामना का नियम ही प्रधान होता है, सामाजिक नियम एक ऐसी गौण शक्ति के रूप में प्रवेश करता है जो बलपूर्वक अधिकार जमा लेती है। मनुष्य में दो विस्पष्ट प्रभुत्वशाली आवेग हैं, व्यक्तिप्रधान तथा संघप्रधान, वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन, आचार का वैयक्तिक प्रेरकभाव तथा आचार का सामाजिक प्रेरकभाव। इनके परस्पर-विरोध की संभावना तथा इनके साम्य को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न मानव सभ्यता का वास्तविक मूल हैं तथा जब वह प्राणिक-शारीरिक उन्नति को अतिक्रांत कर उच्चतया व्यष्टिभावापन्न मानसिक तथा आध्यात्मिक विकासक्रम में पहुंच जाता है तब भी ये किन्हीं अन्य रूपों में बने ही रहते हैं।

व्यक्ति से बहिःस्थित सामाजिक नियम का अस्तित्व भिन्न भिन्न अवस्थाओं में मनुष्यवर्तिनी

दिव्यता के विकास में पर्याप्त लाभकारक अथवा हानिकारक होता है। प्रारंभ में जब मनुष्य असंस्कृत एवं आत्म-संयम तथा आत्मोपलब्धि में अशक्त होता है तब यह लाभदायक होता है, क्योंकि यह उसके वैयक्तिक अहंभाव की शक्ति से भिन्न किसी शक्ति को खड़ा करता है जिसके द्वारा वह अहंभाव अपनी भीषण मांगों को संयत करने, अपनी अयुक्तियुक्त एवं प्रायः-उग्र चेष्टाओं को नियंत्रित करने और एक अधिक विस्तृत एवं कम व्यक्तिगत अहंभाव में अपने आपको कभी कभी विलीन तक कर देने के लिये प्रेरित वा बाधित किया जा सकता है। मानवीय सूत्र का अतिक्रमण करने को उद्यत परिपक्व आत्मा के लिये यह हानिकर होता है क्योंकि यह एक बाह्य मानदंड है जो अपने आपको बाहर से उस आत्मा पर लादने की चेष्टा करता है। किंतु मनुष्य की पूर्णता की शर्त्त यह है कि वह अंदर से तथा अधिकाधिक स्वतंत्रता के साथ विकसित हो, अपने समुन्नत व्यक्ति-भाव को दबाकर के नहीं बल्कि इसका अतिक्रमण करके एवं अपने ऊपर थोपे गये किसी ऐसे नियम के द्वारा नहीं जो उसके अंगों को प्रशिक्षित तथा अनुशासित करे बल्कि अंदर से अपनी उस आत्मा के द्वारा विकसित हो जो सब पुराने रूपों को छिन्न-भिन्न करके उसके अंगों को अपने प्रकाश से अधिकृत कर लेती है तथा उनका रूपांतर करती है।

*

समाज के अधिकारों और व्यक्ति के अधिकारों के पारस्परिक संघर्ष में दो आदर्श तथा चरम समाधान एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित होते हैं। समष्टि की मांग यह है कि व्यष्टि को अपने आपको न्यूनाधिक पूर्णता के साथ समाज के वशीभूत अथवा अपनी स्वतंत्र सत्ता को समाज में विलीन तक कर देना चाहिये, छोटी इकाई को या तो बड़ी पर बलि चढ़ा देना चाहिये या उसे स्वयमेव अपने को इसपर उत्सर्ग कर देना चाहिये। उसे समाज की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता और समाज की कामना को अपनी कामना समझना चाहिये; उसे अपने लिये नहीं बल्कि उस जाति, कुल, समाज या राष्ट्र के लिये जीना चाहिये जिसका वह सदस्य है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से आदर्श एवं चरम समाधान एक ऐसा समाज होगा जिसका अस्तित्व अपने लिये या अपने सर्वातिशायी सामूहिक उद्देश्य के लिये न हो बल्कि व्यक्ति के हित एवं पूर्णत्व के लिये तथा अपने सभी सदस्यों के महत्तर एवं पूर्णतर जीवन के लिये हो। यथासंभव उसकी सर्वश्रेष्ठ आत्मा को निदर्शित करता हुआ तथा इसकी उपलब्धि में उसे सहायता पहुंचाता हुआ, यह अपने प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्रता का मान करेगा तथा अपनी रक्षा किसी नियम और बल के द्वारा नहीं बल्कि अपने अंगभूत व्यक्तियों की स्वतंत्र एवं सहज सहमति के द्वारा ही करेगा। इनमेंसे किसी भी प्रकार का आदर्श समाज कहीं भी नहीं है और जब तक व्यक्ति अपने अहंभाव को जीवन का प्रधान प्रेरक मानकर इससे चिपटा रहेगा तब तक ऐसे समाज का निर्माण करना अत्यंत कठिन होगा और इसके अनिश्चित अस्तित्व को बनाये रखना तो और भी अधिक दुष्कर। अधिक सुगम उपाय यह है कि समाज व्यक्ति पर पूर्ण रूप से नहीं बल्कि सामान्य रूप से शासन करे। प्रकृति प्रारंभ से ही सहज स्वभाववश इसी प्रणाली का अनुसरण करती है और कठोर नियम एवं अलंघ्य लोकाचार के द्वारा तथा मानव प्राणी की अब तक वशवर्त्ती एवं अल्पविकसित बुद्धि को सावधानतापूर्वक अनुशासित करके इस प्रणाली को संतुलित रखती है।

आदिम समाजों में वैयक्तिक जीवन एक कठोर और अपरिवर्तनशील सांघिक रीति-रिवाज

एवं नियम के अधीन पाया जाता है; यह मानवी समुदाय का एक प्राचीन तथा नित्यताभिलाषी नियम है जो सदा ही अविनाशी देव के सनातन आदेश, **एष धर्मः सनातनः**, का वेष धारण करने का यत्न करता है। यह आदर्श मानव मन से मिटा नहीं है; मानव-विकास की अत्यंत अभिनव दिशा यह है कि मानव की आत्मा को दास बनाने के लिये सामूहिक जीवन की इस प्राचीन प्रवृत्ति का एक परिवर्द्धित एवं बहुमूल्य संस्करण प्रचलित किया जाय। किंतु इसमें भूतल पर महत्तर सत्य तथा महत्तर जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये एक बहुत बड़ा खतरा है। व्यक्ति की कामनाएं एवं स्वतंत्र अन्वेषणाएं चाहे कैसी भी अहंकारमय क्यों न हों, अपने वर्तमान रूप में चाहे वे कैसी भी मिथ्या या विकृत क्यों न हों, फिर भी उनके प्रच्छन्न अणुओं में विकास का एक ऐसा बीज निहित है जो समष्टि के लिये अपरिहार्य है। व्यक्ति के अनुसंधानों और स्खलनों के मूल में एक ऐसी शक्ति निहित है जिसे सुरक्षित रखना तथा दिव्य आदर्श की प्रतिमूर्त्ति में रूपांतरित करना अनिवार्य है। उस शक्ति को आलोकित तथा प्रशिक्षित करना तो आवश्यक है किंतु उसे दबा डालना अथवा केवल समाज की गाड़ी के भारी भरकम पहिये को खींचने में ही लगा देना कदापि उचित नहीं।

चरम पूर्णता के लिये व्यक्तिवाद की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी समष्टि-भावना के मूल में निहित शक्ति की। व्यक्ति का गला घोंटना सहज ही मनुष्यवर्ती ईश्वर का गला घोंटने के समान हो सकता है। अपिच, मानवता के वर्तमान संतुलन में इस प्रकार का कोई वास्तविक भय कदाचित् ही हो सकता है कि अतिरंजित व्यक्तिवाद सामाजिक अखंड सत्ता को विभक्त कर डालेगा। पर इस बात की निरंतर आशंका है कि कहीं समाज-रूपी समुदाय का अतिमात्र दबाव अपने भारी अप्रकाशयुक्त यंत्रसम बोझ से व्यक्तिगत आत्मा के स्वतंत्र विकास को दबा ही न डाले अथवा अनुचित रूप से निरुत्साहित ही न कर दे। कारण, व्यष्टिगत मनुष्य को अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से प्रकाशयुक्त एवं सचेतन बनाया जा सकता है और साथ ही उसे स्पष्ट प्रभावों के प्रति उन्मीलित भी किया जा सकता है; समष्टिगत मनुष्य अब तक भी अंधकारयुक्त एवं अर्ध-चेतन है तथा उन वैश्व शक्तियों के द्वारा शासित है जो समष्टि के वश तथा ज्ञान से बाहर हैं।

दमन और पंगूकरण के इस भय के विरुद्ध व्यक्ति की प्रकृति प्रतिक्रिया करती है। यह एक एकाकी प्रतिरोध के द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है और वह प्रतिरोध अपराधी के अंधप्रेरित तथा पाशविक विद्रोह से लेकर एकांतवासी तथा तपस्वी के पूर्ण परित्याग तक का रूप धारण कर सकता है। यह सामाजिक भावना में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समर्थन के द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है, यह इस प्रवृत्ति को समष्टि-चेतना पर बलपूर्वक थोपकर वैयक्तिक तथा सामाजिक मांग में समझौता भी करा सकती है। परंतु समझौता कोई समाधान नहीं होता; यह तो केवल कठिनाई को ताक पर धर देता है और अंत में समस्या को और भी जटिल बनाकर उसके विचारणीय पहलुओं को कई गुना बढ़ा देता है। आवश्यकता है एक नए तत्त्व का आह्वान करने की जो इन दो विरोधी प्रवृत्तियों से भिन्न एवं उच्चतर हो तथा इन्हें पार कर जाने और साथ ही इनका समन्वय करने का सामर्थ्य रखता हो। प्राकृतिक वैयक्तिक नियम यह स्थापना करता है कि हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा कामनाओं की पूर्त्ति ही आचार का एकमात्र मानदंड है और प्राकृतिक सांघिक नियम यह स्थापना करता है कि समूचे समाज की आवश्यकताओं, अभिरुचि-

यों एवं कामनाओं की पूर्त्ति एक अधिक उत्कृष्ट मानदंड है। इन दोनों नियमों के ऊपर एक ऐसे आदर्श नैतिक नियम के विचार को जन्म लेना ही था जो आवश्यकता एवं कामना की पूर्त्ति-रूप न हो, बल्कि इन्हें एक आदर्श व्यवस्था के हित नियंत्रित करे, यहां तक कि इन्हें बलपूर्वक दबाये या विनष्ट करे,–एक ऐसी व्यवस्था के हित जो पाशविक, प्राणिक एवं शारीरिक नहीं वरन् मानसिक हो और जो प्रकाश एवं ज्ञान तथा यथार्थ प्रभुत्व एवं यथार्थ गति और सत्य व्यवस्था के लिये मन की खोज की उपज हो। जिस क्षण यह विचार मनुष्य में प्रबल हो जाता है, उसी क्षण से वह व्यस्तकारी प्राणिक तथा शारीरिक जीवन को त्यागकर मानसिक जीवन में प्रवेश करने लगता है; वह विश्वप्रकृति के त्रिविध आरोहण के प्रथम सोपान से द्वितीय पर आरोहण करता है। उसकी आवश्यकताएं तथा इच्छाएं भी अपने प्रयोजन के उच्चतर प्रकाश से किंचित् प्रभावित हो जाती हैं; मानसिक आवश्यकता तथा सौंदर्य-भावनात्मक, बौद्धिक एवं भावगत कामना भौतिक तथा प्राणिक प्रकृति की मांग पर प्रभुत्व करने लगती हैं।

*

आचार का प्राकृतिक नियम शक्तियों, अंतःप्रवृत्तियों तथा कामनाओं के संघर्ष से इनके संतुलन की ओर गति करता है; उच्चतर नैतिक नियम मानसिक तथा नैतिक प्रकृति के विकास के द्वारा एक स्थिर अंतरीय मानदंड की ओर अथवा निरपेक्ष गुणों अर्थात् न्याय, सत्य, प्रेम, यथार्थ तर्क, यथार्थ सामर्थ्य, सौंदर्य एवं प्रकाश के एक स्वयं-रचित आदर्श की ओर बढ़ता है। अतएव, मूलतः, यह एक वैयक्तिक मानदंड है; यह समष्टि-मन की रचना नहीं है। विचारक व्यक्ति होता है; जो वस्तु अन्यथा रूपरहित मानवीय समष्टि में अवचेतन पड़ी रहती है उसे निकाल लाने तथा आकार देनेवाला भी वही होता है। नैतिक प्रयासी भी व्यक्ति होता है; बाह्य नियम के जूए तले आकर नहीं, प्रत्युत आभ्यंतर प्रकाश के आदेशानुसार आत्म-साधना करना भी मूलतः एक वैयक्तिक प्रयत्न होता है। परंतु अपने वैयक्तिक मानदंड को एक चरम नैतिक आदर्श के प्रतिरूप के तौर पर स्थापित करके विचारक इसे केवल अपने पर नहीं अपितु उन सब व्यक्तियों पर, जिनतक उसका विचार पहुंच तथा पैठ सकता है, लाद देता है। जैसे जैसे बहुसंख्यक लोग इसे विचार में अधिकाधिक स्वीकार करने लगते हैं,–चाहे व्यवहार में वे इसे बिलकुल न मानें या केवल अधूरे तौर पर ही मानें,–वैसे वैसे समाज भी नई स्थिति का अनुसरण करने को बाधित होता है। वह विचारात्मक प्रभाव को आत्मसात् करता है तथा अपनी संस्थाओं को इन उच्चतर आदर्शों से ईषत् प्रभावित नए रूपों में ढाल देने का यत्न करता है, पर इसमें उसे कोई विशेष आश्चर्यजनक सफलता नहीं मिलती। सदा ही उसकी प्रवृत्ति इन्हें एक अनुल्लंघनीय नियम, आदर्श रीति-नीति, यांत्रिक विधि-विधान तथा अपनी सजीव इकाइयों पर एक बाह्य सामाजिक बलात्कार के रूप में परिणत कर देने की ओर होती है।

कारण, जब व्यक्ति अंशतः स्वतंत्र हो चुकता है, एक ऐसा नैतिक अवयवी बन चुकता है जो सचेतन विकास के योग्य, अंतर्मुख जीवन से सज्ञान तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये उत्सुक होता है, उसके बाद भी चिरकाल तक समाज अपनी परिपाटियों में बाह्य बना रहता है, एक ऐसा भौतिक तथा आर्थिक संगठन बना रहता है जो यांत्रिक होता है; वह उन्नति तथा आत्मपूर्णता की अपेक्षा स्थिति तथा स्वरक्षा की ओर ही अधिक दत्तचित्त रहता

है। वर्तमान काल में, स्वभावप्रेरित तथा स्थितिशील समाज पर विचारशाली तथा प्रगतिशील व्यक्ति ने बड़ी भारी विजय प्राप्त की है—उसने अपने विचार-संकल्प से समाज को इस बात के लिये बाधित करने की शक्ति अधिगत की है कि वह भी चिंतन करे, सामाजिक न्याय एवं सत्याचरण तथा सांघिक सहानुभूति एवं पारस्परिक करुणा के विचार के प्रति अपने आपको खोले, अपनी संस्थाओं की कसौटी के रूप में अंध प्रथा की अपेक्षा कहीं अधिक तर्क-बुद्धि के नियम की खोज करे और यह समझे कि उसके नियमों की न्याय्यता के लिये उसके सदस्यों की मानसिक तथा नैतिक सहमति कम से कम एक मुख्य तत्त्व अवश्य है। और नहीं तो, एक आदर्श के रूप में समष्टि-मन के लिये अब यह मानना संभव हो चला है कि उसका अनुमति-दाता प्रकाश होना चाहिये, बल नहीं, यहां तक कि उसके दण्डविधान का लक्ष्य भी नैतिक विकास होना चाहिये, प्रतिशोध या दमन नहीं। भविष्य में विचारक की सबसे महान् विजय तब होगी जब वह व्यष्टि तथा समष्टि दोनों को इस बात के लिये प्रेरित कर सकेगा कि वे अपना जीवन-संबंध तथा इसकी एकता एवं स्थिरता स्वतंत्र तथा समस्वर सहमति और आत्म-अनुकूलन पर आधारित करें और आंतर आत्मा को बाह्य रूप और रचना की यंत्रणा से दबा न डालें बल्कि बाह्य रूप को आंतर सत्य के अनुसार निर्मित तथा नियंत्रित करें।

परंतु यह जो सफलता उसने प्राप्त की है वह भी वास्तविक सफलता होने से कहीं अधिक एक बीजरूप वस्तु ही है। व्यक्ति में निहित नैतिक नियम तथा उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं के नियम के बीच, समाज के समक्ष प्रस्तुत नैतिक नियम तथा जाति, कुल, धार्मिक संघ, समाज एवं राष्ट्र की भौतिक एवं प्राणिक आवश्यकताओं, कामनाओं, रीति-रिवाजों, पक्षपातों, स्वार्थों एवं आवेशों के बीच सदैव असामंजस्य तथा वैषम्य रहता है। नैतिकतावादी वृथा ही अपने चरम सदाचारसंबंधी मानदंड को उत्तोलित करता है तथा सबसे यह अनुरोध करता है कि वे परिणामों का विचार किये बिना ही इसके प्रति स्थिरनिष्ठ रहें। उसकी दृष्टि में व्यक्ति की आवश्यकताएं एवं कामनाएं—यदि ये नैतिक नियम के विरुद्ध हों तो—अयुक्त होती हैं और सामाजिक नियम भी—यदि यह उसकी औचित्य-भावना के विपरीत हो और यदि उसका अंतःकरण भी इसे स्वीकार न करता हो तो—उसपर कोई अधिकार नहीं रख सकता। व्यक्ति के लिये उसका चरम समाधान यह है कि वह ऐसी कामनाओं और अधिकारों का पालन-पोषण न करे जो प्रेम, सत्य और न्याय से संगत न हों। समाज या राष्ट्र से वह मांग करता है कि यह सत्य, न्याय, मानवता और परम लोक-कल्याण की तुलना में अन्य सभी चीजों को, यहां तक कि अपनी सुरक्षा तथा अपने अत्यंत आवश्यक हितों को भी, तुच्छ समझे।

कुछ एक महान् क्षणों को छोड़कर और किसी समय कोई भी व्यक्ति इन शिखरों तक ऊंचा नहीं उठता, आज तक उत्पन्न किसी भी समाज ने इस आदर्श को पूर्ण नहीं किया है। अथच नैतिकता तथा मानव विकास की वर्तमान दशा में संभवतः कोई भी इसे पूर्ण नहीं कर सकता है अथवा किसी को भी ऐसा नहीं करना चाहिये। प्रकृति ऐसा नहीं करने देगी, प्रकृति जानती है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। पहला कारण यह है कि हमारे नैतिक आदर्श स्वयं अधिकांशतः अपूर्ण-विकसित, अज्ञानयुक्त तथा मनमाने हैं, ये आत्मा के सनातन सत्यों की प्रतिलिपियां होने की अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक रचनाएं हैं।

शास्त्रमूलक तथा दुराग्रहपूर्ण होने से ये कतिपय ऐकांतिक मानदंडों को सिद्धांत-रूप में प्रबलतया प्रतिपादित करते हैं, पर क्रियात्मक रूप में आचारशास्त्र की प्रत्येक विद्यमान पद्धति अव्यवहार्य सिद्ध होती है या वास्तव में उस ऐकांतिक मानदंड से निरंतर न्यून रहती है जिसका कि आदर्श दावा करता है। यदि हमारी आचारसंबंधी पद्धति कोई समझौता या कामचलाऊ चीज हो, तो यह अपने को निःसत्त्व बनानेवाले उन और अगले समझौतों को भी तुरंत औचित्य का आधार दे देगी जिन्हें करने के लिये समाज और व्यक्ति जल्दी मचाया करते हैं। और यदि यह समझौता-न-करनेवाली दृढ़ता के साथ पूर्ण प्रेम, न्याय एवं सत्य का आग्रह करे, तो यह मानवीय संभाव्यता के शिखर से बहुत ऊंची चली जायगी और बगला भगति के साथ मानी जायगी पर व्यवहार में उपेक्षित ही रहेगी। यहां तक भी देखने में आता है कि नैतिक पद्धति मानवता में विद्यमान उन अन्य तत्त्वों की अवगणना करती है जो जीवित बचे रहने के लिये इसके समान ही आग्रह करते हैं पर नैतिक सूत्र की चारदीवारी के भीतर बंद होने से इन्कार करते हैं। जिस प्रकार कामना के वैयक्तिक नियम में अनंत अखंड वस्तु के कुछ ऐसे अमूल्य तत्त्व अंतर्निहित हैं जिन्हें प्रबल सामाजिक विचार के अत्याचार से बचाना होता है, ठीक इसी प्रकार व्यष्टिगत मानव तथा समष्टिगत मानव दोनों के स्वभावज आवेगों में भी कुछ ऐसे बहुमूल्य तत्त्व अंतर्निविष्ट हैं जो अब तक आविष्कृत किसी भी सदाचारसंबंधी सूत्र की सीमाओं से बाहर हैं और फिर भी चरम दिव्य पूर्णता की समृद्धि एवं समस्वरता के लिये आवश्यक हैं।

अपिच पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्याय, पूर्ण सत्-तर्क व्याकुल तथा अपूर्ण मानवता के द्वारा वर्तमान काल में प्रयोग में लाये जाते हुए सहज ही संघर्षकारी तत्त्व बन जाते हैं। न्याय प्रायः उस चीज की मांग करता है जिससे प्रेम दूर भागता है। सत्-तर्क एक संतुष्टिकारक सूत्र या नियम की खोज में प्रकृति के तथा मानवीय संबंधों के तथ्यों पर निष्पक्ष भाव से विचार करता हुआ पूर्ण न्याय या पूर्ण प्रेम के कैसे भी शासन को हेर-फेर के बिना स्वीकार नहीं कर पाता है। सच तो यह है कि मनुष्य का पूर्ण न्याय व्यवहार में अनायास ही महान् अन्याय सिद्ध होता है; क्योंकि उसका मन, अपनी रचनाओं में एकपक्षीय तथा कठोर होने के कारण, एकपक्षीय, आंशिक एवं उग्र योजना वा रचना प्रस्तुत करता है और उसकी सर्वांगता तथा पूर्णता का दावा भरता है, साथ ही वह उसके एक ऐसे प्रयोग का भी दावा भरता है जो वस्तुओं के सूक्ष्मतर सत्य एवं जीवन की नमनीयता की उपेक्षा करता है। हमारे सभी मानदंड कार्य में परिणत किये जाने पर या तो समझौतों की दोला में दोलायमान रहते हैं अथवा इस आंशिकता एवं अनमनीय रचना के कारण अपने लक्ष्य से चूक जाते हैं। मानवता एक से दूसरी स्थिति में डोलती रहती है; जाति परस्परविरोधी दावों से प्रेरित होकर टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलती रहती है और, सर्वतोदृष्टचा, प्रकृति के अभिमत को ही स्वाभाविक रूप में क्रियान्वित करती है पर करती है बहुत अपव्यय तथा कष्टसहन के साथ। वह उस कार्य को संपन्न नहीं कर पाती जिसे वह चाहती या ठीक मानती है अथवा ऊपर से आनेवाली सर्वोच्च ज्योति शरीरधारी आत्मा से जिसकी मांग करती है।

★

तथ्य यह है कि जब हम पूर्ण नैतिक गुणों के सिद्धांत पर पहुंच जाते हैं तथा एक आदर्श नियम का निरपवाद एवं अलंघ्य शासन स्थापित कर लेते हैं तब भी हम अपने अनुसंधान की

समाप्ति पर नहीं पहुंच गये होते, न हमें कोई मोक्षकारक सत्य ही प्राप्त हो गया होता है। निःसंदेह, नैतिक नियम में एक ऐसी चीज निहित है जो हमें अपने अंदर के अन्नमय तथा प्राणमय पुरुष के द्वारा सीमाबद्ध होने की स्थिति से ऊंचा उठने में सहायता देती है, एक ऐसा आग्रह निहित है जो मानवता की वैयक्तिक तथा सामूहिक आवश्यकताओं एवं कामनाओं का अतिक्रम कर जाता है,–ऐसी मानवता की जो अभी तक उस प्राणपूरित पार्थिव पंक में फंसी है जिसमें इसने अपनी जड़ें जमाई थीं। साथ ही, नैतिक नियम में एक ऐसी अभीप्सा भी निहित है जो हमें अपने अंदर के मानसिक तथा नैतिक पुरुष को विकसित करने में सहायता देती है। अतएव इस नए उन्नायक तत्त्व के रूप में हमें एक बड़े महत्त्व की प्राप्ति हुई है; इसके परिणामों ने पार्थिव प्रकृति के कठिन विकास में एक काफी महान् प्रगति को परिलक्षित किया है। इन नैतिक धारणाओं की अपर्याप्तता के पीछे कोई ऐसी चीज भी छिपी हुई है जो अवश्यमेव परम सत्य से संबद्ध है; इनमें एक ऐसे प्रकाश और बल की भी आभा है जो अब तक अप्राप्त दिव्य प्रकृति का अंग हैं। परंतु इन चीजों की मानसिक धारणा वह प्रकाश नहीं है और न इनकी नैतिक परिकल्पना ही वह बल है। ये तो केवल मन की बनाई प्रतिनिधि रचनाएं हैं, ये उस दिव्य आत्मा को मूर्त्तिमान् नहीं कर सकतीं जिसे ये अपने सुनिश्चित सूत्रों में बांधने की व्यर्थ में चेष्टा करती हैं। परंतु हमारे अंदर के मनोमय तथा नैतिक पुरुष के परे एक महत्तर दिव्य पुरुष भी है जो आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक है; क्योंकि विस्तीर्ण आध्यात्मिक स्तर के द्वारा ही, जहां मन के सूत्र साक्षात् आंतर अनुभूति की शुभ्र ज्योति में विलीन हो जाते हैं, हम मन से परे पहुंच सकते हैं और इसकी रचनाओं का अतिक्रम कर अतिमानसिक सद्वस्तुओं की विशालता एवं स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। वहीं हम उन दिव्य शक्तियों का सामंजस्य भी अनुभव कर सकते हैं जो हमारे मन के सामने तुच्छ रूप में अयथा उपस्थित की जाती हैं अथवा नैतिक नियम के संघर्षकारी वा दोलायमान तत्त्वों के द्वारा मिथ्या रूप में चित्रित की जाती हैं। वहीं रूपांतरित प्राणमय तथा अन्नमय एवं ज्ञानदीप्त मनोमय पुरुष का उस अतिमानसिक आत्मा में एकीकरण संभव हो सकता है जो हमारे मन, प्राण और शरीर का गुप्त स्रोत है और साथ ही इनका लक्ष्य भी है। वहीं परम दिव्य ज्ञान की ज्योति में परस्पर एकीभूत पूर्ण न्याय, प्रेम एवं सत्याचरण की–जो उससे अत्यंत भिन्न होता है जिसकी हम कल्पना करते हैं–किसी तरह की संभावना हो सकती है। वहीं हमारी सत्ता के अंगों के परस्पर-संघर्ष का सम्यक् समाधान हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, समाज के बाह्य नियम तथा मनुष्य के नैतिक नियम के ऊपर और इनके परे भी एक सत्य एवं नियम है जिसे इनके अंदर की कोई चीज भी शिथिल रूप में तथा अज्ञानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाती है। वह एक बृहत् निर्बन्ध चेतना का विस्तीर्णतर सत्य है, एक दिव्य नियम है। मनुष्य तथा समाज की ये अंध तथा स्थूल व्यवस्थाएं उस विशाल सत्य एवं दिव्य नियम की ओर जाने के लिये क्रमिक और स्खलनशील पग ही हैं जो पशु के प्राकृतिक नियम को लांघकर एक अधिक उन्नत प्रकाश या सार्वभौम नियम में पहुंचने का यत्न करते हैं। वह दिव्य मानदण्ड ही हमारी प्रकृति का परम आध्यात्मिक नियम और सत्य होना चाहिये क्योंकि हमारे अंदर का देवत्व हमारी आत्मा है जो अपनी गुप्त पूर्णता की ओर बढ़ रही है। और फिर, क्योंकि हम संसार में ऐसे देहधारी जीव हैं जिनका एकसा जीवन और प्रकृति है और साथ ही हम ऐसी व्यष्टि-आत्माएं हैं जो परात्पर के साथ सीधा संबंध

जोड़ने में समर्थ हैं, हमारी आत्मा का यह परम सत्य द्विविध होना चाहिये। यह एक ऐसा नियम एवं सत्य होना चाहिये जो महान् आध्यात्मीकृत सामूहिक जीवन की पूर्ण गतिविधि, समस्वरता और लयताल की खोज करे और प्रकृति की विविधतापूर्ण एकता में प्रत्येक प्राणी तथा सभी प्राणियों के साथ हमारे संबंधों को भी पूर्ण रूप से निर्धारित करे। साथ ही यह एक ऐसा नियम एवं सत्य भी होना चाहिये जो जीवधारी व्यक्ति की आत्मा तथा उसके मन, प्राण और शरीर में भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लयताल और यथार्थ क्रमों को हमारे सामने प्रतिक्षण प्रकाशित करता रहे।[1] अनुभव से हम देखते हैं कि कार्य का यह परम प्रकाश एवं बल अपने सर्वोच्च प्रकट रूप में एक अलंघ्य नियम है और साथ ही पूर्ण स्वातंत्र्य भी। अलंघ्य नियम तो यह इसलिये है कि एक शाश्वत सत्य के द्वारा यह हमारी प्रत्येक आंतर तथा बाह्य चेष्टा को नियंत्रित करता है, परंतु फिर भी क्षण क्षण में और एक एक चेष्टा में परम पुरुष का पूर्ण स्वातंत्र्य हमारी सचेतन और मुक्त प्रकृति की पूर्ण नमनीयता को प्रयोग में लाता है।

नैतिक आदर्शवादी अपने आचारसंबंधी ज्ञात तथ्यों में और मानसिक तथा नैतिक सूत्र से संबंध रखनेवाले हीनतर बलों तथा घटक तत्त्वों में इस परम नियम को खोजने का यत्न करता है। अथच इन्हें धारित तथा व्यवस्थित करने के लिये वह आचार का एक आधारभूत तत्त्व चुन लेता है जो मूलतः निःसार होता है तथा बुद्धि, उपयोगिता, भोगवाद, तर्कणा, अंतर्ज्ञानात्मक सदसद्विवेक-बुद्धि अथवा किसी अन्य सामान्यीकृत मानदण्ड से विरचित होता है। ऐसे सब प्रयत्नों का असफल होना पहले से ही निश्चित है। हमारी आंतर प्रकृति नित्य आत्मा की एक प्रगतिशील अभिव्यक्ति है और यह ऐसी जटिल शक्ति है कि किसी एक प्रभुत्वशाली मानसिक वा नैतिक सिद्धांत से बांधी नहीं जा सकती। अतिमानसिक चेतना ही इसकी विभिन्न एवं परस्परविरुद्ध शक्तियों के समक्ष उनके आध्यात्मिक सत्य को प्रकाशित करके उनकी विषमताओं को समस्वर कर सकती है।

अर्वाचीनतर धर्म आचार के परम सत्य की आदर्शमूर्त्ति को स्थिर करने, किसी पद्धति को स्थापित करने तथा अवतार या पैगम्बर के मुख से ईश्वरीय नियम को घोषित करने का प्रयत्न करते हैं। ये पद्धतियां नीरस नैतिक धारणा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं क्रियाशील होती हुई भी, अधिकांश में, उस नैतिक तत्त्व के आदर्शवादात्मक गुणगान के अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं जो धार्मिक भाव से तथा अपने अतिमानवीय उद्गम की छाप से पवित्रीकृत होता है। ईसाई आचारशास्त्र-जैसी कई एक चूड़ांत पद्धतियां भी प्रकृति के द्वारा त्याग दी जाती हैं क्योंकि वे अव्यवहार्य ऐकांतिक नियम पर अक्रियात्मक रूप से आग्रह करती हैं। अन्य कई पद्धतियां अंत में विकासात्मक समझौते ही सिद्ध होती हैं और काल-प्रवाह के अग्रसर होने पर उनका कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। यथार्थ दिव्य नियम इन मानसिक मिथ्या रूपों से भिन्न है। यह उन कठोर नैतिक निर्णयों की पद्धति नहीं हो सकता जो हमारी सभी जीवन-गतियों को जबर्दस्ती अपने कड़े सांचों में ढालने का यत्न करते हैं। दिव्य नियम तो जीवन तथा

---

[1]अतएव गीता के अनुसार "धर्म" उस कार्य को कहते हैं जो हमारी आत्म-सत्ता की सारभूत प्रकृति के द्वारा नियंत्रित हो। धर्म वास्तव में एक ऐसा शब्द है जो मत-मजहब या नैतिकता से परे और ही किसी वस्तु को द्योतित करता है।

आत्मा का सत्य है और यह, निश्चय ही, हमारे कर्म के प्रत्येक क्रम को तथा हमारे जीवन-प्रश्नों की सारी जटिलताओं को एक स्वतंत्र एवं सजीव नमनीयता के साथ अपनावेगा और उन्हें अपने शाश्वत प्रकाश के साक्षात् स्पर्श से अनुप्राणित कर देगा। निःसंदेह, यह किसी नियम एवं सूत्र की तरह नहीं बल्कि उस सर्वतोव्यापी तथा अंतर्व्यापी चेतन उपस्थिति के रूप में कार्य करेगा जो हमारे सब विचारों, कर्मों, भावों और संकल्पावेगों को अपने अचूक बल एवं ज्ञान के द्वारा निर्धारित करती है।

प्राचीनतर धर्मों ने मनीषियों के धर्मसूत्र, मनु या कन्फ्यूशस के स्मृति-वाक्य और एक ऐसे गहन शास्त्र की स्थापना की जिसमें उन्होंने सामाजिक नियम तथा नैतिक सिद्धांत को और हमारी उच्चतम प्रकृति के कतिपय नित्य तत्त्वों के निरूपण को एक प्रकार के एकीकारक मिश्रण में मिला देने का यत्न किया। इन तीनों का उन्होंने एक समान आधार पर वर्णन किया,—इस आधार पर कि ये तीनों ही, समान रूप से, नित्य सत्यों या सनातन धर्म की अभिव्यक्ति हैं। परंतु इनमेंसे दो तो विकसनशील तत्त्व हैं और कुछ काल के लिये वे युक्तियुक्त होते हैं, वे मानसिक रचनाएं किंवा सनातन देव की इच्छा की मानवकृत व्याख्याएं हैं; तीसरे को, कुछ सामाजिक एवं नैतिक सूत्रों से संबद्ध तथा उनके वशीभूत होने के कारण, अपने रूपों के भाग्य में भागीदार होना ही ठहरा। फलतः, या तो शास्त्र अव्यवहार्य हो जाता है और इसे उत्त-रोत्तर परिवर्तित करना या अंतिम रूप से त्याग देना होता है अथवा यह व्यक्ति तथा जाति की आत्मोन्नति में अत्यधिक बाधक बना रहता है। यह एक सामूहिक तथा बाह्य मर्यादा खड़ी करता है और व्यक्ति की आंतर प्रकृति की अर्थात् उसके अंदर की गूढ़ अध्यात्म-शक्ति के अनि-र्धार्य तत्त्वों की अवहेलना करता है। परंतु व्यक्ति की प्रकृति की उपेक्षा नहीं हो सकती; इसकी मांग अलंघ्य है। बाह्य आवेगों का असंयत उपभोग करने से व्यक्ति अराजकता तथा विध्वंस की स्थिति में जा पड़ता है, किंतु किसी निश्चित यांत्रिक नियम के द्वारा उसकी आत्मा की स्वतंत्रता को कुचलने तथा दबा देने से उसका विकास रुक जाता है अथवा उसकी आंतरिक मृत्यु ही हो जाती है। अतएव, इस प्रकार का बाह्य दमन या निर्धारण नहीं, वरन् अपनी उच्चतम आत्मा की स्वतंत्र खोज तथा शाश्वत गति का सत्य ही वह परमार्थ है जो उसे उपलब्ध करना है।

उच्चतर नैतिक नियम को व्यक्ति अपने मन तथा संकल्प एवं आंतरात्मिक अनुभूति में खोज निकालता है और फिर उसे जाति में व्यापक बनाता है। परम नियम की खोज भी व्यक्ति को ही अपनी आत्मा में करनी होगी। उसके बाद ही वह इसे आध्यात्मिक प्रभाव के द्वारा—मानसिक विचार के बल पर नहीं—दूसरों तक विस्तारित कर सकता है। किसी नैतिक नियम को कुछ एक ऐसे मनुष्यों पर एक नियम या आदर्श के रूप में आरोपित किया जा सकता है जिन्होंने चेतना की वह भूमिका या मन, संकल्प और आंतरात्मिक अनुभव की वह सूक्ष्मता अधिगत न की हो जिसमें यह नियम या आदर्श उनके लिये वास्तविक वस्तु और सजीव शक्ति बन सकता है। एक आदर्श के रूप में इसे तनिक भी व्यवहार में लाने की आवश्यकता के बिना इसकी पूजा भी की जा सकती है। एक नियम के तौर पर इसके बाह्य रूप में इसका पालन भी किया जा सकता है चाहे इसका आंतरिक आशय सर्वथा छूट ही क्यों न जाय। पर अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसे ढंग से यंत्रवत् नहीं चलाया जा सकता, इसे मानसिक आदर्श वा बाह्य नियम का रूप नहीं दिया जा सकता। इसकी अपनी ही

महान् सरणियां हैं, किंतु उन्हें हृदयंगम करने की आवश्यकता है, वे व्यक्ति की चेतना में अनुभूत सक्रिय शक्ति की कार्य-प्रणालियां तथा मन, प्राण एवं शरीर का रूपांतर करने में समर्थ सनातन सत्य की प्रतिलिपियां होनी चाहियें। दिव्य चेतना तथा उसके पूर्ण सत्य के साथ हमारा सतत संबंध स्थापित होने से ही चिन्मय भगवान् या क्रियाशील परब्रह्म का कोई रूप-विशेष हमारी पार्थिव सत्ता का उद्धार कर सकता है तथा इसके कलह, स्खलन, दुःखों और असत्यों को परम ज्योति, शक्ति एवं आनंद की प्रतिमूर्त्ति में रूपांतरित कर सकता है। परम पुरुष के साथ आत्मा के ऐसे अविच्छिन्न संबंध की पराकाष्ठा है आत्मदान। इसी को हम भगवत्संकल्प के प्रति समर्पण तथा पृथग्भूत अहं का सर्वमय एक में निमज्जन कहते हैं। आत्मा की बृहत् विश्वमयता एवं सबके साथ प्रगाढ़ एकता ही अतिमानसिक चेतना तथा आध्यात्मिक जीवन की भित्ति और अनिवार्य स्थिति है। उस विश्वमयता तथा एकता में ही हम देहधारी आत्मा के जीवन के भीतर दिव्य अभिव्यक्ति का परम नियम ढूंढ़ सकते हैं; उसी में हम अपनी वैयक्तिक प्रकृति की परम गति-विधि तथा यथार्थ लीला का पता पा सकते हैं। उसी में ये सब निम्नतर विषमताएं इन व्यक्त जीवों के बीच,—जो एकमेव परमेश्वर के अंश तथा एका विश्वजननी की संतानें हैं,—सच्चे संबंधों की विजयी समस्वरता में परिणत हो सकती हैं।

★

समस्त आचार तथा कर्म उस बल एवं शक्ति की गति का अंग हैं, जो अपने उद्गम, गूढ़ आशय तथा संकल्प में अनंत एवं दिव्य है, चाहे उसके ये रूप जिन्हें हम देखते हैं निश्चेतन या अज्ञानयुक्त, भौतिक, प्राणिक, मानसिक तथा सांत ही क्यों न प्रतीत होते हों। यह शक्ति व्यष्टिगत तथा समष्टिगत प्रकृति की अंधता में भगवान् तथा अनंत के किंचित् अंश को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने के लिये कार्य कर रही है। यह ज्योति की ओर ले चल रही है पर अभी अविद्या के द्वारा ही। पहले पहल यह मनुष्य को उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं में से राह दिखाती है; तदनंतर यह उसे उसकी विस्तारित आवश्यकताओं तथा कामनाओं में से, जो मानसिक तथा नैतिक आदर्श से संयत एवं आलोकित होती हैं, परिचालित करती है। यह उसे एक ऐसी आध्यात्मिक चरितार्थता की ओर ले जाने की तैयारी कर रही है जो इन सब चीजों को पार कर जायगी और फिर भी इनके भाव तथा प्रयोजन में जो कुछ भी दिव्यतया सत्य है उस सबमें इन्हें कृतार्थ तथा समन्वित करेगी। आवश्यकताओं तथा कामनाओं को यह दिव्य संकल्प तथा आनंद में रूपांतरित कर देती है। मानसिक तथा नैतिक अभीप्सा को यह सत्य तथा पूर्णत्व की ऐसी शक्तियों में रूपांतरित कर देती है जो इनसे परे हैं। वैयक्तिक प्रकृति के खंडित प्रयास एवं पृथक् अहं के क्षोभ और संघर्ष के स्थान पर यह हमारे अंदर के विश्वात्मभूत पुरुष, केंद्रीय सत्ता एवं परम आत्मा की अंशरूप आत्मा का शांत, गंभीर, समस्वर और कल्याणकर नियम प्रतिष्ठित करती है। हमारे अंदर का यह सच्चा पुरुष विश्वमय होने के कारण अपनी पृथक् तृप्ति की खोज नहीं करता बल्कि केवल यही चाहता है कि प्रकृति के अंदर इसकी बाह्य अभिव्यक्ति में इसके वास्तविक स्वरूप का विकास हो, इसकी आंतरिक दिव्य आत्मा, तथा इसके अंदर की वह परात्पर आध्यात्मिक शक्ति एवं उपस्थिति प्रकट हो जो सभी के साथ एकमय है और प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी तथा दिव्य सत्ता के समस्त सामूहिक व्यक्तित्व और शक्तियों के साथ भी समरस है। साथ

ही यह सच्चा पुरुष इन सबको अतिक्रांत भी कर जाता है तथा किसी प्राणी या समुदाय के अहंभाव में नहीं बंधता और न उनकी निम्न प्रकृति के अज्ञ नियंत्रणों द्वारा सीमित ही होता है। हमारे समस्त अन्वेषण और प्रयास की तुलना में यह एक उच्च उपलब्धि है, यह हमारी प्रकृति के सभी तत्त्वों के पूर्ण समन्वय तथा रूपांतर का निश्चित आश्वासन देती है। शुद्ध, समग्र और निर्दोष कार्य तो केवल तभी किया जा सकता है जब यह उपलब्धि संपन्न हो जाय तथा हम अपने अंदर के इस गुप्त देवाधिदेव का उच्च स्तर प्राप्त कर लें।

पूर्ण अतिमानसिक कर्म किसी एक ही मूलसूत्र या सीमित नियम का अनुसरण नहीं करेगा। व्यष्टिभूत अहंवादी के या किसी संगठित समष्टि-मन के मानदंड को यह संभवतः पूरा नहीं करेगा। यह न तो संसार के पक्के व्यावहारिक मनुष्य की मांग के अनुसार चलेगा न ही लोकाचारी नैतिकतावादी की, न तो देशभक्त की न ही भावनाप्रधान विश्वप्रेमी की और न आदर्श-परिकल्पक दार्शनिक की। एक आलोकित एवं ऊर्ध्वीकृत सत्ता, इच्छाशक्ति तथा ज्ञान की अखंडता में यह शिखरों पर से एक स्वतःप्रवृत्त स्रोतस्स्रवण के द्वारा उद्भूत होगा न कि किसी निर्वाचित, अवधारित एवं मर्यादित क्रिया के द्वारा जो बौद्धिक तर्क वा नैतिक संकल्प से प्राप्त होनेवाली अंतिम चीज होती हैं। इसका एकमात्र ध्येय होगा–हमारे अंदर निहित देवत्व को प्रकट करना और लोकसंग्रह करना अर्थात् संसार को एक साथ संबद्ध रखना तथा भावी अभिव्यक्ति की ओर आगे बढ़ाना। यह भी इसका ध्येय और प्रयोजन तो बहुत कम होगा, अधिकांश में यह सत्ता का एक स्वतःस्फूर्त नियम तथा दिव्य सत्य के प्रकाश और इसके स्वयं गतिशील प्रभाव के द्वारा कार्य का सहज निर्धारण ही होगा। यह उसी प्रकार निःसृत होगा जिस प्रकार प्रकृति का कार्य उसके मूलस्थित समग्र संकल्प और ज्ञान से निःसृत होता है। पर वह संकल्प तथा ज्ञान अब और इस अज्ञ प्रकृति में तमसाच्छन्न नहीं रहेंगे बल्कि चिन्मय परमा प्रकृति में आलोकित होंगे। यह एक ऐसा कार्य होगा जो द्वंद्वों से बंधा हुआ नहीं होगा वरन् उस एकसार आनन्द में परिपूर्ण और विशाल होगा जो आत्मा को सत्तामात्र में उपलब्ध होता है। पीड़ित तथा अज्ञानग्रस्त अहं की व्यग्रताओं और स्खलनों का स्थान दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञा की मंगलकारी एवं अंतःस्फुरित गति ले लेगी और यह शक्ति एवं प्रज्ञा ही हमें प्रेरित और प्रचालित करेगी।

यदि ईश्वरीय हस्तक्षेप के किसी चमत्कार से संपूर्ण मानवजाति एक साथ इस स्तर तक उठाई जा सके तो इसके फलस्वरूप इस भूतल पर परंपराप्रसिद्ध स्वर्णयुग या सत्ययुग अर्थात् सत्य के या सच्चे जीवन के युग जैसी कोई वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी। सत्ययुग का चिह्न यह होता है कि दिव्य नियम प्रत्येक प्राणी में स्वतःस्फूर्त्त एवं सचेतन होता है और अपने कार्य पूर्ण समस्वरता तथा स्वतंत्रता के साथ करता है। पृथक्कारक विभाजन नहीं बल्कि एकता और सार्वभौमता जाति की चेतना की आधारशिला होगी। प्रेम निरपेक्ष होगा; समानता धर्मशासन के साथ संगत और विभिन्नता में भी परिपूर्ण होगी। पूर्ण न्याय हमारी अन्तःसत्ता की,–जो पदार्थों के और अपने तथा दूसरों के स्वरूप के सत्य के साथ समस्वर है और अतएव यथार्थ तथा युक्त परिणाम के संबंध में विश्वस्त है,–एक स्वतःस्फूर्त्त क्रिया के द्वारा उपलब्ध होगा। सत्-तर्क अब पूर्ववत् मानसिक नहीं वरन् अतिमानसिक होगा और वह कृत्रिम मापदण्डों के पर्यवेक्षण से नहीं बल्कि युक्त संबंधों के स्वतंत्र और सहज बोध तथा उनकी अनिवार्य कार्यान्विति के द्वारा ही संतुष्टि अनुभव करेगा। व्यक्ति और समाज में कलह या

समाज समाज में दुःखदायी संघर्ष नहीं रहने पायगा। देहधारी जीवों में निहित सार्वभौम चेतना एकता में समरस विविधता को सुनिश्चित आधार प्रदान करेगी।

मानवजाति की वर्तमान अवस्था में, सर्वप्रथम, व्यक्ति को ही मार्गदर्शक तथा नायक के रूप में इस शिखर पर आरोहण करना होगा। निश्चय ही, उसका एकाकीपन उसके बाह्य कार्यों को एक ऐसी दिशा और रूप दे देगा जो सचेतनतः-दिव्य सामूहिक कार्य की दिशा और रूप से सर्वथा भिन्न होंगे। उसके कार्यों की मूलभित्ति एवं आंतरिक भूमिका तो वही होगी, किंतु स्वयं कार्य उनसे बहुत भिन्न हो सकते हैं जैसे वे अज्ञानमुक्त भूतल पर होंगे। तथापि उसकी चेतना और उसके आचार की दिव्य यांत्रिकता—यदि इस प्रकार का शब्द इतनी स्वतंत्र वस्तु के लिये बरता जा सकता हो—वैसी ही होगी जैसी कि वर्णित की गई है। यह प्राणिक अपवित्रता, कामना और अशुद्ध आवेग के प्रति उस दासता से मुक्त होगी जिसे हम पाप के नाम से पुकारते हैं, यह निर्दिष्ट नैतिक सूत्रों के उस नियंत्रण से बंधी हुई नहीं होगी जिसे हम पुण्य का नाम देते हैं; यह मन से अधिक महान् चेतना में सहज रूप से निश्चयात्मक, पवित्र एवं पूर्ण होगी और पद पद पर आत्मा के प्रकाश तथा सत्य से परिचालित होगी। परंतु जो लोग अतिमानसिक पूर्णता प्राप्त कर चुके हों उनका यदि कोई समूह या समुदाय बनाया जा सके, तो निश्चय ही वहां एक दिव्य सृष्टि मूर्त्तिमन्त हो सकेगी; एक नई पृथ्वी अवतरित हो सकेगी जो नूतन स्वर्ग होगी, इस पार्थिव अज्ञान के तिरोहित होते हुए अंधकार में विज्ञानमय ज्योति के जगत् का यहां सर्जन हो सकेगा।

आठवां अध्याय

परम इच्छाशक्ति

आत्मा की इस विकसनशील अभिव्यक्ति के प्रकाश में,—उस आत्मा की जो पहले प्रत्यक्षतः अज्ञान में बद्ध होती है और पीछे ही अनंत की शक्ति तथा प्रज्ञा में स्वतंत्र होती है,—हम कर्मयोगी के प्रति गीता के इस महान् एवं सर्वोच्च उपदेश को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं कि, "सब धर्मों अर्थात् आचार-व्यवहार के सब सिद्धांतों, विधानों तथा नियमों को त्यागकर केवल मेरी ही शरण ले।" सभी मानदण्ड और नियम कुछ ऐसी अस्थायी रचनाएं होते हैं जो जड़-प्रकृति से आत्मा की ओर संक्रमण करते हुए अहं की आवश्यकताओं पर आधारित होती हैं। निःसंदेह ये सामयिक उपाय सापेक्ष रूप में अनिवार्य होते हैं जब तक कि हम संक्रमण की अवस्थाओं से तृप्त, शरीर और प्राण के जीवन से संतुष्ट एवं मन के व्यापार में आसक्त रहते हैं, अथवा मानसिक स्तर के उन प्रदेशों में ही आबद्ध रहते हैं जो आध्यात्मिक दीप्तियों के द्वारा थोड़े-बहुत प्रभावित हैं। परंतु इनके परे एक असीम अतिमानसिक चेतना की अव्याहत विशालता है जहां सभी अस्थायी रचनाओं का अंत हो जाता है। यदि हममें ऐसा विश्वास एवं साहस नहीं है कि हम अपने आपको सर्वलोकमहेश्वर तथा सर्वभूत-सुहृत् के हाथों में सौंप दें और अपनी मानसिक सीमाओं एवं मर्यादाओं का पूरी तरह से त्याग कर दें तो सनातन तथा अनंत के आध्यात्मिक सत्य में पूर्ण रूप से प्रवेश करना हमारे

लिये संभव नहीं हो सकता। एक न एक समय हमें निःशेष भाव से, संकोच, भय वा संशय के बिना मुक्त, अनंत तथा परिपूर्ण ब्रह्म के महासागर में डुबकी लगानी ही होगी। विधान से परे है मुक्तता; वैयक्तिक मापदण्डों और सार्वजनिक एवं सार्वभौम मापदण्डों के परे कोई अधिक महान् वस्तु है, एक निर्वैयक्तिक नमनीयता, दिव्य स्वतंत्रता, लोकोत्तर बल एवं स्वर्गीय संवेग है। आरोहण के संकीर्ण पथ के पश्चात् ही शिखर पर विस्तृत अधित्यकाएं आती हैं।

आरोहण के तीन क्रम हैं,—सबसे नीचे शारीरिक जीवन है जो आवश्यकता तथा कामना के दबाव के वशीभूत है, मध्य में मानसिक, उच्चतर भावमय तथा आंतरात्मिक नियम है जो महत्तर हितों, अभीप्साओं, अनुभवों एवं विचारों को टोहता है और शिखर पर पहले तो गंभीरतर आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक भूमिका है और फिर अतिमानसिक नित्य चेतना है जिसमें हमारी सब अभीप्साएं एवं जिज्ञासाएं अपना अंतरीय अर्थ जान लेती हैं। शारीरिक जीवन में सर्वप्रथम कामना एवं आवश्यकता और तदनंतर व्यक्ति तथा समाज के क्रियात्मक हित ही प्रभुत्वशाली विचार तथा प्रधान प्रेरक-बल होते हैं। मानसिक जीवन में विचारों तथा आदर्शों का प्रभुत्व होता है,—उन विचारों का जो सत्य का वेष धारण किये हुए अर्द्ध-प्रकाश होते हैं तथा उन आदर्शों का जो वर्धमान पर अपूर्ण अंतर्ज्ञान एवं अनुभव के परिणाम के रूप में मन के द्वारा विरचित होते हैं। जब कभी मानसिक जीवन प्रबल होता है तथा शारीरिक जीवन अपना पाशविक आग्रह कम कर देता है, तब मनुष्य—मनोमय प्राणी—अपने आपको मानसिक प्रकृति के उस आवेग से प्रेरित अनुभव करता है जो व्यक्ति के जीवन को विचार वा आदर्श की भावना में ढाल देने का आवेग होता है, और अंत में समाज का अधिक अनिश्चित एवं अधिक जटिल जीवन भी इस सूक्ष्म प्रक्रिया में से गुजरने को बाध्य होता है। आध्यात्मिक जीवन में, अथवा उस अवस्था में जब मन से अधिक ऊंची शक्ति प्रकट हो चुकती है तथा प्रकृति को अपने अधिकार में कर लेती है, ये सीमित प्रेरक-बल पीछे हटने लगते हैं और क्षीण तथा लुप्त होते जाते हैं। तब, एकमात्र आध्यात्मिक वा अतिमानसिक आत्मा, भागवत पुरुष या परात्पर तथा विश्वगत सत्तत्त्व ही हमारा हृद्देशस्थ ईश्वर होता है और वही हमारी प्रकृति के नियम वा 'स्व-धर्म' की उच्चतम, विशालतम एवं सर्वांगीणतम संभव अभिव्यक्ति के अनुसार हमारे चरम विकास को स्वच्छंदतापूर्वक गढ़ता है। अंत में हमारी प्रकृति पूर्ण सत्य तथा इसकी सहज स्वतंत्रता में कार्य करने लगती है; क्योंकि वह केवल सनातन की ज्योतिर्मय शक्ति का ही अनुसरण करती है। व्यक्ति के लिये तब और कोई चीज प्राप्त करने को नहीं रह जाती, न कोई कामना ही पूर्ण करने को शेष रहती है; वह तो सनातन के निर्वैयक्तिक स्वरूप या विराट् व्यक्तित्व का अंश बन जाता है। जीवन में भागवत आत्मा को अभिव्यक्त और लीलायित करना तथा दिव्य लक्ष्य की ओर यात्रा करते हुए संसार का धारण और परिचालन करना—इन उद्देश्यों को छोड़कर और कोई उद्देश्य तब उसे कार्य के लिये प्रेरित नहीं कर सकता। मानसिक धारणाएं, सम्मतियां और कल्पनाएं तब और उसकी अपनी नहीं रहतीं; क्योंकि उसका मन निश्चलनीरव हो जाता है, यह तब दिव्य ज्ञान के प्रकाश तथा सत्य की प्रणालिकामात्र होता है। आदर्श उसकी आत्मा की विशालता के लिये अत्यंत संकीर्ण हो जाते हैं; उसके अंदर तो अनंत का महासागर सदा हिलोरें मारता और उसे गति देता रहता है।

*

जो कोई भी व्यक्ति सच्चाई के साथ कर्मों के पथ पर आरूढ़ होता है उसे उस अवस्था को, जिसमें आवश्यकता तथा कामना हमारे कार्यों का प्रथम नियम होती हैं, कोसों दूर छोड़ देना होगा। जो भी इच्छाएं अभी तक उसकी सत्ता को व्याकुल करती हैं उनको उसे—यदि वह योग के उच्च ध्येय को अपनाता है तो—अपने से पृथक् कर स्वान्तःस्थित ईश्वर के हाथों में सौंप देना होगा। परा शक्ति साधक के और सर्वजन के मंगल के लिये उन इच्छाओं के साथ यथायोग्य वर्ताव करेगी। क्रियात्मक रूप में, हम देखते हैं कि जब एक बार ऐसा समर्पण कर दिया जाता है,—हां, इसके साथ सच्चा परित्याग भी सदैव आवश्यक होता है,—तब भी पुरानी प्रकृति के अविरत आवेग के वश कामना के अहम्मूलक उपभोग की प्रवृत्ति कुछ काल के लिये उभर सकती है। परंतु वह केवल इसलिये उभरती है कि कामना के अर्जित आवेग को समाप्त कर दे तथा इसकी प्रतिक्रियाओं द्वारा, इसके दुःख तथा बेचैनी द्वारा—जो उच्चतर शांति की प्रसादपूर्ण घड़ियों किंवा दिव्य आनंद की अद्भुत गतियों से तीव्र रूप में भिन्न होते हैं—शरीरधारी प्राणी की सत्ता के अत्यंत अशिक्षणीय अंग को, उसकी स्नायविक, प्राणिक एवं भावुक प्रकृति को भी यह सिखा दे कि अहंभावमयी कामना उस आत्मा के लिये नियम नहीं होती जो मुक्ति चाहती है अथवा अपनी मूल देव-प्रकृति के लिये अभीप्सा करती है। फिर भी उन प्रवृत्तियों के अंदर कामना का जो तत्त्व है वह आगे चलकर एक अनवरत वर्जक और रूपांतरकारी दबाव के द्वारा निकाल फेंका जायगा या दृढ़तापूर्वक दूर कर दिया जायगा। केवल उनके अंदर की वह शुद्ध क्रिया-शक्ति (प्रवृत्ति) ही, जो ऊपर से प्रेरित या आरोपित समस्त कर्म तथा फल में एकसमान आनंद लेने के कारण अपना औचित्य सिद्ध करती है, अन्तिम पूर्णता के सुखद सामञ्जस्य में सुरक्षित रखी जायगी। कर्म करना एवं उपभोग करना स्नायवीय सत्ता का स्वाभाविक नियम तथा अधिकार है; किंतु वैयक्तिक कामना के द्वारा अपने कर्म तथा भोग का चुनाव करना उसकी एक अज्ञानयुक्त इच्छामात्र है, उसका अधिकार नहीं। चुनाव तो परम तथा वैश्व इच्छाशक्ति को ही करना होगा; कर्म को उस परम इच्छाशक्ति की प्रबल गति में बदल जाना होगा; भोग का स्थान शुद्ध आध्यात्मिक आनंद की क्रीड़ा को लेना होगा। समस्त वैयक्तिक इच्छा या तो ऊपर से प्राप्त अस्थायी प्रतिनिधित्व होती है या अज्ञानी असुर के द्वारा परकीय स्वत्व का अपहरण।

सामाजिक नियम अर्थात् हमारी उन्नति की दूसरी अवस्था एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा अहं को वश में रखा जाता है इसलिये कि वह विस्तीर्णतर सामूहिक अहं के अधीन रहकर अनुशासन सीख सके। यह नियम किसी भी नैतिक अर्थ से सर्वथा शून्य हो सकता है और केवल समाज की आवश्यकताओं या क्रियात्मक हित को—हित के विषय में किसी समाज की जैसी भी कल्पना हो उसके अनुसार—प्रकट कर सकता है। अथवा यह उन आवश्यकताओं और उस हित को एक ऐसे रूप में भी प्रकट कर सकता है जो एक उच्चतर नैतिक या आदर्श नियम के द्वारा संशोधित, रंजित तथा परिपूरित हो। जो व्यक्ति विकास कर रहा है पर अभी तक पूर्णतः विकसित नहीं हुआ है उसके लिये यह नियम सामाजिक कर्त्तव्य, पारिवारिक दायित्व, साम्प्रदायिक या राष्ट्रीय मांग के रूप में तब तक अनिवार्य ही होता है जब तक कि यह उच्चतर शुभ-संबंधी उसकी प्रगतिशील भावना के विरुद्ध नहीं होता। परंतु कर्मयोग का साधक इसे भी कर्मों के स्वामी पर उत्सर्ग कर देगा। जब वह इस प्रकार का समर्पण कर चुकेगा, उसके बाद से उसके सामाजिक आवेग तथा निर्णय, उसकी कामनाओं

की भांति ही, केवल इसलिये उपयोग में लाये जायंगे कि वे सर्वथा समाप्त हो जायं। अथवा जहां तक ये कुछ काल के लिये अभी भी आवश्यक होंगे वहां तक ये संभवतः उसे इस योग्य बनाने के लिये काम में लाये जायंगे कि वह अपनी निम्नतर मानसिक प्रकृति को समूची मानवजाति या इसके किसी समूह-विशेष के साथ, इसकी चेष्टाओं, आशाओं और अभीप्साओं के साथ एकाकार कर सके। परंतु वह अल्पकाल बीत जाने के बाद ये हटा लिये जायंगे और एकमात्र दिव्य शासन ही स्थिर रहेगा। वह भगवान् के साथ तथा दूसरों के साथ दिव्य चेतना के द्वारा ही एकमय होगा मनोमय प्रकृति के द्वारा नहीं।

कारण, जब साधक स्वतंत्र हो जायगा उसके बाद भी वह रहेगा तो संसार में ही और संसार में रहने का मतलब है कर्मों में रहना। परंतु कामना के बिना कर्मों में रहने का अर्थ है समूचे संसार की भलाई के लिये या वर्ग या जाति के लिये या भूतल पर विकसित होनेवाली किसी नई सृष्टि के लिये कर्म करना अथवा अपने अंतःस्थ भागवत संकल्प द्वारा नियुक्त कार्य करना। यह कार्य उसे उस परिस्थिति या समुदाय से प्राप्त ढांचे में करना होगा जिसमें वह पैदा हुआ है या जिसमें उसे रखा गया है अथवा यह उसे एक ऐसे ढांचे में करना होगा जो दैवी आदेश ने उसके लिये चुना या पैदा किया है। अतएव हमारी पूर्णता की अवस्था में हमारी मानसिक सत्ता के अंदर ऐसी कोई भी चीज शेष नहीं रहनी चाहिये जो उस वर्ग एवं समुदाय का या भगवान् के और किसी भी सामूहिक रूप का विरोध करे या उसके साथ हमारी सहानुभूति एवं स्वतंत्र एकमयता में बाधा डाले जिसका नेता, सहायक या सेवक बनने के लिये वह भगवान् के द्वारा नियुक्त है। परंतु अंत में इसे भगवान् के साथ तादात्म्य द्वारा प्राप्त एक स्वतंत्र आत्म-एकाकारता बन जाना होगा, न कि मेल-मिलाप की कोई ऐसी मानसिक शर्त्त या नैतिक गांठ या कोई प्राणिक साहचर्य बने रहना होगा जो किसी प्रकार के वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक या धार्मिक अहंकार से नियंत्रित हो। यदि किसी सामाजिक नियम का पालन किया भी जायगा तो वह किसी भौतिक आवश्यकता या वैयक्तिक या सार्वभौम हितबुद्धि या उपयोगिता के वश अथवा परिस्थिति के दबाव या किसी कर्त्तव्य-भावना के कारण नहीं किया जायगा बल्कि केवल कर्मों के स्वामी के लिये तथा इस बात को ईश्वरेच्छा अनुभव करते या जानते हुए किया जायगा कि सामाजिक विधान या नियम या संबंध, जैसा भी वह है, अंतर्जीवन की प्रतिमा के रूप में अभी भी सुरक्षित रखा जा सकता है और उसका उल्लंघन करके मनुष्यों में 'बुद्धिभेद' नहीं पैदा करना चाहिये। दूसरी ओर, यदि सामाजिक विधान या नियम या संबंध की अवहेलना की भी जायगी तो वह कामना, वैयक्तिक संकल्प या वैयक्तिक सम्मति को तुष्ट करने के लिये नहीं की जायगी वरन् इसलिये कि हमें आत्मा के विधान को प्रकट करनेवाले एक महत्तर नियम का अनुभव हो चुका होगा अथवा यह ज्ञान प्राप्त हो चुका होगा कि दिव्य सर्व-संकल्प की प्रगति में वर्त्तमान नियमों और रूपों के परिवर्तन, अतिक्रमण या उन्मूलन के लिये प्रयास अवश्य होना चाहिये जिससे कि विश्व-विकास के लिये आवश्यक एक अधिक स्वतंत्र और विशाल जीवन का उदय हो सके।

अब रहा नैतिक नियम या आदर्श; ये दोनों उन बहुत से लोगों को भी जो अपने को स्वतंत्र समझते हैं, सदैव पवित्र एवं बुद्धिगोचर प्रतीत होते हैं। परंतु साधक, अपनी दृष्टि सदा ऊर्ध्वमुखी रहने के कारण, इन्हें उस भगवान् के प्रति उत्सर्ग कर देगा जिसे समस्त

आदर्श अपूर्ण एवं आंशिक रूप से ही प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। सभी नैतिक गुण उसके स्वभावसिद्ध तथा असीम पूर्णत्व के तुच्छ तथा अनमनीय हास्यास्पद अभिनयमात्र हैं। स्नायविक या प्राणिक कामना के मिटने के साथ ही पाप एवं अशुभ का बंधन भी मिट जाता है; क्योंकि इसका संबंध हमारे अंदर के उस गुण से है जो प्राणगत आवेश का गुण (रजोगुण) है तथा जो हमें प्रवृत्ति के लिये प्रेरित या प्रचालित करता है, और इसलिये प्रकृति के इस गुण का रूपांतर होते ही यह छिन्न-भिन्न हो जाता है। परंतु अभीप्सु को रूढ़िभूत या अभ्यासगत पुण्य की अथवा किसी मनोनिर्दिष्ट या उच्च या निर्मल सात्त्विक पुण्य की सुवर्ण-रंजित या स्वर्णिम श्रृंखला से भी आबद्ध नहीं रहना होगा। इसके स्थान पर उसे एक ऐसी वस्तु प्रतिष्ठित करनी होगी जो virtue या पुण्य नाम से प्रसिद्ध, क्षुद्र एवं न्यूनतापूर्ण वस्तु से अधिक गंभीर और अधिक तात्त्विक हो। 'वर्चु (virtue)' शब्द का मूल अर्थ था मनुष्यत्व और यह नैतिक मन तथा इसकी रचनाओं से अधिक विस्तृत और अधिक गहरी वस्तु है। कर्मयोग की सिद्धि इससे भी ऊंची और गहरी अवस्था है जिसे शायद "आत्म-भाव" कह सकते हैं—क्योंकि आत्मा मनुष्य से अधिक महान् है। परम सत्य और प्रेम के कर्मों में स्वयमेव स्रवित होता हुआ यह स्वतंत्र आत्म-भाव मानवीय पुण्य का स्थान ले लेगा। परंतु इस परम सत्य को न तो व्यावहारिक बुद्धि के छोटे-छोटे कमरों में रहने के लिये बाधित किया जा सकता है और न ही इसे उस व्यापकतर चिंतक बुद्धि की अधिक गरिमामयी रचनाओं में आबद्ध किया जा सकता है जो अपने निरूपणों को परिमित मानव बुद्धि पर शुद्ध सत्य के रूप में आरोपित किया करती है। यह परम प्रेम भी मानवीय आकर्षण, सहानुभूति तथा दया की आंशिक एवं मंद और अज्ञ एवं भावोद्वेलित चेष्टाओं से संगत ही हो यह आवश्यक नहीं, इनसे अभिन्न होना तो दूर की बात रही। क्षुद्र नियम विशालतर गति को बांध नहीं सकता; मन की खण्ड उपलब्धि आत्मा की परम परिपूर्णता पर शासन नहीं कर सकती।

सर्वप्रथम, उच्चतर प्रेम एवं सत्य अपनी गति को साधक में उसकी निजी प्रकृति के सारभूत धर्म या पथ के अनुसार ही चरितार्थ करेगा। क्योंकि, वह धर्म या पथ दिव्य प्रकृति का एक विशेष रूप एवं परा शक्ति की एक विशिष्ट शक्ति ही होता है, जिसमें से उसकी अंतरात्मा लीला में आविर्भूत होती है,—निःसंदेह यह उस धर्म वा पथ के रूपों से सीमित नहीं होती, क्योंकि आत्मा तो सीमारहित है। फिर भी इसके प्रकृति-तत्त्व पर उस गति का प्रभाव अंकित रहता है और यह तत्त्व उस प्रबल प्रभाव के चक्राकार घुमावों के चारों ओर उन सरणियों या दिशाओं में निर्बाध रूप से विकसित होता है। साधक दिव्य सत्य-गति को ज्ञानी या शूरवीर योद्धा या प्रेमी तथा उपभोक्ता या कर्मी एवं सेवक के स्वभाव के अनुसार अथवा तीन मूल गुणों के किसी अन्य ऐसे सम्मिश्रण में प्रकट करेगा जो उसकी सत्ता के अपनी ही आंतर प्रेरणा द्वारा नियत आकार का गठन करनेवाला हो। उसके कार्यों में स्वच्छन्द क्रीड़ा करती हुई उसकी इस स्व-प्रकृति (स्वधर्म) को ही मनुष्य उसमें देखेंगे न कि किसी बाह्य क्षुद्रतर नियम या विधान के द्वारा गठित, निर्धारित तथा कृत्रिमतया नियमित आचार को।

परंतु इससे भी ऊंची एक और उपलब्धि है, एक 'आनन्त्य' है जिसमें यह अंतिम नियम-मर्यादा भी अतिक्रांत हो जाती है, क्योंकि प्रकृति पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है तथा इसकी सीमाएं विलुप्त हो जाती हैं। वहां आत्मा सभी सीमाओं से मुक्त रहती है, क्योंकि वह अपने

अन्दर की दिव्य इच्छाशक्ति के अनुसार सभी रूपों तथा सांचों का प्रयोग करती है, पर वह जिस भी शक्ति या रूप को उपयोग में लाती है उससे निगड़ित नहीं हो जाती, उससे आबद्ध या उसके अंदर अवरुद्ध नहीं हो जाती। यह कर्म-मार्ग का शिखर है और यही आत्मा की उसके कर्मों में पूर्ण स्वाधीनता है। वास्तव में, वहां कोई भी कर्म इसके नहीं होते; इसकी सभी चेष्टाएं 'परम' की ही स्वरलहरी होती हैं। वे उसीसे निःसृत होती हैं–ऐसे स्वतंत्र रूप में जैसे अनन्त में से एक स्वतःस्फूर्त संगीत निःसृत होता है।

*

अतएव समर्पण ही कर्मयोग का साधन तथा साध्य है–अपनी समस्त चेष्टाओं का परम तथा विश्वव्यापी इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण, अशेष कर्मों का अपने अन्तःस्थित किसी ऐसी नित्य सत्ता के शासन के प्रति बिना किसी शर्त तथा नियम-मर्यादा के समर्पण जो हमारी अहं-प्रकृति की साधारण कर्मप्रणाली का स्थान ग्रहण कर लेती है। परंतु वह दिव्य परम इच्छाशक्ति क्या है तथा हमारे भ्रान्त करणों एवं हमारी अंध तथा बन्दीकृत बुद्धि द्वारा वह कैसे पहचानी जा सकती है?

साधारणतया हम अपने विषय में ऐसा सोचते हैं कि हम संसार में एक पृथक् "अहं" हैं जो एक पृथक् शरीर तथा मनोमय एवं नैतिक प्रकृति पर शासन करता है, अपने स्व-निर्धारित कार्य पूरी स्वाधीनता से चुनता है तथा स्वतंत्र है और इसी कारण अपने कर्मों का एकमात्र स्वामी है एवं उत्तरदायी भी। यह कल्पना करना कि कैसे हमारे अन्दर इस प्रतीयमान "अहं" तथा इसके साम्राज्य की अपेक्षा अधिक सत्य, अधिक गंभीर एवं अधिक शक्तिशाली कोई अन्य वस्तु हो सकती है साधारण मनुष्य के लिये सुगम नहीं–उस मनुष्य के लिये जिसने अपनी रचना तथा रचनाकारी तत्त्वों पर विचार नहीं किया है तथा इनके मूल में गंभीर दृष्टि नहीं डाली है, यह उन मनुष्यों के लिये भी कठिन है जिन्होंने चिन्तन तो किया है पर जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है। परंतु दृश्य-प्रपंच के यथार्थ ज्ञान की भांति आत्मज्ञान का भी सबसे पहला कदम यह है कि हम वस्तुओं के प्रतीयमान सत्य के मूल में जायं और उस वास्तविक पर निगूढ़ तथा तात्त्विक और क्रियाशील सत्य को ढूंढ़ निकालें जो इनकी प्रतीतियों से आवृत है।

यह अहं या "मैं" हमारा सारभूत भाग होना तो दूर रहा, हमारा स्थायी सत्य भी नहीं है; यह प्रकृति की एक रचनामात्र है, उसका एक रूप है, बोधग्राही तथा विवेककारी मन में यह विचार का केंद्रीकरण करनेवाला एक मानसिक रूप है, हमारे प्राणमय भागों में यह भाव तथा संवेदन का केंद्रीकरण करनेवाला एक प्राणिक रूप है, हमारे शरीरों में इसका रूप है एक शारीरिक सचेतन ग्रहण जो देह-तत्त्व तथा इसके व्यापार का केंद्रीकरण करता है। आंतरिक तौर पर हम जो कुछ हैं वह अहं नहीं, बल्कि चेतना, अंतरात्मा या आत्मसत्ता है। बाहर से एवं स्थूल रूप में हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ करते हैं वह अहं नहीं वरन् विश्वप्रकृति है। कर्त्री वैश्व शक्ति हमारा रूप गढ़ती है और इस प्रकार गठित हमारी प्रकृति तथा परिस्थिति एवं मनोवृत्ति के द्वारा, वैश्व शक्तियों से रचित हमारी व्यष्टिभावापन्न रूप-रचना के द्वारा, हमारे कार्यों तथा उनके परिणामों को प्रेरित वा निर्दिष्ट करती है। वास्तव में विचार, इच्छा वा कर्म हम नहीं करते बल्कि विचार हममें उदित होता है, इच्छाशक्ति हममें उद्भूत होती है, आवेग तथा कर्म हममें घटित होते हैं। हमारा अहंभाव प्राकृतिक चेष्टाओं के इस समस्त

प्रवाह को अपने चारों ओर एकत्र कर लेता है तथा इसे अपने सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करता है। वैश्व शक्ति किंवा विश्व-प्रकृति ही विचार की रचना करती है, इच्छाशक्ति को बलात् आरोपित करती है और प्रेरणा का संचार करती है। हमारा शरीर, मन तथा अहं उस कार्यरत शक्ति-समुद्र की तरंगें हैं, ये उस पर शासन नहीं करते प्रत्युत उसके द्वारा शासित तथा परिचालित होते हैं। सत्य तथा आत्मज्ञान की ओर प्रगति करते करते साधक को एक ऐसे स्थल पर पहुंचना होगा जहां आत्मा अपने दिव्य दृष्टि के नयन खोलती है और अहं तथा कर्म-संबंधी इस सत्य को पहचान लेती है। तब साधक यह विचार त्याग देता है कि कोई मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक "अहं" है जो कर्म करता या कर्म का संचालन करता है; वह जान जाता है कि प्रकृति एवं वैश्व प्रकृति की शक्ति ही अपने निश्चित गुणों का अनुसरण करती हुई उसमें तथा सभी पदार्थों एवं प्राणियों में एकमात्र और अद्वितीय कर्म-कर्त्री है।

परंतु प्रकृति के गुणों को किसने निश्चित किया है ? अथवा शक्ति की गतियों का उद्गम एवं अधिष्ठाता कौन है ? इसके मूल में अवस्थित है एक चेतना—अथवा एक 'चेतन'—जो इसके कर्मों का स्वामी, साक्षी, ज्ञाता, भोक्ता, धर्त्ता तथा अनुमन्ता है; यह चेतना है आत्मा या पुरुष। प्रकृति हमारे अंदर कर्म को आकार देती है; पुरुष इसके अंदर या इसके पीछे रहकर उसे साक्षिभाव से देखता और अनुमति देता है तथा उसका धारण एवं भरण करता है। प्रकृति हमारे मन में विचार की रचना करती है; इसके अंदर या पीछे अवस्थित पुरुष उस विचार को तथा उसके अन्तर्निहित सत्य को जानता है। प्रकृति कर्म का परिणाम निश्चित करती है; इसके अंदर या पीछे अवस्थित पुरुष उस परिणाम को भोगता या सहता है। प्रकृति मन और तन की रचना करती है, उनपर परिश्रम करती एवं उन्हें विकसित करती है; पुरुष उस रचना एवं विकास को धारण करता है और प्रकृति के कार्यों के प्रत्येक पग को अनुमति देता है। प्रकृति एक संकल्पशक्ति का प्रयोग करती है जो पदार्थों एवं मनुष्यों में कार्य करती है; पुरुष, जो करना चाहिये उसे अपनी अन्तर्दृष्टि से देखकर, उस संकल्प-शक्ति को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह पुरुष तलीय अहं नहीं है बल्कि अहं के पीछे अवस्थित निश्चलनीरव आत्मा है, शक्ति का स्रोत है, ज्ञान का उद्गम तथा ग्रहीता है। हमारी मानसिक "मैं" इस आत्मा अथवा शक्ति एवं ज्ञान की एक मिथ्या प्रतिच्छायामात्र है। अतः यह पुरुष या भरण करनेवाला चैतन्य प्रकृति के अखिल कर्मों का मूल, ग्रहीता तथा आधार है, पर यह स्वयं कर्त्ता नहीं है। सामने की ओर अवस्थित प्रकृति अथवा प्रकृति-शक्ति तथा इसके मूलमें विद्यमान शक्ति अथवा चित्-शक्ति या आत्म-शक्ति—क्योंकि यही दो विश्वजननी के आंतर तथा बाह्य रूप हैं,—उस सबकी व्याख्या कर देती हैं जो कुछ कि संसार में किया जाता है। विश्वजननी किंवा प्रकृति-शक्ति ही एकमात्र तथा अद्वितीय कर्मकर्त्री है।

पुरुष-प्रकृति, चित्-शक्ति किंवा विश्व-प्रकृति को धारण करनेवाली आत्मा,—क्योंकि ये दोनों अपने पार्थक्य में भी एक तथा अविभेद्य हैं,—एक साथ ही विश्वव्यापी तथा विश्वातीत शक्ति हैं। परंतु व्यक्ति में भी कोई ऐसी सत्ता है जो मानसिक अहं नहीं है, कोई ऐसी सत्ता है जो इस महत्तर सद्वस्तु से सारतः अभिन्न है। यह सत्ता उस एकमेव पुरुष का शुद्ध प्रतिबिम्ब या अंश है; यह अन्तरात्मा है, पुरुष या शरीरधारी जीव है, व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा है; यह शुद्ध आत्मा है जो अपने बल एवं ज्ञान को इसलिये सीमित करती प्रतीत

होती है कि परात्पर तथा विश्वगत प्रकृति की वैयक्तिक क्रीड़ा को आश्रय दे सके। गंभीरतम वास्तविकता के क्षेत्र में अनंततया 'एक' अनंततया 'बहु' भी है; हम 'तत्' के प्रतिबिम्ब या अंशमात्र नहीं, बल्कि 'तत्' ही हैं। हमारे अहं के विपरीत, हमारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व हमारी विश्वमयता तथा परात्परता का निषेध नहीं करता। परंतु इस समय हमारी अंतःस्थ अंतरात्मा या आत्मा विश्वप्रकृति में व्यष्टि-भाव के निर्माण में तल्लीन रहने के कारण अपने आपको अहं के विचार से भ्रान्त होने देती है। उसे इस अज्ञान से छुटकारा पाना है, उसे जानना है कि वह परम तथा विश्वव्यापी आत्मा की एक प्रतिच्छाया या एक अंश या रूप है और विश्वकर्म में इसकी चेतना का एकमात्र केंद्र है। परंतु यह 'जीव पुरुष' भी कर्मों का कर्त्ता नहीं है वैसे ही जैसे कि अहं कर्त्ता नहीं है, अथवा जैसे द्रष्टा तथा ज्ञाता की धारक चेतना कर्त्री नहीं है। इस प्रकार, सदा-सर्वदा परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति ही एकमात्र कर्त्री है, परंतु इसके पीछे अवस्थित है एकमेव परमदेव जो इसमें से युगल-शक्ति, पुरुष-प्रकृति एवं ईश्वर-शक्ति[1] के रूप में प्रकट होता है। वह 'परम' इस शक्ति के रूप में गतिशील हो जाता है और इसी के द्वारा वह विश्व में कर्मों का एकमात्र आरंभक और स्वामी है।

★

यदि कर्म-विषयक सत्य यही है तो सबसे पहले साधक को यह करना होगा कि वह कर्म के अहंकारमय रूपों से पीछे हटे तथा इस भावना से मुक्त हो जाय कि कोई "मैं" है जो कार्य करती है। उसे यह देखना तथा अनुभव करना होगा कि जो कोई भी चीज उसमें घटित होती है वह उसके उन मानसिक तथा शारीरिक करणों की सुनम्य, सचेतन वा अवचेतन या कभी कभी पराचेतन सहज प्रक्रिया से घटित होती है जो कि आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक विश्व-प्रकृति की शक्तियों के द्वारा परिचालित होते हैं। उसके

---

[1]ईश्वर-शक्ति और पुरुष-प्रकृति बिलकुल एक ही चीज हों ऐसी बात नहीं; क्योंकि पुरुष- और प्रकृति पृथक्-पृथक् शक्तियां हैं, पर ईश्वर और शक्ति अपने अंदर एक दूसरे को समाविष्ट रखते हैं। ईश्वर वह पुरुष है जो प्रकृति को अपने अंतर्गत रखता है तथा अपने अंदर विराजमान शक्ति के सामर्थ्य से शासन करता है। शक्ति वह प्रकृति है जो पुरुष-रूप आत्मा से युक्त है तथा ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करती है; ईश्वर की इच्छा उस शक्ति की अपनी ही इच्छा है तथा अपनी गति में वह ईश्वर की उपस्थिति को सदा अपने संग रखती है। पुरुष-प्रकृति का अनुभव कर्म-मार्ग पर चलनेवाले जिज्ञासु के लिये अत्यंत उपयोगी होता है; क्योंकि चेतन पुरुष और शक्ति का पार्थक्य तथा शक्ति की यांत्रिक क्रिया के प्रति पुरुष की अधीनता हमारे अज्ञान एवं अपूर्णत्व का एक प्रबल कारण हैं। अतएव इस अनुभव से पुरुष अपने को प्रकृति की यांत्रिक क्रिया से मुक्त करके स्वतंत्र हो सकता है और प्रकृति पर प्रथम आध्यात्मिक नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। ईश्वर-शक्ति पुरुष-प्रकृति के संबंध और इस संबंध की अज्ञ क्रिया के पीछे अवस्थित है और विकास के प्रयोजन के लिये इसका उपयोग करती है। ईश्वर-शक्ति का अनुभव पुरुष को उच्चतर गतिशीलता और दिव्य व्यापार में सहयोगी बना सकता है और आध्यात्मिक प्रकृति में सत्ता का पूर्ण एकत्व एवं सामंजस्य साधित कर सकता है।

उपरितल पर एक व्यक्तित्व है जो चुनाव करता तथा इच्छा करता है, हार मान लेता तथा संघर्ष करता है और प्रकृति में अपने आप को सुरक्षित रखने अथवा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है। पर यह व्यक्तित्व स्वयं प्रकृति की ही रचना है और यह उसके द्वारा इस प्रकार शासित, परिचालित तथा निर्धारित होता है कि यह स्वतंत्र नहीं कहला सकता। यह उसमें निहित आत्मा की रचना या अभिव्यक्ति है,–यह आत्मा की अंशभूत आत्मा होने की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृति का अंशभूत 'स्व' है, यह आत्मा की प्राकृतिक तथा प्रक्रियात्मक सत्ता है न कि उसकी आध्यात्मिक तथा शाश्वत सत्ता, अस्थायी निर्मित व्यक्तित्व है, न कि वास्तविक अमर व्यक्ति। साधक को तो वास्तविक अमर व्यक्ति बनना होगा। उसे आंतरिक तौर पर निश्चल बनने में सफल होना होगा और बाह्य क्रियाशील व्यक्तित्व से अपने आप को निरीक्षक के रूप में पृथक् कर लेना होगा। उसे अपने अंदर वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा का अध्ययन करना होगा और इसके लिये उसे इसके पैंतरों तथा गतियों में आसक्त रहने की विमूढ़कारी अवस्थाओं से पीछे स्थित होना होगा। इस प्रकार निश्चल, शांत, अनासक्त, आत्म-अध्ययनार्थी तथा अपनी प्रकृति का द्रष्टा बनकर वह अनुभव करता है कि वह व्यष्टि-रूप आत्मा है जो विश्व-प्रकृति के कर्मों का निरीक्षण करती है, इसके परिणामों को शांत भाव से स्वीकार करती है तथा प्राकृतिक-कर्मसंबंधी आवेग को अनुमति देती या उससे अपनी अनुमति हटा लेती है। इस समय यह आत्मा या पुरुष एक संतुष्ट दर्शक से अधिक कुछ नहीं है, अपनी आवृत चेतना के दबाव से यह हमारी सत्ता की क्रिया और अभिवृद्धि पर शायद प्रभाव डालता है, किंतु अधिकांश में अपनी शक्तियां या इनका कुछ भाग बाह्य व्यक्तित्व को सौंप देता है,–वास्तव में यह इन्हें प्रकृति को ही सौंप देता है, क्योंकि यह बाह्य 'स्व' प्रकृति का ईश नहीं बल्कि उसके अधीन है, अनीश है। परंतु एक बार अनावृत होकर यह अपनी स्वीकृति या निषेध को कार्यकारी बना सकता है, अपने कर्म का स्वामी बन सकता है और प्रकृति के परिवर्तन का प्रभुत्वपूर्ण भाव में निर्धारण कर सकता है। चाहे प्रकृति की अभ्यस्त गति स्थिर संस्कार और पुराने शक्ति-संग्रह के परिणाम-स्वरूप, दीर्घकाल तक, पुरुष की स्वीकृति के बिना भी होती रहे और चाहे, पहले से अभ्यास न होने के कारण, प्रकृति किसी स्वीकृत गति का भी दृढ़तापूर्वक निषेध करती रहे, फिर भी उसे पता चलेगा कि अंत में उसी की स्वीकृति या अस्वीकृति की विजय होती है,–धीमे धीमे, बहुत प्रतिरोध के साथ अथवा शीघ्रतापूर्वक, अपने साधनों एवं प्रवृत्तियों को द्रुत गति से अनुकूल बनाते हुए,–प्रकृति अपने आप को और अपने व्यापारों को उसकी आंतर दृष्टि या संकल्प के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में परिवर्तित कर लेती है। इस प्रकार साधक मानसिक नियंत्रण या अहंमूलक इच्छाशक्ति के प्रयोग के स्थान पर आंतरिक आध्यात्मिक संयम सीख जाता है जो उसे उसके अंदर काम करनेवाली प्रकृति-शक्तियों का स्वामी बना देता है और तब वह उनका अचेतन यंत्र या जड़ दास नहीं रहता। उसके ऊपर तथा चारों ओर विराजमान है शक्ति अर्थात् जगज्जननी. और यदि उसे इसकी प्रणालियों का सत्य ज्ञान हो तथा इसमें निहित दिव्य इच्छाशक्ति के प्रति वह सच्चे भाव से समर्पण करे तो वह इससे वे सभी चीजें प्राप्त कर सकता है जिनकी आवश्यकता वा इच्छा उसकी अंतरतम आत्मा को होती है। अंत में, वह अपने तथा प्रकृति के भीतर उस सर्वोच्च क्रियाशील आत्मा से सज्ञान हो जाता है जो उसके सब 'देखने' तथा 'जानने' का स्रोत है, और साथ ही अनु-

मति, स्वीकृति तथा परित्याग का भी स्रोत है। यह है महेश्वर, परात्पर देव, सर्वगत एक, ईश्वर-शक्ति जिसका उसकी आत्मा एक अंश है अर्थात् उस परम सत्ता का सत्तांश तथा उस परम शक्ति का शक्त्यंश है। हमारी शेष प्रगति उन प्रणालियों के विषय में हमारे ज्ञान पर निर्भर करती है जिनके अनुसार कर्मों का स्वामी जगत् में तथा हममें अपनी इच्छा को प्रकट करता है और जिनके अनुसार वह परात्पर एवं विराट् शक्ति के द्वारा सभी कर्म संपन्न करता है।

ईश्वर अपनी सर्वज्ञता में वह चीज देखता है जो करनी होती है। यह 'देखना' (ईक्षण) ही उसका संकल्प है, यह सर्जनक्षम शक्ति का एक रूप है। जो कुछ वह देखता है उसे उसके साथ एकीभूत सर्व-सचेतन माता अपनी क्रियाशील आत्मा के अंदर ले लेती और मूर्तिमंत करती है और कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति उसे उनकी सर्वशक्तिमती सर्वज्ञता की स्वाभाविक क्रिया के रूप में चरितार्थ कर देती है। परंतु जो होना है और अतएव जो करना है उसके विषय में यह अंतर्दृष्टि ईश्वर की निज सत्ता में से ही उद्भूत होती है, सीधे उसकी चेतना से तथा उसकी सत्ता के आनंद से ही प्रवाहित होती है, सहज-स्फूर्त्त रूप में, जैसे सूर्य से प्रकाश निकलता है। यह अंतर्दृष्टि मानवीय 'देखने' का प्रयास नहीं है, न ही यह कर्म एवं उद्देश्य के सत्य का अथवा प्रकृति की यथार्थ मांग का कष्टसाध्य मानवीय ज्ञान है। जब हमारी व्यष्टिगत आत्मा अपनी सत्ता तथा ज्ञान में ईश्वर के साथ पूर्णतः एकीभूत हो जाती है तथा आद्या शक्ति या परात्परा माता से साक्षात् संबंध स्थापित कर लेती है, तब हममें भी परम इच्छाशक्ति उच्च एवं दिव्य प्रकार से उद्भूत हो सकती है,—एक ऐसी वस्तु के रूप में उद्भूत हो सकती है जो विश्वप्रकृति की सहज-स्फूर्त्त क्रिया से संपन्न होनी निश्चित है तथा संपन्न होती ही है। तब कोई कामना, कोई उत्तरदायित्व, कोई प्रति-क्रिया नहीं रहती; आश्रयदायी तथा सर्वतोव्यापी एवं अंतर्वासी भगवान् की शांति, निश्चलता, ज्योति एवं शक्ति में ही सब कुछ घटित होता है।

परंतु तादात्म्य की यह सर्वोच्च उपलब्धि साधित होने से पहले भी परम इच्छाशक्ति का कोई रूप हमारे अंदर एक अलंघ्य प्रेरणा एवं ईश्वर-प्रेरित क्रिया के रूप में प्रकट हो सकता है। तब हम एक स्वयंस्फूर्त आत्मनिर्धारक शक्ति के द्वारा कर्म करते हैं, पर प्रयोजन और उद्देश्य का पूर्णतर ज्ञान बाद में ही उत्पन्न होता है। अथवा कर्म का आवेग अंतःप्रेरणा या संबोधि के रूप में भी प्रकट हो सकता है, पर वह प्रकट होता है मन की अपेक्षा कहीं अधिक हृदय एवं शरीर में ही। यहां अमोघ दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है पर पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान अभी भी स्थगित रहता है और जब आता है तो देर में। परंतु भागवत इच्छाशक्ति करणीय कार्य के एक प्रकाशमान अनन्य आदेश अथवा समग्र बोध या एक अविच्छिन्न बोध-शृंखला के रूप में भी हमारे संकल्प या विचार के भीतर अवतरित हो सकती है अथवा वह ऊपर से एक ऐसे निर्देश के रूप में भी उतर सकती है जिसे निम्नतर अंग सहज भाव से क्रिया-न्वित करते हैं। जब योग अभी अपरिपक्व होता है, केवल कुछ एक कार्य ही इस ढंग से किये जा सकते हैं, अथवा केवल एक सामान्य क्रिया ही इस प्रकार प्रवृत्त हो सकती है और वह भी केवल उच्चता और ज्ञानदीप्ति की अवस्थाओं में ही। जब योग में पूर्णता प्राप्त होती है, कर्ममात्र इसी कोटि का हो जाता है। निःसंदेह, इस वृद्धिशील प्रगति को हम तीन अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं जिनके द्वारा सर्वप्रथम, हमारी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति

अपने से परतर परम इच्छाशक्ति या चिच्छक्ति के द्वारा यदा-कदा या बहुधा आलोकित वा प्रेरित होती है, बाद में यह उसे निरंतर अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करती जाती है और अंत में यह उस दिव्य बल-क्रिया के साथ एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जाती है। प्रथम अवस्था वह है जब हम अभी बुद्धि, हृदय तथा इन्द्रियों के द्वारा ही संचालित होते हैं; इन बुद्धि आदि को दिव्य स्फुरणा तथा पथप्रदर्शन की खोज अथवा प्रतीक्षा करनी होती है और उसे ये सदा ही उपलब्ध अथवा ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरी अवस्था वह है जब उच्च, प्रकाशित या अंतर्ज्ञानात्मक अध्यात्मभावित मन उत्तरोत्तर मानवीय बुद्धि का स्थान ग्रहण करता जाता है और आंतर चैत्य हृदय बाह्य मानवीय हृदय का तथा विशुद्ध एवं निःस्वार्थ प्राणिक बल इद्रियों का स्थान लेता जाता है। तीसरी अवस्था वह है जब हम अध्यात्मभावापन्न मन से भी ऊपर उठकर अतिमानसिक स्तरों पर पहुंच जाते हैं।

इन तीनों ही अवस्थाओं में मुक्त कर्म का मूल स्वरूप एक ही होता है,–यह प्रकृति का एक स्वतःस्फूर्त व्यापार होता है, किंतु अब यह पूर्ववत् अहं के द्वारा या उसके लिये नहीं प्रत्युत परम पुरुष की इच्छा के अनुसार तथा उसके भोग लिये संपन्न किया जाता है। और भी ऊंचे स्तर पर यह व्यापार निरपेक्ष तथा विश्वमय परब्रह्म का परम सत्य बन जाता है, जिसे अब और हमारी निम्नतर प्रकृति की स्खलनशील, अज्ञ और सर्वविकारक शक्ति अपने अपूर्ण बोध और अपनी हीन या विकृत कार्यान्विति के द्वारा चरितार्थ नहीं करती बल्कि सर्वज्ञ एवं परात्पर विश्वजननी ही व्यष्टि की आत्मा के द्वारा व्यक्त करती हैं और उसीकी प्रकृति के द्वारा सचेतन रूप में कार्यान्वित भी करती है। ईश्वर ने अपने आपको और अपनी परम प्रज्ञा एवं नित्य चेतना को अज्ञ प्रकृति-शक्ति में छुपा रखा है और इसे अनुमति देता है कि यह व्यक्ति को, उसकी सहायता के द्वारा, अहं के रूप में प्रचालित करे। अपने आशयों को अधिक श्रेष्ठ बनाने और अधिक शुद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य अर्द्ध-प्रबुद्ध एवं अपूर्ण ढंग से जो जो प्रयत्न करता है उन सबके रहते भी प्रकृति की यह निम्न-तर क्रिया प्रायः प्रधान बनी रहती है। हमारे अंदर प्रकृति के पिछले कार्यों की जो शक्ति संचित है, उसकी जो अतीत रचनाएं एवं चिररूढ़ संस्कार निहित हैं उनके कारण हमारा पूर्णता-प्राप्ति का मानवीय प्रयत्न विफल हो जाता है, अथवा यह बहुत ही अधूरे ढंग से आगे बढ़ता है। यह सफलता के सच्चे और गगनचुंबी शिखर पर केवल तभी आरोहण करता है जब हमारे ज्ञान या शक्ति से अधिक महान् ज्ञान या शक्ति हमारे अज्ञान का आवरण भेद डालती है और हमारी वैयक्तिक इच्छाशक्ति को परिचालित करती अथवा अपने हाथ में ले लेती है। कारण, हमारी मानवीय इच्छाशक्ति एक पथभ्रष्ट एवं भ्रांतिशील रश्मि है जो परम इच्छाशक्ति से विच्छिन्न हो गई है। निम्नतर क्रिया में से उच्चतर ज्योति तथा शुद्ध-तर शक्ति में शनैः शनैः उदित होने का काल पूर्णता के प्रयासी के लिये मृत्यु के अंधकार की उपत्यका होता है; यह परीक्षाओं, यातनाओं, दुःखों, अज्ञानावरणों, स्खलनों, भ्रांतियों, गर्त्तजालों से संकुल एक भीषण पथ होता है। इस अग्नि-परीक्षा को संक्षिप्त तथा हलका करने के लिये अथवा इसमें दिव्य आनंद का संचार करने के लिये अपेक्षित है–श्रद्धा, और मन का उस ज्ञान के प्रति वृद्धिशील समर्पण जो अपने को भीतर से हमपर अरोपित करता है तथा सबसे अधिक अपेक्षित है सच्ची अभीप्सा और यथार्थ, अविचल एवं निष्कपट अभ्यास। गीता कहती है, "निराशरहित हृदय के साथ, स्थिरचित्त होकर, योग का अभ्यास

करो";[1] क्योंकि पथ की प्रारंभिक अवस्था में हमें चाहे आंतरिक कलह एवं दुख के तीक्ष्ण गरल के बड़े लंबे घूंट पीने पड़ते हैं, तो भी इस प्याले का अंतिम स्वाद है—अमृतत्व की सुधा की मधुरिमा तथा नित्य आनंद की सोम-सुरा।

नवां अध्याय

समता की प्राप्ति और अहं का नाश

समग्र आत्म-निवेदन, पूर्ण समता, अहं का निर्मम उन्मूलन, प्रकृति का उसकी अज्ञानमय कार्यशैलियों से रूपांतरकारी उद्धार—ये सब सोपान हैं जिनसे भागवत इच्छाशक्ति के प्रति समस्त सत्ता एवं प्रकृति का समर्पण अर्थात् सच्चा, सर्वांगीण एवं अशेष आत्मदान निष्पन्न तथा सिद्ध किया जा सकता है। सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है अपने कर्मों में आत्म-निवेदन की पूर्ण भावना; इसे पहले पहल सारी सत्ता में व्याप्त एक सतत संकल्प का रूप धारण करना होगा, फिर इसे उसकी एक अंतरीय आवश्यकता बनना होगा, अन्त में इसे उसका एक स्वयं-प्रेरित पर सजीव एवं सचेतन अभ्यास तथा हममें, सभी प्राणियों में एवं विश्व के सभी व्यापारों में विद्यमान परमदेव एवं निगूढ़ शक्ति के प्रति यज्ञरूप में सब कर्म करने का एक सहज स्वभाव ही बन जाना होगा। जीवन इस यज्ञ की वेदी है, कर्म आहुति हैं, वे परात्पर और विश्वमय शक्ति एवं उपस्थिति, जिनका हमें अभी ज्ञान या साक्षात्कार तो प्राप्त नहीं हुआ है पर अनुभूति या झांकी मिली है, हमारे इष्टदेव हैं जिनके प्रति हमारे कर्म अर्पित होते हैं। इस यज्ञ या आत्मनिवेदन के दो पहलू हैं; एक तो स्वयं कर्म और दूसरा वह भाव जिससे उसे संपन्न किया जाता है अर्थात् जो कुछ भी हम देखते, सोचते और अनुभव करते हैं उस सबमें अपने कर्मों के स्वामी की पूजा का भाव।

अपने अज्ञान में हम जो अच्छे से अच्छा प्रकाश साधिकार प्राप्त कर सकते हैं उसी से प्रारंभ में हमारा कर्म भी निर्धारित होता है। उसी को हम करणीय कर्म समझते हैं। कर्म का मूलतत्त्व तो एक ही है, कर्म का रूप चाहे किसी भी हेतु से नियत क्यों न हो, चाहे वह हमारी कर्तव्य-विषयक भावना से नियत हो या अपने सजातीयों के प्रति हमारी सहानुभूति से, अथवा दूसरों के लिये या संसार के लिये क्या हितकर है इस विषय में हमारी धारणा से नियत हो किंवा एक ऐसे व्यक्ति के आदेश से जिसे हम मानव गुरु मानते हैं, जो हमसे अधिक ज्ञानी है तथा हमारे लिये कर्ममात्र के उस स्वामी का प्रतिनिधि है जिसमें हम आस्था तो रखते हैं पर जिसे हम अभी तक जानते नहीं। परंतु कर्म-यज्ञ का मूलतत्त्व हमारे कर्मों में अवश्य होना चाहिये और वह मूलतत्त्व है अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का समर्पण, कर्म के जिस परिणाम के लिये हम अब तक भी हाथ पांव मारते हैं उसके प्रति आसक्तिमात्र का परित्याग। कारण, जब तक हम फल में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं तब तक यज्ञ भगवान् के प्रति नहीं बल्कि हमारे अहं के प्रति ही अर्पित होता है। हम भले

[1] स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। गीता ६–२३

ही दूसरी तरह सोचें, पर हम अपने को धोखा दे रहे होते हैं; भगवान्विषयक अपने विचार की, कर्तव्यविषयक अपनी भावना की, अपने सजातीयों के प्रति सहानुभूति की, संसार के या दूसरों के हित के संबंध में अपनी धारणा की, गुरु के प्रति अपने आज्ञापालन तक की ओट में हम अपनी अहंकारमय तृप्तियों तथा अभिरुचियों को छिपाये होते हैं तथा अपनी प्रकृति में से कामनामात्र का उन्मूलन करने की हमसे जो मांग की जाती है उससे बचने के लिये इन सभी चीजों को दिखावटी ढाल के रूप में प्रयुक्त कर रहे होते हैं।

योग की इस अवस्था में और इसकी संपूर्ण प्रक्रिया में भी कामना का यह रूप एवं अहं का यह आकार एक ऐसा शत्रु होता है जिसके विरुद्ध हमें सदैव निर्निद्र जागरूकता के साथ सावधान रहना होगा। जब हम इसे अपने अंदर छुपे हुए और सब प्रकार के भेस धारण करते हुए पायें तो हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये बल्कि इसके सभी छद्मरूपों के पीछे इसे ढूंढ़ निकालने के लिये सजग रहना चाहिये और इसके प्रभाव को दूर करने के लिये निष्ठुर। इस गति का प्रकाशप्रद शब्द गीता की यह निर्णायक पंक्ति है, "कर्म करने में तेरा अधिकार है, परंतु उसके फल पर कभी किसी भी अवस्था में नहीं।"[1] फल तो केवल कर्ममात्र के स्वामी का ही है; हमारा इससे इतना ही मतलब है कि हम सच्चाई और सावधानी के साथ कर्म करके उसका फल तैयार करें और यदि यह प्राप्त हो जाय तो इसे इसके दिव्य स्वामी को सौंप दें।

जैसे हमने फल के प्रति आसक्ति का त्याग किया है वैसे ही हमें कर्म के प्रति आसक्ति भी त्यागनी होगी। एक काम, एक कार्यक्रम या एक कार्यक्षेत्र के स्थान पर दूसरे को ग्रहण करने अथवा, यदि प्रभु का स्पष्ट आदेश हो तो, सब कर्मों को छोड़ देने के लिये भी हमें प्रतिक्षण तैयार रहना होगा। अन्यथा हम कर्म प्रभु के लिये नहीं करते बल्कि कर्म से मिलनेवाली निजी संतुष्टि एवं प्रसन्नता के लिये अथवा राजसिक प्रकृति को कर्म की आवश्यकता होने के कारण या अपनी रुचियों की पूर्त्ति के लिये करते हैं; पर ये सब तो अहं के पड़ाव और अड्डे हैं। हमारे जीवन की साधारण चेष्टाओं के लिये ये कैसे भी आवश्यक क्यों न हों, फिर भी आध्यात्मिक चेतना की प्रगति में इनका त्याग करना होगा, इनके स्थान पर इनके दिव्य प्रतिरूपों की प्रतिष्ठा करनी होगी। आनन्द, अर्थात् निर्वैयक्तिक एवं ईश्वर-प्रेरित आनन्द अप्रकाशित प्राणिक सुख-संतोष को बहिष्कृत और भागवत शक्ति का आनन्दपूर्ण आवेग राजसिक आवश्यकता को पदच्युत कर देगा। अपनी रुचियों की पूर्त्ति करना हमारी कोई आवश्यकता या उद्देश्य नहीं रहेगा, इसके स्थान पर स्वतंत्र आत्मा और प्रकाशयुक्त प्रकृति के कर्म में एक स्वाभाविक क्रियाशील सत्य के द्वारा भगवत्संकल्प की परिपूर्त्ति करना ही हमारा उद्देश्य हो जायगा। अंत में, जैसे कर्मफल तथा कर्म के प्रति आसक्ति हृदय से बाहर निकाल दी गई है, वैसे ही अपने कर्त्ता होने के विचार तथा भाव के प्रति अंतिम दृढ़ आसक्ति भी छोड़नी होती है; भगवती शक्ति को अपने ऊपर तथा भीतर इस रूप में जानना एवं अनुभव करना होता है कि वही सच्ची तथा एकमात्र कर्त्री है।

★

कर्म तथा उसके फल के प्रति आसक्ति का परित्याग मन एवं अंतरात्मा में पूर्ण समता की

---

[1] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता २–४७

प्राप्ति के लिये एक विशाल गति का प्रारंभ है; यदि हमें आत्मा में पूर्णता प्राप्त करनी है तो इस समता को सर्वतोव्यापी बनना होगा। कारण, कर्मों के स्वामी की पूजा यह मांग करती है कि हम अपने में, सब वस्तुओं तथा सभी घटनाओं में उनके स्वामी को स्पष्ट रूप से पहचानें तथा हर्षपूर्वक स्वीकार करें। समता इस पूजा का प्रतीक है; यह आत्मा की वेदी है जिसपर सच्चा यजन-पूजन किया जा सकता है। ईश्वर सर्वभूतों में समान रूप से विराजमान है, अपने आप और दूसरों में, ज्ञानी और अज्ञानी में, मित्र और शत्रु में, मनुष्य और पशु में, पापी और पुण्यात्मा में हमें किसी प्रकार का भी तात्त्विक भेद नहीं करना चाहिये। हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिये, किसी को नीच नहीं समझना चाहिये, किसी से जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सभी में हमें उस एकमेव के दर्शन करने हैं जो स्वेच्छापूर्वक प्रकट या प्रच्छन्न है। ईश्वर पदार्थों तथा व्यक्तियों में जो भी आकार धारण करना चाहता है तथा उनकी प्रकृति में जो भी कर्म करना चाहता है उसके लिये जो कुछ सर्वोत्तम है उसके ज्ञान के अनुसार और साथ ही अपनी इच्छा के अनुसार वह किसी एक में कम प्रकट है या किसी दूसरे में अधिक, अथवा कुछ दूसरों में गुप्त तथा पूर्णतः विकृत है। सब कुछ हमारी आत्मा ही है, वही एक आत्मा जिसने अनेक रूप धारण कर रखे हैं। घृणा-द्वेष और अवज्ञा-वितृष्णा, मोह-आसक्ति और राग-अनुराग किसी विशेष अवस्था में स्वाभाविक, आवश्यक एवं अनिवार्य होते हैं; ये हमारे अंदर प्रकृति के चुनाव का साथ देते हैं अथवा उसके करने और बनाये रखने में सहायक होते हैं। परंतु कर्मयोगी के लिये तो ये एक पुरानी वस्तु के अवशेष होते हैं, मार्ग के विघ्न और अज्ञान की प्रक्रिया होते हैं और जैसे जैसे वह प्रगति करता है, ये उसकी प्रकृति से झड़कर अलग हो जाते हैं। शिशु-आत्मा को अपने विकास के लिये इनकी आवश्यकता होती है; परंतु दिव्य विकास में एक प्रौढ़ आत्मा से ये पृथक् हो जाते हैं। दैवी प्रकृति में, जिसकी ओर हमें आरोहण करना है, एक वज्रोपम यहां तक कि विनाशक कठोरता हो सकती है, परंतु घृणा नहीं; दिव्य व्यंग्य हो सकता है किंतु तिरस्कार नहीं; शांत, स्पष्ट-दर्शी और प्रबल निराकरण हो सकता है पर घृणा और जुगुप्सा नहीं। जिस वस्तु का हमें विनाश करना है उससे भी घृणा नहीं करनी होगी और यह मानना ही होगा कि वह भी उस सनातन की ही एक प्रच्छन्न एवं अस्थायी गति है।

और क्योंकि सब वस्तुएं अभिव्यक्तिगत आत्मा ही हैं, अतः हमें कुरूप तथा सुंदर, पंगु तथा पूर्ण, सभ्य तथा असभ्य, रुचिकर तथा अरुचिकर, शुभ तथा अशुभ के प्रति आत्मिक समता धारण करनी होगी। यहां भी घृणा, अवज्ञा एवं जुगुप्सा नाममात्र नहीं होगी वरंच इनके स्थान पर होगी वह सम दृष्टि जो सब वस्तुओं को उनके सत्य स्वरूप तथा नियत स्थान में देखती है। कारण, हमें जानना चाहिये कि सभी वस्तुएं यथासंभव उत्तम रीति से या किसी अपरिहार्य त्रुटि के साथ, अपने लिये अभिमत परिस्थितियों में, अपनी प्रकृति की तात्कालिक अवस्था या इसके व्यापार या विकास के लिये संभवनीय ढंग से, भगवान् के किसी ऐसे सत्य या तथ्य अथवा उसकी शक्ति या शक्यता को ही प्रकाशित या आच्छादित और विकसित या विकृत करती हैं जो वर्द्धनशील अभिव्यक्ति में अपनी उपस्थिति के द्वारा वस्तुओं की वर्तमान संपूर्ण समष्टि के हित और अंतिम परिणाम की पूर्णता के लिये आवश्यक होती है। उसी सत्य की हमें क्षणिक अभिव्यक्ति के पीछे खोज एवं उपलब्धि करनी होगी। तब हम प्रतीतियों से और अभिव्यक्ति की त्रुटियों या विकृतियों से अवरुद्ध न होकर उस भगवान् की पूजा कर

सकेंगे जो अपने आवरणों के पीछे सदा निष्कलुष, शुद्ध, सुन्दर और परिपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि-सभी कुछ बदल डालना है, कुरूपता का नहीं बल्कि दिव्य सुन्दरता का वरण करना है, अपूर्णता को अपना विश्रामस्थल नहीं मानना है वरन् पूर्णता के लिये प्रयास करना है, अशिव को नहीं बल्कि परम शिव को अपना सार्वभौम लक्ष्य बनाना है। परंतु हम जो कुछ भी करें उसे आध्यात्मिक समझ तथा ज्ञान के साथ करना होगा; हमें केवल दिव्य शुभ, सौंदर्य, पूर्णत्व एवं हर्ष की प्राप्ति के लिये ही चेष्टा करनी होगी, इनके मानवीय मानों की प्राप्ति के लिये नहीं। यदि हममें समता नहीं है, तो यह इस बात का चिह्न है कि अविद्या अभी तक हमारे पीछे लगी है; तब हम वास्तव में कुछ भी नहीं समझ पावेंगे और यह संभव ही नहीं वरन् निश्चित सा है कि हम जो पुरानी अपूर्णता का नाश करेंगे वह केवल दूसरी को जन्म देने के लिये ही करेंगे; क्योंकि हम अपने मानव मन तथा कामनामय पुरुष की चीजों को दिव्य वस्तुओं की स्थानापन्न बना रहे हैं।

समता का अर्थ कोई नया अज्ञान अथवा अंधता नहीं है; यह हमसे दृष्टि के धुंधलेपन की तथा समस्त विविधता के अंत की मांग नहीं करती और न इसे ऐसा करने की आवश्यकता ही है। भेद का अस्तित्व है ही, अभिव्यक्ति की विविधता भी विद्यमान है और इस विविधता को हम खूब अच्छी तरह समझेंगे,—पहले जब हमारी दृष्टि पक्षपातपूर्ण तथा भ्रांतिशील प्रेम और घृणा से, स्तुति और निंदा से, सहानुभूति और वैर-विरोध से तथा राग और द्वेष से तिमिराच्छन्न थी तब हम इसे जितना समझ पाते थे उसकी अपेक्षा अब बहुत अधिक ठीक रूप में समझ पायंगे। परंतु इस विविधता के मूल में हम सदा उस परिपूर्ण तथा निर्विकार ब्रह्म को ही देखेंगे जो इसके अंदर विराजमान है और किसी भी विशिष्ट अभिव्यक्ति के—चाहे वह हमारे मानवीय मानदंडों को सुडौल एवं पूर्ण प्रतीत होती हो या बेडौल एवं अपूर्ण और चाहे वह मिथ्या एवं अशुभ ही क्यों न प्रतीत होती हो—ज्ञानपूर्ण प्रयोजन किंवा दिव्य आवश्यकता को हम अनुभव करेंगे और जानेंगे अथवा यदि यह हमसे छिपी हुई हो तो कम से कम इसमें विश्वास अवश्य करेंगे।

इसी प्रकार हम दुखदायी वा सुखदायी सभी घटनाओं के प्रति, जय और पराजय, मान और अपमान, यश और अपयश तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य के प्रति मन तथा आत्मा की ऐसी ही समता धारण करेंगे। कारण, सभी घटनाओं में हम अखिल कर्मों तथा फलों के स्वामी की इच्छा के दर्शन करेंगे तथा उन्हें भगवान् की विकासशील अभिव्यक्ति के सोपान अनुभव करेंगे। देखनेवाली अंदर की आंख जिनकी खुली हुई है उनके समक्ष भगवान् अपने आपको शक्तियों तथा उनकी क्रीड़ा एवं परिणामों में और पदार्थों एवं प्राणियों में प्रकट करता है। सब वस्तुएं एक दिव्य परिणति की ओर बढ़ रही हैं; हर्ष तथा संतोष की भांति प्रत्येक अनुभव, दुःख एवं अभाव भी वैश्व गति को, जिसे समझना तथा संपुष्ट करना हमारा कर्तव्य है, पूरा करने में एक आवश्यक कड़ी होता है। विद्रोह, निंदा या चीख-पुकार हमारी अपरिष्कृत एवं अज्ञानयुक्त अंध-प्रवृत्तियों का आवेग होती है। अन्य प्रत्येक वस्तु की तरह विद्राह के भी लीला में अनेक उपयोग हैं, यहां तक कि वह दिव्य विकास के यथासमय और यथास्थिति संपन्न होने के लिये आवश्यक, सहायक तथा विहित है; किंतु अज्ञानमय विद्रोह की चेष्टा आत्मा की बाल्यावस्था या उसके अप्रौढ़ यौवन से संबंध रखती है। परिपक्व आत्मा दोषारोपण नहीं करती बल्कि समझने तथा अधिकृत करने का यत्न करती है, चीख-पुकार

नहीं मचाती बल्कि स्वीकार कर लेती है या सुधरने तथा पूर्ण बनने का प्रयास करती है, अंदर से विद्रोह नहीं करती वरन् आज्ञापालन करने और चरितार्थ तथा रूपांतरित करने की कोशिश करती है। सुतरां, हम स्वामी के हाथों से सभी वस्तुओं को सम आत्मा के साथ ग्रहण करेंगे। जब तक दिव्य विजय का मूहूर्त्त नहीं आ जाता तब तक हम असफलता को भी एक प्रसंग के रूप में उसी प्रकार शांतिपूर्वक स्वीकार करेंगे जिस प्रकार सफलता को। दारुण-तम पीड़ा और दुःख-कष्ट से भी, यदि विधि के विधान में वे हमें प्राप्त हों, हमारी आत्माएं, मन और तन चलायमान नहीं होंगे, और न ये तीव्र से तीव्र हर्ष एवं सुख से ही अभिभूत होंगे। इस प्रकार अत्यंत संतुलित होकर, सभी वस्तुओं के साथ सम शांति से संपर्क में आते हुए हम स्थिरतापूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ते जायंगे जब तक कि हम एक अधिक ऊंची अवस्था के लिये तैयार नहीं हो जाते और परम एवं विराट् आनंद में प्रवेश नहीं कर पाते।

*

यह समता सुदीर्घ अग्निपरीक्षा तथा धीर आत्म-साधना के बिना अधिगत नहीं हो सकती। जब तक कामना प्रबल होती है तब तक निस्तब्धता की तथा कामना की थकावट की घड़ियों को छोड़कर समता किंचित् भी प्राप्त नहीं हो सकती, और तब यह, संभवतः, सच्ची शांति तथा तात्त्विक आध्यात्मिक एकता होने की अपेक्षा कहीं अधिक निष्क्रिय उदासीनता, या कामना की ठिठक ही होगी। इसके अतिरिक्त, इस साधना के या आत्मिक समता के इस विकास के कुछ एक आवश्यक काल एवं क्रम होते हैं। साधारणतया हमें सहिष्णुता की अवस्था से प्रारंभ करना होता है; क्योंकि हमें सब स्पर्शों का सामना करना, उन्हें झेलना तथा आत्म-सात् करना सीखना है। अपनी नस-नस को हमें यह सिखाना होगा कि जो चीज दुःख देती तथा घृणा पैदा करती है उससे यह झिझके नहीं और जो वस्तु प्रिय लगती तथा आकृष्ट करती है उसकी ओर उत्सुकतापूर्वक लपके नहीं, वरंच प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करे, उसका सामना करे, उसे सहन करे तथा वश में करे। सभी स्पर्शों को सहने के लिये हमें सशक्त होना चाहिये, केवल उन्हीं को नहीं जो हमारे लिये विशिष्ट और वैयक्तिक हों वरन् उन्हें भी जो हमारे चारों ओर के तथा ऊपर या नीचे के लोकों एवं उनके निवासियों के साथ हमारी सहानुभूति या संघर्ष से हमें प्राप्त हों। अपने ऊपर होनेवाली मनुष्यों, पदार्थों और शक्तियों की क्रिया को तथा अपने साथ उनके संघर्षण को, देवताओं के दबाव और असुरों के आक्रमणों को हम शांत भाव से सहन करेंगे। अपनी आत्मा की अक्षुब्ध गहराइयों में हम उस सबका सामना करेंगे और उसे अपने अंदर पूर्ण रूप से निमज्जित कर लेंगे जो कुछ कि आत्मा के अनन्त अनुभव के रास्ते हमारे सामने संभवतः आ सकता है। यह समता की तैयारी का तितिक्षामय काल है, यद्यपि यह इसकी एक सर्वथा प्रारंभिक अवस्था है तथापि यह वीरता-पूर्ण काल है। परंतु शरीर और हृदय एवं मन की इस दृढ़ सहिष्णुता को भागवत इच्छा-शक्ति के प्रति आध्यात्मिक अधीनता के सुपुष्ट भाव का सहारा देना होगा; इस जीते-जागते पुतले को, अपनी पूर्णता को गढ़नेवाले भागवत हस्त के स्पर्श के प्रति, दुःख में भी, नत होना होगा—कठोर वा साहसपूर्ण सहमतिपूर्वक ही नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक अथवा उत्सर्ग के भाव में। ईश्वरप्रेमी की ज्ञानपूर्ण, भक्तिपूर्ण अथवा यहां तक कि करुणापूर्ण तितिक्षा भी संभवनीय है और इस प्रकार की तितिक्षा उस निरी बर्बर और स्व-निर्भर सहिष्णुता से अधिक अच्छी होती है जो ईश्वर के इस आधार को अत्यंत कठोर बना सकती है; क्योंकि इस प्रकार की

तितिक्षा एक ऐसी शक्ति तैयार करती है जो ज्ञान और प्रेम को धारण कर सकती है; इसकी स्थिरता एक ऐसी गभीरतः प्रेरित शांति होती है जो सहज ही आनन्द में परिणत हो जाती है। उत्सर्ग और तितिक्षा के इस काल का लाभ यह होता है कि हमें समस्त आघातों और संपर्कों का सामना करनेवाला आत्मबल प्राप्त हो जाता है।

इसके बाद उस उच्चासीन तटस्थता एवं उदासीनता का काल आता है जिसमें आत्मा हर्ष और विषाद से मुक्त हो जाती है और सुख की लालसा के पाश से तथा दुःख-दर्द के शूलों के अंधेरे बंधन से छूट जाती है। सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों पर, अपने और दूसरों के सभी विचारों, भावों, संवेदनों और कार्यों पर आत्मा ऊपर से अपनी दृष्टि डालती है, पर वह स्वयं अस्पृष्ट एवं निर्विकार रहती है और इन चीजों से चलायमान नहीं होती। यह समता की तैयारी का चिंतनात्मक काल है, एक विशाल तथा अतिमहान् गति है। परंतु इस उदासीनता को कर्म तथा अनुभव से निष्क्रिय पराङ्मुखता के रूप में स्थायी नहीं हो जाना चाहिये; यह व्याकुलता, विरक्ति तथा अरुचि से उत्पन्न घृणा-रूप नहीं होनी चाहिये, न ही यह निराश या असंतुष्ट कामना की ठिठक या उस पराजित एवं असंतुष्ट अहं की उद्विग्नता होनी चाहिये जो अपने रागयुक्त लक्ष्यों से बलात् पीछे हटा दिया गया है। पीछे हटने की ये चेष्टाएं अपक्व आत्मा में अवश्यमेव प्रकट होती हैं और आतुर एवं कामना-प्रचालित प्राणिक प्रकृति को निरुत्साहित करके ये एक प्रकार से प्रगति में सहायक भी हो सकती हैं, किंतु ये वह पूर्णता नहीं हैं जिसके लिये हम पुरुषार्थ कर रहे हैं। जिस उदासीनता या तटस्थता की प्राप्ति के लिये हमें प्रयत्न करना होगा वह है वस्तुओं के स्पर्शों से परे ऊर्ध्व-अवस्थित[1] आत्मा की प्रशांत उच्चता; यह उन स्पर्शों को देखती तथा स्वीकार या अस्वीकार करती है पर अस्वीकृति की अवस्था में चलायमान नहीं होती और स्वीकृति से वशीकृत नहीं हो जाती। यह अपने आपको उस प्रशांत आत्मा किंवा आत्म-तत्त्व के निकट और उससे सम्बद्ध तथा एकमय अनुभव करने लगती है जो स्वयंभू है और प्रकृति के व्यापारों से पृथक् है, पर जो विश्व की गति-चेष्टा से अतीत, शांत एवं अचल सद्वस्तु का एक अंश रहकर या उसमें निमज्जित होकर उन व्यापारों को आश्रय देता तथा संभव बनाता है। उच्च अतिक्रमण के इस काल के फलस्वरूप एक ऐसी आत्मिक शांति प्राप्त होती है जो जागतिक गति की मृदुल हिलोरों अथवा तूफानी तरंगों और लहरों से आन्दोलित और उद्वेलित नहीं होती।

यदि हम आंतर परिवर्तन की इन दो अवस्थाओं में से किसी में भी बद्ध या अवरुद्ध हुए बिना इन्हें पार कर सकें, तो हम उस महत्तर दिव्य समता में प्रवेश पा लेंगे जो आध्यात्मिक उत्साह तथा शांत हर्षावेश को धारण करने में समर्थ है और जो पूर्णताप्राप्त आत्मा की एक आनन्दमयी, सब कुछ समझने तथा सब कुछ अधिकृत करनेवाली समता है,—उसकी सत्ता की एक ऐसी प्रगाढ़ तथा सम विशालता एवं परिपूर्णता है जो सब वस्तुओं का आलिंगन करती है। यह सर्वोच्च अवस्था है और इसे प्राप्त करने का पथ भगवान् तथा विश्वजननी के प्रति पूर्ण आत्मदान के हर्ष में से होकर जाता है। कारण, शक्ति तब एक आनंदपूर्ण प्रभुत्व से सुशोभित होती है, शांति सघन होकर आनन्द में परिणत हो जाती है, तब दिव्य स्थिरता

[1]या उदासीन।

की संपद् को उन्नीत करके दिव्य गति की संपद् का आधार बना दिया जाता है। परंतु यदि यह महत्तर पूर्णता प्राप्त होनी है तो आत्मा की उस तटस्थ उदासीनता को, जो पदार्थों, व्यक्तियों, गतियों और शक्तियों के प्रवाह पर ऊपर से दृक्पात करती है, परिवर्त्तित होना होगा और दृढ़ तथा शांत नमन और सबल एवं गंभीर समर्पण के एक नये भाव में परिणत हो जाना होगा। यह नमन तब 'हरि इच्छा' का नहीं बल्कि सहर्ष स्वीकृति का भाव होगा; क्योंकि तब दुःख झेलने अथवा भार या कष्ट सहने का भाव तनिक भी नहीं होगा; प्रेम और आनंद तथा आत्मदान का हर्ष ही इसका उज्ज्वल ताना-बाना होगा। यह समर्पण केवल उस दिव्य संकल्प के प्रति ही नहीं होगा जिसे हम अनुभव और स्वीकार एवं शिरोधार्य करते हैं वरन् इस संकल्प में निहित उस दिव्य प्रज्ञा के प्रति भी होगा जिसे हम अंगीकार करते हैं और इसके अन्तर्निहित उस दिव्य प्रेम के प्रति भी जिसे हम अनुभव करते और सोल्लास अनुमति प्रदान करते हैं,—यह उस आत्मा किंवा आत्मसत्ता की प्रज्ञा एवं प्रेम के प्रति होगा जो हमारी और सबकी परम आत्मा एवं आत्मसत्ता है और जिसके साथ हम मंगलमय एवं परिपूर्ण एकत्व उपलब्ध कर सकते हैं। एकाकिनी शक्ति, शांति एवं स्थिरता ज्ञानी की चिंतनात्मक समता का अंतिम मन्त्र है; परंतु आत्मा अपने सर्वांग अनुभव में अपने आपको इस स्वरचित स्थिति से मुक्त कर लेती है और सनातन के अनादि और अनंत आनन्द के परम सर्वसमालिंगी उल्लास के सागर में अवगाहन करती है। इस प्रकार, अंत में हम सब स्पर्शों को आनंदपूर्ण समता से ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उनमें हम उस अक्षय प्रेम तथा आनन्द का संस्पर्श अनुभव करते हैं जो वस्तुओं के अन्तस्तल में सदा-सर्वदा विद्यमान है। विराट् एवं सम हर्षावेश के इस शिखर पर पहुंचने का परम फल यह होता है कि अध्यात्मसुख तथा असीम आनंद के प्रथम द्वार खुल जाते हैं और मनोबुद्धयगोचर दिव्य हर्ष उपलब्ध हो जाता है।

★

इससे पूर्व कि कामना के नाश तथा आत्मिक समता की प्राप्ति का यह प्रयत्न अपनी चरम पराकाष्ठा एवं सफलता को प्राप्त हो, आध्यात्मिक क्रिया के उस क्रम को पूर्ण कर लेना आवश्यक है जो अहंभाव को जड़ से नष्ट कर डालता है। किंतु कर्मी के लिए कर्म के अहंकार का त्याग इस परिवर्तन का एक परमावश्यक अंग है। कारण, यद्यपि हमने फलों तथा फलों की कामना का यज्ञ के अधीश्वर के प्रति उत्सर्ग करके राजसिक इच्छा के अहंभाव से नाता तोड़ लिया है फिर भी कर्तृत्व का अहंकार हमने शायद अभी तक बचा रखा है। अभी भी हम इस भाव के वशीभूत हैं कि स्वयं हमीं कर्म के कर्त्ता हैं, हमीं इसके उद्गम और हमीं अनुमतिदाता हैं। अभी भी हमारी "मैं" ही चुनती और निर्णय करती है, हमारी "मैं" ही उत्तरदायित्व लेती और निंदा-प्रशंसा अनुभव करती है। इस विभाजक अहंबुद्धि का नितांत उच्छेद हमारे योग का प्रधान लक्ष्य है। यदि किसी प्रकार के अहं को कुछ समय के लिए हमारे अंदर बचा ही रहना है तो वह इसका एक रूपमात्र है जो अपने को रूप ही समझता है और हमारे अंदर चेतना के सच्चे केंद्र की अभिव्यक्ति या स्थापना होने के साथ ही नष्ट हो जाने के लिये उद्यत रहता है। वह सच्चा केंद्र एकमेवाद्वितीय चेतना का ज्योतिर्मय रूपायण तथा 'एकं सत्' का शुद्ध वाहन एवं यंत्र होता है। वैश्व शक्ति की वैयक्तिक अभिव्यक्ति एवं क्रिया का आधार होता हुआ वह क्रमशः अपने पीछे हमारे सच्चे अंतःपुरुष एवं केंद्रीय नित्य

पुरुष को अर्थात् 'परम' की एक शाश्वत सत्ता, और परात्पर शक्ति की एक अंशभूत शक्ति को प्रकाशित करता है।[1]

यहां, इस गति में भी, जिसके द्वारा आत्मा अहं के प्रच्छन्न आवरण शनैः शनैः उतार फेंकती है, सुस्पष्ट क्रमों में से गुजरते हुए उन्नति होती है। कारण, केवल कर्मों के फल पर ही ईश्वर का अधिकार हो ऐसी बात नहीं, अपितु हमारे कर्म भी निश्चित रूप से उसी के हैं; जैसे वह हमारे फलों का स्वामी है वैसे ही वह हमारे कर्म का भी सच्चा स्वामी है। इस बात को केवल चिन्तनात्मक मन से समझ लेना ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह हमारी समस्त चेतना तथा इच्छाशक्ति के प्रति पूर्णतः सत्य बन जानी चाहिये। साधक को यह केवल सोचना और जान लेना ही काफी नहीं है बल्कि उसे कार्य करते समय, इसके आरंभ में और इसकी संपूर्ण प्रक्रिया में, प्रत्यक्ष रूप से तथा गहराई के साथ यह देखना और अनुभव भी करना होगा कि उसके कर्म उसके अपने बिलकुल नहीं हैं वरन् वे उसके द्वारा परम सत्ता से प्रवाहित हो रहे हैं। उसको उस शक्ति, उपस्थिति एवं संकल्पशक्ति से सदा सचेतन रहना होगा जो उसकी व्यक्तिगत प्रकृति के द्वारा कार्य करती है। परंतु ऐसी वृत्ति धारण करने में भय यह है कि वह अपनी प्रच्छन्न या उदात्तीकृत "मैं" या किसी निम्नतर शक्ति को भ्रांतिवश ईश्वर समझकर इसकी मांगों को सर्वोच्च आदेशों का स्थान दे देगा। वह इस निम्नतर प्रकृति के सामान्य दांव में फंस जायगा और उच्चतर शक्ति के प्रति अपने कल्पित समर्पण को अपनी स्वेच्छा और यहां तक कि अपनी कामनाओं एवं आवेशों की परिवर्द्धित एवं असंयत तृप्ति का बहाना बना लेगा। अतः एक महान् सद्हृदयता की आवश्यकता है और इसे केवल अपने सचेतन मन में ही स्थापित करना काफी नहीं है बल्कि इससे कहीं अधिक अपने उस प्रच्छन्न भाग में भी स्थापित करना आवश्यक है जो गुप्त चेष्टाओं से भरा पड़ा है। कारण वहां, विशेषकर हमारी प्रच्छन्न प्राणिक प्रकृति में, एक ऐसा मायावी और बहुरूपिया उपस्थित है जिसका सुधार करना अत्यंत दुष्कर है। सुतरां, कामना के उन्मूलन में तथा सभी त्रियाओं एवं सभी घटनाओं के प्रति दृढ़ आत्मिक समता में बहुत अधिक उन्नति कर लेने के बाद ही साधक अपने कर्मों का भार पूर्ण रूप से भगवान् को सौंप सकता है। उसे प्रतिक्षण अहंकार के छलों तथा अंधकार की उन भ्रामक शक्तियों के दांवों पर सजग दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना होगा जो सदा ही अपने को प्रकाश तथा सत्य के अनन्य स्रोत के रूप में प्रदर्शित करती हैं और जिज्ञासु की आत्मा को बंदी बनाने के लिये दिव्य रूपों का स्वांग रचती हैं।

इसके पश्चात् उसे तुरंत ही अपने को साक्षी की स्थिति के प्रति अर्पित करने का अगला कदम उठाना होगा। प्रकृति से पृथक्, निर्वैयक्तिक तथा वीतराग होकर, उसे अपने भीतर काम करती हुई कर्त्री प्रकृति-शक्ति का निरीक्षण करना तथा उसकी क्रिया को समझना होगा। इस पार्थक्य के द्वारा उसे प्रकृति की वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा को पहचानना सीखना होगा, उषा और निशा एवं दिव्यता और अदिव्यता के प्रकृतिकृत सम्मिश्रण को अलग अलग करके देखना और प्रकृति की उन भीषण शक्तियों एवं सत्ताओं को जानना होगा जो अज्ञानी मानव प्राणी का अपने कार्य के लिये उपयोग करती हैं। गीता कहती है कि विश्वशक्ति

---

[1] अंशः सनातनः; परा प्रकृतिर्जीवभूता। गीता १५–७; ७–५

(Nature) हमारे अंदर प्रकृति के त्रिविध गुण—प्रकाश तथा सत् के गुण, आवेश एवं कामना के गुण और अंधता तथा जड़ता के गुण—के द्वारा कार्य करती है। जिज्ञासु को अपनी प्रकृति के इस राज्य में होनेवाली सब कार्रवाई के तटस्थ तथा विवेचक साक्षी के रूप में इन गुणों की पृथक् तथा सम्मिलित क्रिया में भेद करना सीखना होगा। वैश्व शक्तियों की सूक्ष्म अगोचर प्रणालियों तथा छद्मवेशों के समस्त गोरखधंधे में उसे अपने अंदर इनकी क्रियाओं का अनुसंधान करना होगा और इस गड़बड़झाले की प्रत्येक पेचीदगी को समझना होगा। ज्यों ज्यों वह इस ज्ञान में अग्रसर होगा त्यों त्यों वह अनुमन्ता बनने में समर्थ होता जायगा और आगे को प्रकृति का मूढ़ यंत्र नहीं रहेगा। सर्वप्रथम उसे प्रकृति-शक्ति को इस बात के लिये प्रेरित करना होगा कि यह उसके करणों पर अपनी क्रिया करते हुए अपने दो निम्नतर गुणों के व्यापार को अभिभूत करे और उन्हें प्रकाश एवं सत् के गुण के वशीभूत कर दे और, तदनन्तर, उसे इस सत्वगुण को भी इसके लिये प्रेरित करना होगा कि यह भी अपने को अर्पित करे ताकि एक उच्चतर दिव्य शक्ति तीनों को ही इनके दिव्य प्रतिफलों में, परम विश्रान्ति और शम, दिव्य ज्ञानदीप्ति और आनंद तथा नित्य दिव्य बल-क्रिया वा तपस् में रूपांतरित कर सके। इस साधना तथा परिवर्तन का प्रथम भाग हमारी मानसिक सत्ता की संकल्प-शक्ति के द्वारा सिद्धांत-रूप में दृढ़तापूर्वक संपन्न हो सकता है; परंतु इसकी पूर्ण सिद्धि तथा परिणामभूत रूपांतर तो तभी संपन्न हो सकते हैं जब गभीरतर अन्तरात्मा प्रकृति पर अपने प्रभुत्व को अधिक दृढ़ करके प्रकृति के शासक के रूप में मनोमय पुरुष का स्थान ग्रहण कर ले। ऐसा हो जाने पर जिज्ञासु केवल अभीप्सा तथा भावना एवं प्रारंभिक तथा वृद्धिशील आत्मोत्सर्ग के साथ ही नहीं अपितु अत्यंत सबल रूप में यथार्थ एवं सक्रिय आत्मदान के साथ अपने कर्मों का परम इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण करने के लिये तैयार हो जायगा। उसके अपूर्ण मानव-बुद्धिवाले मन के स्थान पर क्रमशः एक आध्यात्मिक और ज्ञानदीप्त मन प्रतिष्ठित होता जायगा और यह भी अंत में अतिमानसिक सत्य-ज्योति में प्रवेश कर सकेगा। तब वह अस्तव्यस्त एवं अपूर्ण क्रिया करनेवाले तीन गुणों से संपन्न अपनी अज्ञानमय प्रकृति के द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शांति, ज्योति, शक्ति एवं आनंद की दिव्यतर प्रकृति के द्वारा कर्म करेगा। वह अपने कर्म और भी अज्ञतर भावुक हृदय की प्रेरणा, प्राण-सत्ता की कामना, शरीर के आवेग एवं अन्धप्रवृत्ति तथा अज्ञ मन एवं संकल्प के पारस्परिक मिश्रण के द्वारा नहीं करेगा बल्कि पहले तो आध्यात्मीकृत सत्ता एवं प्रकृति के द्वारा और अंत में अतिमानसिक सत्य-चेतना तथा उसकी परा प्रकृति की दिव्य शक्ति के द्वारा करेगा।

इस प्रकार वे अंतिम पग उठाये जा सकते हैं जिनसे प्रकृति का पर्दा हट सकता है और जिज्ञासु समस्त सत्ता के स्वामी का साक्षात्कार कर सकता है और उसके सभी कर्म उस परम शक्ति के कर्म में निमज्जित हो सकते हैं जो सदा शुद्ध, सत्य, पूर्ण और आनन्दमय है। इस प्रकार वह अपने कर्मों और कर्मफलों को अतिमानसिक शक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित करके केवल उस सनातन कर्त्ता के एक सचेतन यंत्र के रूप में कार्य कर सकता है। तब वह अनुमति नहीं देगा वरन् भगवान् के आदेश को अपने करणों में ग्रहण करके और अतिमानसिक शक्ति के हाथों का यंत्र बनकर उस आदेश का अनुसरण करेगा। तब वह कर्म नहीं करेगा, बल्कि अतिमानस की निर्निद्र शक्ति को अपने द्वारा कार्य करने देगा। तब वह यह नहीं चाहेगा कि उसकी मानसिक कल्पनाएं चरितार्थ हों तथा उसकी भाविक कामनाएं पूरी

हों बल्कि वह उस सर्वशक्तिमान् संकल्प का अनुसरण करेगा और उसमें सहयोग देगा जो सर्ववित् ज्ञान है तथा गुह्य, चमत्कारक एवं अगाध प्रेम है और है सत्ता के नित्य आनंद का विशाल अतल सागर।

दसवां अध्याय

प्रकृति के तीन गुण

यदि आत्मा को अपनी सत्ता और कर्मों में स्वतंत्र होना है तो अपरा प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया का अतिक्रम करना उसके लिये अनिवार्य है। इस तथ्यात्मक वैश्व प्रकृति के प्रति सुसमंजस अधीनता किंवा प्रकृति के करणों की शुभ और अविकल कर्म की अवस्था आत्मा के लिये आदर्श नहीं है, उसके लिये तो अधिक अच्छा यह है कि वह ईश्वर तथा उसकी शक्ति के अधीन रहे पर अपनी प्रकृति की स्वामिनी बने। परम इच्छाशक्ति के माध्यम या वाहन के रूप में उसे अपनी अंतर्दृष्टि और स्वीकृति या अस्वीकृति के द्वारा यह निर्णय करना होगा कि प्रकृति ने मन-प्राण-शरीररूपी प्राकृतिक करणों की चेष्टा के लिये जो शक्ति-भंडार, पारिपार्श्विक अवस्थाएं तथा सम्मिलित गति के लयताल प्रदान किये हैं उनका क्या प्रयोग किया जायगा। परंतु इस निम्नतर प्रकृति पर प्रभुत्व केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है यदि इसे पार करके इसका प्रयोग ऊपर से किया जाय। ऐसा तभी किया जा सकता है यदि हम इसकी कर्मसंबंधी शक्तियों और गुणों एवं अवस्थाओं को अतिक्रांत कर जायं; अन्यथा हम इसकी अवस्थाओं के ही अधीन रहेंगे और विवश होकर इसके द्वारा शासित होते रहेंगे, इस तरह हम आत्मा में स्वतंत्र नहीं होंगे।

प्रकृति की तीन मूल अवस्थाओं का विचार प्राचीन भारतीय मनीषियों की उपज है और इसकी सत्यता हमारे सामने सहज ही स्पष्ट नहीं होती, क्योंकि यह उनके सुदीर्घ आध्यात्म-विषयक परीक्षण तथा गभीर आंतर अनुभूति का परिणाम था। अतएव सुदीर्घ आंतर अनुभव तथा अंतरंग आत्म-निरीक्षण के बिना और प्रकृति-शक्तियों का साक्षात् प्राप्त किये बिना इसे ठीक ठीक समझना या दृढ़ता से उपयोग में लाना कठिन है। तथापि कुछ मोटे निर्देश कर्म-मार्ग पर आरूढ़ जिज्ञासु के लिये अपनी प्रकृति के अनेकविध शक्ति-संयोगों को समझने, विश्लेषित करने तथा उन्हें अपनी स्वीकृति या निषेध से नियंत्रित करने में सहायक हो सकते हैं। प्रकृति की मूल अवस्थाओं को भारतीय पुस्तकों में गुण कहा गया है और इन्हें सत्त्व, रज और तम के नाम दिये गये हैं। सत्त्व संतुलन की शक्ति है और गुण के रूप में यह सत्, सामंजस्य, सुख और प्रकाश कहलाता है; रज गति की शक्ति है और गुण के रूप में यह संघर्ष, प्रयत्न, आवेश तथा कर्म कहलाता है; तम अचेतना एवं जड़ता की शक्ति है और गुण के रूप में यह अंधता, अक्षमता तथा निष्क्रियता कहलाता है। ये विशेष लक्षण अध्यात्मविषयक आत्मविश्लेषण के लिये प्रायः ही प्रयुक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति में भी ये ठीक घटते हैं। अपरा प्रकृति की एक एक वस्तु और हरेक सत्ता में ये निहित हैं और प्रकृति की कार्यप्रणाली तथा इसका गतिशील रूप इन गुणात्मक शक्तियों की परस्पर-क्रिया के ही परिणाम हैं।

चेतन या अचेतन सभी वस्तुओं का प्रत्येक रूप क्रियारत प्राकृतिक शक्तियों का एक स्थिरतापूर्वक रक्षित संतुलन होता है। यह उन सहायक, बाधक या विनाशक संपर्कों के अंतहीन प्रवाह के अधीन होता है जो इसे अपने चारों ओर की शक्तियों के अन्य संयोगों से प्राप्त होते हैं। हमारी अपनी मन-प्राण-शरीररूपी प्रकृति भी इस प्रकार के रचनाकारी शक्ति-संयोग या त्रिगुण-संयोग तथा संतुलन के सिवा और कुछ नहीं है। पारिपार्श्विक स्पर्शों के ग्रहण तथा उनके प्रति प्रतिक्रिया में ये तीन गुण ग्रहीता का स्वभाव तथा प्रत्युत्तर का स्वरूप निर्धारित करते हैं। जड़ तथा अशक्त रहकर वह किसी प्रत्युत्तर-स्वरूप प्रतिक्रिया, आत्म-रक्षा की किसी चेष्टा, अथवा आत्मसात् करने एवं अनुकूल बनाने की किसी भी क्षमता के बिना उन स्पर्शों को झेल सकता है; यह तमोगुण है, जड़ता की रीति है। तम के लक्षण हैं—अंधता, अचेतनता, अक्षमता और निर्बुद्धिता, प्रमाद, आलस्य, निष्क्रियता और यांत्रिक पुनरावर्त्तिता, मन की जड़ता, प्राण की मूर्च्छा और आत्मा की निद्रा। इसका प्रभाव, यदि उसे अन्य तत्त्वों के द्वारा सुधारा न जाय तो, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि प्रकृति का वह रूप या संतुलन विघटित हो जायगा और उसके स्थान पर कोई नया रूप भी उत्पन्न नहीं होगा, न कोई नया संतुलन या क्रियाशील विकास की कोई नई शक्ति ही उत्पन्न होगी। इस जड़ अशक्तता के मूल में निहित है अज्ञान का तत्त्व तथा पारिपार्श्विक शक्तियों के उत्तेजक या आक्रामक स्पर्श एवं उनके सुझाव को तथा नूतन अनुभव के लिये उनकी प्रेरणा को समझने और आयत्त एवं प्रयुक्त करने की अयोग्यता या प्रमादपूर्ण अनिच्छा।

दूसरी ओर, प्रकृति के स्पर्शों का ग्रहीता उसकी शक्तियों से संस्पृष्ट तथा उत्तेजित, पीड़ित वा आक्रांत होकर दबाव के अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी कर सकता है। प्रकृति उसे प्रयत्न, प्रतिरोध एवं प्रयास करने, अपनी परिस्थिति को अधिकृत या स्वांगीकृत तथा अपनी इच्छाशक्ति को ख्यापित करने और युद्ध, निर्माण एवं विजय करने के लिये स्वीकृति, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देती हैं। यह रजोगुण है, आवेश, कर्म और कामना की तृष्णा की रीति है। संघर्ष, परिवर्तन और नवसर्जन, विजय और पराजय, हर्ष और शोक तथा आशा और निराशा इसकी संतानें हैं और ये इसका ऐसा चित्र-विचित्र जीवन-सदन निर्मित करती हैं जिसमें यह मौज मनाता है। परंतु इसका ज्ञान अपूर्ण या मिथ्या ज्ञान होता है जो अपने साथ अज्ञानयुक्त प्रयत्न, भूल-भ्रांति, अनवरत कुसामंजस्य, आसक्ति का कष्ट, हताश कामना, और हानि एवं असफलता का दुःख लाता है। रजोगुण की देन है गतिशील बल, स्फूर्त्ति, कर्मण्यता तथा ऐसी शक्ति जो सर्जन एवं कर्म करती है और विजय कर सकती है। किंतु यह रजोगुण अविद्या के मिथ्या प्रकाशों या अर्द्धप्रकाशों में विचरण करता है और असुर, राक्षस तथा पिशाच के स्पर्श से कलुषित होता है। मानव मन का उद्धत ज्ञान और उसके निज-संतुष्ट विकार एवं धृष्ट भ्रांतियां; मद, अहंकार और महत्त्वाकांक्षा; क्रूरता, अत्याचार, पाशविक क्रोध और उग्रता; स्वार्थ, क्षुद्रता, छल-कपट और निकृष्ट नीचता; ईर्ष्या, असूया एवं अथाह कृतघ्नता और काम, लोभ, लूटमार एवं बलापहार जो पृथ्वी-प्रकृति को विकृत करते हैं, इस अनिवार्य किंतु उग्र एवं भयानक प्रकृति-वृत्ति की स्वाभाविक संतानें हैं।

परंतु देहधारी जीव प्रकृति के इन दो गुणों से ही बंधा हुआ नहीं है; एक इनसे अच्छा और अधिक प्रकाशयुक्त ढंग भी है जिससे वह अपने चारों ओर के संपर्कों और जगत्-शक्तियों के प्रवाह के साथ व्यवहार कर सकता है। इन संपर्कों और शक्तियों को वह स्पष्ट समझ,

समस्थिति एवं संतुलन के साथ भी ग्रहण कर सकता है और इनकी ओर प्रतिक्रिया कर सकता है। प्राकृतिक जीव की इस व्यवहार-शैली में एक ऐसी शक्ति है जो समझ से युक्त होने के कारण सहानुभूति प्रकाशित करती है; यह प्रकृति की प्रेरणा और उसकी विधियों की थाह लेती है और उन्हें अधिकृत तथा विकसित करती है। इसमें एक ऐसी बुद्धि है जो प्रकृति की कार्यप्रणालियों तथा उसके आशयों की तह में जाती है और उन्हें आत्मसात् करके उपयोग में ला सकती है। इसमें एक ऐसी प्रसन्न प्रतिक्रिया होती है जो अभिभूत नहीं होती किंतु मेल साधती है, सुधारती एवं समस्वर करती है तथा सभी वस्तुओं में से सार निकाल लेती है। यह सत्त्वगुण है, अर्थात् प्रकृति की वह वृत्ति है जो प्रकाश और संतुलन से पूर्ण है, सत्, ज्ञान, आनंद, सौंदर्य तथा सुख और ठीक समझ, ठीक संतुलन एवं ठीक व्यवस्था के लक्ष्य की ओर अभिमुख है। इसका स्वभाव है ज्ञान की उज्ज्वल विशदता का ऐश्वर्य और सहानुभूति एवं अंतरंगता का ज्वलंत उत्साह। सूक्ष्मता और ज्ञानदीप्ति, संयमित शक्ति, समस्त सत्ता की पूर्ण समस्वरता एवं समतोलता सात्त्विक प्रकृति की सर्वोच्च उपलब्धि है।

कोई भी सत्ता वैश्व शक्ति के इन गुणों में से पूरी तरह किसी एक के ही न्यारे सांचे में ढली हुई नहीं है; हर एक में और हर जगह तीनों के तीनों विद्यमान हैं। इनके परिवर्तनशील संबंधों तथा परस्पर-संचारी प्रभावों का सतत संयोजन और वियोजन होता रहता है, बहुधा शक्तियों का संघट्ट तथा मल्लयुद्ध एवं एक दूसरी पर प्रभुता करने के लिये संघर्ष भी चलता रहता है। सभी के अंदर कम या अधिक अंश या मात्रा में सात्त्विक वृत्तियां होती हैं, भले ही किसी किसी में ये अलक्ष्य सी न्यूनतम मात्रा में ही क्यों न हों; सभी में प्रकाश, निर्मलता एवं प्रसन्नता की स्पष्ट सरणियां या अविकसित प्रवृत्तियां, परिस्थिति के साथ सूक्ष्म अनुकूलीकरण और सहानुभूति, बुद्धि, समतोलता, यथार्थ विचार, यथार्थ संकल्प और भाव, यथार्थ आवेग, सद्गुण और नियम-क्रम देखने में आते हैं। सभी में राजसिक वृत्तियां भी होती हैं, सभी में आवेग, कामना, आवेश और संघर्षवाले मलिन अंग, विकार, असत्य एवं भ्रांति और असंतुलित हर्ष एवं शोक दृष्टिगोचर होते हैं और सभी में कर्म एवं उत्सुक सर्जन की उग्र प्रेरणा, और परिस्थिति के दबाव तथा जीवन के आक्रमणों एवं प्रस्तावों के प्रति प्रबल या साहसपूर्ण अथवा प्रचण्ड या भयानक प्रतिक्रियाएं भी दिखाई देती हैं। सभी में तामसिक वृत्तियां भी होती हैं, सभी में स्थिर अंधकारमय भाग, अचेतनता के क्षण या स्थल, दुर्बल सहिष्णुता या जड़ स्वीकृति का चिररूढ़ स्वभाव या इसके प्रति अस्थायी रुचि, प्रकृतिगत दुर्बलताएं या क्लांति, प्रमाद और आलस्य की गतियां देखने में आती हैं, अज्ञान एवं अशक्तता में पतन, विषाद, भय और भीरुतापूर्ण जुगुप्सा अथवा परिस्थितियों के प्रति और मनुष्यों, घटनाओं एवं शक्तियों के दबाव के प्रति अधीनता भी सभी के अंदर पायी जाती है। हम सभी अपनी प्राकृतिक शक्ति की कुछ दिशाओं में अथवा अपने मन या स्वभाव के कई भागों में सात्त्विक हैं, कुछ दूसरी दिशाओं में राजसिक और कई अन्य दिशाओं में तामसिक भी। किसी मनुष्य के सामान्य स्वभाव और विशिष्ट मन तथा कर्मधारा में इन गुणों में से जो कोई भी साधारणतया प्रबल होता है उसी के अनुसार उस मनुष्य के संबंध में यह कहा जाता है कि वह सात्त्विक, राजसिक या तामसिक है। परंतु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो सदा एक ही प्रकार के हों और अपने प्रकार में विशुद्ध तो कोई भी नहीं होता। ज्ञानी सदा या पूर्णतया

ज्ञानी नहीं होते, बुद्धिमान् केवल खण्डशः ही बुद्धिमान् होते हैं; साधु अपने अंदर अनेक असाधु चेष्टाएं दबाए रखता है और दुष्ट निरे दुष्ट ही नहीं होते। जड़ से जड़ मनुष्य में भी अप्रकट अथवा अप्रयुक्त एवं अविकसित क्षमताएं होती हैं। अत्यंत भीरु व्यक्ति भी किसी किसी समय अपना जौहर दिखाता है अथवा उसका भी एक साहसी रूप होता है, असहाय और दुर्बल की प्रकृति में भी शक्ति का एक प्रसुप्त स्रोत होता है। सत्त्व आदि प्रधान गुण देहधारी जीव के मूल आत्मिक-प्रकार नहीं होते वरन् उस रचना के चिह्नमात्र होते हैं जो रचना जीव अपने इस जीवन के लिये या अपने वर्तमान सत्ता-काल में अपने विकास के किसी विशिष्ट क्षण में निर्मित करता है।

★

जब एक बार साधक अपने भीतर या अपने पर होनेवाली प्रकृति की क्रिया से तटस्थ हो जाता है और इसमें हस्तक्षेप अथवा इसका सुधार या निषेध एवं चुनाव या निर्णय न करते हुए उसकी क्रीड़ा को होने देता है और जब वह उसकी कार्यपद्धति का विश्लेषण एवं निरीक्षण कर लेता है, तब वह शीघ्र ही जान जाता है कि प्रकृति के गुण स्वाश्रित हैं और वे वैसे ही कार्य करते हैं जैसे एक बार चलाकर काम में लगायी हुई मशीन अपनी ही रचना तथा संचालक शक्तियों के द्वारा कार्य करती रहती है। शक्ति और संचालन का स्रोत प्रकृति है, प्राणी नहीं। तब उसे अनुभव हो जाता है कि मेरा यह संस्कार कैसा अशुद्ध था कि मेरा मन मेरे कार्यों का कर्त्ता है; मेरा मन तो मेरा एक छोटा सा अंश तथा प्रकृति की रचना एवं इंजनमात्र है। वास्तव में प्रकृति ही अपने तीन सार्वभौम गुणों को इस प्रकार घुमाती हुई जिस प्रकार कोई लड़की अपनी पुतलियों से खेलती हो, अपने गुणों द्वारा बराबर कार्य कर रही है। उसका 'अहं' सदैव एक यंत्र तथा खिलौनामात्र होता है; उसका चरित्र और बुद्धि, उसके नैतिक गुण और मानसिक शक्तियां, उसकी कृतियां और कर्म एवं पराक्रम, उसका क्रोध और सहिष्णुता, उसकी क्रूरता और करुणा, उसका प्रेम और उसकी घृणा, उसका पाप और पुण्य, उसका प्रकाश और अंधकार तथा हर्षावेश एवं शोकोच्छ्वास प्रकृति की क्रीड़ामात्र हैं जिसे आत्मा आकृष्ट, विजित तथा वशीकृत होकर अपनी निष्क्रिय सहमति दे देती है। तथापि प्रकृति या शक्ति का नियंतृत्व ही सब कुछ नहीं है, इस विषय में आत्मा की बात भी सुनी जाती है, उसकी भी चलती है,–किंतु चलती है गुप्त आत्मा की या पुरुष की, न कि मन वा अहंकार की क्योंकि ये स्वतंत्र सत्ताएं नहीं वरन् प्रकृति के ही भाग हैं। आत्मा की अनुमति क्रीड़ा के लिये अपेक्षित है और अनुमति के ईश तथा प्रदाता के रूप में वह आन्तर मौन संकल्प के द्वारा क्रीड़ा का नियम निर्धारित कर सकती है तथा अपने त्रिगुण-संयोगों में हस्तक्षेप कर सकती है, यद्यपि विचार एवं संकल्प और कर्म एवं आवेग में क्रियान्वित करना तब भी प्रकृति का ही कार्य तथा अधिकार रहता है। पुरुष प्रकृति को किसी सामंजस्य के साधित करने के लिये आदेश दे सकता है, पर इसके लिये वह उसके व्यापारों में हस्तक्षेप नहीं करता बल्कि उसपर एक सचेतन दृष्टि डालता है, जिसे वह तुरंत या बहुत कठिनाई के बाद एक प्रतिरूपक विचार और क्रियाशील प्रेरणा एवं अर्थपूर्ण प्रतिमा में रूपांतरित कर देती है।

यह सर्वथा प्रत्यक्ष ही है कि यदि हमें अपनी वर्तमान प्रकृति का दिव्य चेतना के मूर्त्त बल में तथा उसकी शक्तियों के यंत्र में रूपांतर करना है तो दो निम्न गुणों की क्रिया से छुटकारा पाना अनिवार्य है। तम दिव्य ज्ञान के प्रकाश को धुंधला कर देता है तथा उसे हमारी

प्रकृति के अंधेरे और मलिन कोनों में प्रवेश नहीं करने देता। यह हमें निःशक्त कर देता है और दैवी आवेग का उत्तर देने की हमारी शक्ति, अपने को परिवर्तित करने का हमारा बल और प्रगति करने एवं अपने को महत्तर शक्ति के प्रति नम्य बनाने का हमारा संकल्प हर लेता है। रज ज्ञान को विकृत कर डालता है, हमारी बुद्धि को असत्य की सहायिका तथा प्रत्येक अशुभ चेष्टा की उत्तेजिका बना देता है, हमारी प्राणशक्ति तथा इसके आवेगों को भड़काता और उलझाता है तथा शरीर का संतुलन एवं स्वास्थ्य उलट देता है। यह सब अभिजात विचारों तथा उच्चस्थ गतियों पर अधिकार कर लेता है और उनका मिथ्या तथा अहंकारमय उपयोग करता है। यहां तक कि दिव्य सत्य और दिव्य प्रभाव भी, जब वे पार्थिव स्तर पर अवतरित होते हैं, इस दुरुपयोग और आक्रमण से नहीं बच सकते। जब तक तम आलोकित और रज रूपांतरित नहीं हो जाता, तब तक कोई दिव्य परिवर्तन या दिव्य जीवन संभव नहीं हो सकता।

अतएव ऐसा प्रतीत होगा कि सत्व का ऐकांतिक अवलंबन ही उद्धार का उपाय है; किंतु इसमें कठिनाई यह है कि कोई भी गुण अपने दो संगियों एवं प्रतिस्पर्धियों के विरोध में अकेला विजयी नहीं हो सकता। यदि हम कामना एवं आवेश के गुण को कष्ट-क्लेश और पाप-ताप आदि विकारों का कारण समझकर इसे शांत तथा वशीभूत करने की चेष्टा और प्रयास करें, तो रज दब जाता है किंतु तम उभड़ आता है। सक्रियता का तत्त्व शिथिल पड़ जाने से जड़ता उसका स्थान ले लेती है। प्रकाश का तत्त्व हमें सुस्थिर शांति, सुख, ज्ञान, प्रेम और शुद्ध भाव प्रदान कर सकता है, परंतु यदि रज अनुपस्थित हो या नितांत दमित हो, तो आत्मा की शांति अकर्मण्यता की निश्चलता बनती चली जाती है न कि सक्रिय रूपांतर की दृढ़ भित्ति। निष्प्रभाव रूप में यथार्थ चिंतन एवं यथार्थ कर्म करती हुई साधु, सौम्य और ऋजु प्रकृति अपने क्रियाशील अंगों में सत्त्व-तामसिक, उदासीन, निस्तेज, असर्जनक्षम या बलशून्य हो सकती है। मानसिक और नैतिक अंधकार का इसमें अभाव हो सकता है परंतु साथ ही कर्म के सबल स्रोत भी सूख जा सकते हैं। इस प्रकार यह भी एक अवरोधक सीमा होती है और साथ ही एक और प्रकार की अक्षमता भी। कारण, तमस् एक दुहरा तत्त्व है; जहां यह रज का निष्क्रियता के द्वारा विरोध करता है वहां यह सत्त्व का भी संकीर्णता, अंधकार और अज्ञान के द्वारा विरोध करता है और यदि इनमें से कोई अवसन्न हो जाता है तो यह उसका स्थान लेने के लिए घुस आता है।

यदि हम यह भूल सुधारने के लिए रज को पुनः आमंत्रित करते हैं तथा इसे सत्त्व से गठबंधन करने देते हैं और इनके सम्मिलित प्रभाव से अंधकारमय तत्त्व से छुटकारा पाने का पुरुषार्थ करते हैं, तो हम देखते हैं कि हमारे कर्म का स्तर तो ऊंचा हो जाता है, किंतु राजसिक उत्सुकता, लालसा, निराशा, तथा दुःख और रोष के प्रति वश्यता फिर भी बनी रहती है। हो सकता है कि ये गतियां अपने क्षेत्र एवं अपनी भावना तथा क्रिया में पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत हो जायं, पर जो शांति, स्वतंत्रता, शक्ति और आत्म-प्रभुता हम प्राप्त करना चाहते हैं वे ये नहीं हैं। जहां जहां कामना और अहंभाव रहते हैं, वहां वहां आवेग और विक्षोभ भी उनके साथ रहते ही हैं और उनके जीवन में भाग लेते हैं। यदि हम तीनों गुणों में इस प्रकार का समझौता कराना चाहें कि सत्त्व प्रधान बनकर रहे और अन्य दोनों इसके अधीन रहें तो भी हम प्रकृति के खेल की एक अधिक संयत क्रिया पर

ही पहुंचेंगे। एक नया संतुलन तो हमें प्राप्त हो जायगा किंतु आध्यात्मिक स्वातंत्र्य और प्रभुत्व कहीं दिखाई नहीं देंगे अथवा ये अभी केवल एक सुदूर संभावना ही रहेंगे।

एक अन्य मूलतः भिन्न प्रकार की गति हमें गुणों से पीछे हटाकर तथा पृथक् करके अंतर की ओर ले जायगी और इनसे ऊपर उठावेगी। जो भ्रांति प्रकृति के गुणों के व्यापार को स्वीकृति देती है उसे समाप्त होना होगा; क्योंकि जब तक इसे स्वीकृति दी जाती है, तब तक आत्मा इनकी क्रियाओं में आबद्ध और इनके नियम के अधीन ही होती है। रज और तम के समान ही सत्त्व को भी पार करना होगा, सोने की जंजीर भी वैसे ही तोड़ फेंकनी होगी जैसे भारी भरकम बेड़ियां तथा मिश्र धातुओं के बंधनभूत भूषण। गीता इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आत्म-साधना की एक नई विधि बतलाती है। वह है गुणों की क्रिया से पीछे हटकर अपने अंदर स्थित होना तथा प्रकृति की शक्तियों की तरंग के ऊपर विराजमान साक्षी की भांति इस अस्थिर प्रवाह का निरीक्षण करना। साक्षी वह है जो देखता है पर तटस्थ एवं उदासीन रहता है, गुणों के निज स्तर पर उनसे पृथक् तथा अपनी स्वाभाविक स्थिति में उनसे ऊपर उच्चासीन होता है। जब वे अपनी तरंगों के रूप में उठते-गिरते हैं, तब साक्षी उनकी गतिविधि देखता है, इसका निरीक्षण करता है, परंतु न तो वह इसे स्वीकार करता है न इसमें क्षण भर भी हस्तक्षेप करता है। सबसे पहले निर्वैयक्तिक साक्षी की स्वतंत्रता प्राप्त होनी आवश्यक है; तदनंतर स्वामी या ईश्वर का प्रभुत्व स्थापित हो सकता है।

★

अनासक्ति की इस प्रक्रिया का प्रारंभिक लाभ यह होता है कि व्यक्ति अपनी निज प्रकृति तथा सर्वजनीन विश्वप्रकृति को समझने लगता है। अनासक्त साक्षी अहंकार से लेशमात्र भी अंध हुए बिना प्रकृति की अविद्यामय शैलियों की क्रीड़ा को पूर्ण रूप से देख सकता है तथा इसकी सब शाखा-प्रशाखाएं, आवरण एवं सूक्ष्मताएं छान मारने में समर्थ होता है—क्योंकि यह नकली रूप तथा छद्मवेश और जालबंदी, धोखेबाजी तथा छल-चातुरी से भरी हुई है। दीर्घ अनुभव से सीखा हुआ, सभी कार्यों एवं अवस्थाओं को गुणों की परस्पर-क्रिया समझता हुआ, इनकी कार्यशैलियों से भिज्ञ होता हुआ वह आगे को इनके आक्रमणों से परास्त नहीं हो सकता, इनके फंदों में एकाएक फंस नहीं सकता अथवा इनके स्वांगों के धोखे में नहीं आ सकता। साथ ही वह देखता है कि अहं यथार्थ में इससे अधिक कुछ नहीं है कि वह एक युक्ति है तथा इनकी परस्पर-क्रिया की धारक ग्रंथि है और, यह जानकर, वह निम्न अहंकारमय प्रकृति की माया से मुक्त हो जाता है। वह परोपकारी और मुनि एवं मनीषी के सात्त्विक अहंकार से छूट जाता है; वह स्वार्थसेवी के राजसिक अहंकार को भी उस अधिकार से च्युत कर देता है जो इसने उसके प्राणावेगों पर जमा रखा है। अब वह निज स्वार्थ का परिश्रमी पोषक तथा आवेश एवं कामना का पला हुआ कैदी या अतिश्रम करनेवाला दंडित दास नहीं रहता। अज्ञानमय या निष्क्रिय, जड़ एवं बुद्धिहीन, तथा मानव जीवन के साधारण चक्र में फंसी हुई सत्ता के तामसिक अहंकार को वह अपनी ज्ञान-ज्योति से छिन्न-भिन्न कर देता है। इस प्रकार हमारे समस्त वैयक्तिक कर्म में अहंभाव-रूपी मूल दोष का अस्तित्व निश्चित रूप से स्वीकार कर तथा इससे सचेतन होकर वह आगे से राजसिक या सात्त्विक अहंकार में आत्म-सुधार या आत्म-उद्धार का उपाय ढूंढ़ने की चेष्टा नहीं करता है बल्कि इनसे ऊपर एवं प्रकृति के करणों तथा कार्यप्रणाली से परे केवल सर्वकर्ममहेश्वर

तथा उसकी परम शक्ति वा परा प्रकृति की ओर ही उन्मुख होता है। केवल वहीं समस्त सत्ता शुद्ध और मुक्त है और वहीं दिव्य सत्य का शासन संभव है।

इस प्रगति में पहला कदम है प्रकृति के तीन गुणों से एक विशेष प्रकार की निर्लिप्त उत्कृष्टता। आत्मा निम्न प्रकृति से अन्तरतः पृथक् तथा स्वतंत्र होती है, इसके घेरों में फंसी हुई नहीं होती, इसके ऊर्ध्व में उदासीन और प्रसन्न भाव में स्थित रहती है। प्रकृति अपने पुराने अभ्यासों के त्रिविध चक्र में कार्य करती रहती है,—कामना और हर्ष-शोक हृदय को आ घेरते हैं, सब करणोपकरण अकर्मण्यता, जड़ता एवं खिन्नता के गर्त में जा गिरते हैं, प्रकाश और शांति हृदय, मन तथा शरीर में फिर लौट आते हैं। किंतु आत्मा इन परिवर्तनों से परिवर्तित और प्रभावित नहीं होती। निम्न अंगों की वेदना तथा कामना का निरीक्षण करती हुई पर उनसे अचलायमान, उनके हर्षों और आयासों पर मुस्कराती हुई, विचार की भ्रांतियों तथा धूमिलताओं को और हृदय तथा स्नायुओं की उच्छृंखलता एवं दुर्बलताओं को समझती हुई पर उनसे पराभूत न होती हुई, प्रकाश एवं प्रसन्नता के लौटने पर मन के अंदर उत्पन्न ज्ञान-आलोक तथा सुख-आराम से और उसके विश्राम एवं बल-सामर्थ्य के अनुभव से मोहित तथा इसमें आसक्त न होती हुई आत्मा अपने को इनमें से किसी भी चीज में झोंकती नहीं, किंतु अविचलित रहकर उच्चतर इच्छाशक्ति के निर्देशों तथा महत्तर एवं प्रकाशपूर्ण ज्ञान की स्फुरणाओं की प्रतीक्षा करती है। सदा ऐसा ही करती हुई यह अपने सक्रिय अंगों में भी तीन गुणों के संघर्ष तथा इनकी अपर्याप्त उपयोगिताओं एवं अवरोधक सीमाओं से अंतिम रूप में मुक्त हो जाती है। कारण, अब यह निम्नतर प्रकृति अपने आपको उत्तरोत्तर एक उच्चतर शक्ति के द्वारा प्रबल रूप से प्रेरित अनुभव करती है। पुराने अभ्यासों को, जिनसे यह चिपटी हुई थी, अब और स्वीकृति नहीं मिलती और वे अपनी बहुलता को एवं पुनरावर्तन की शक्ति को लगातार खोने लगते हैं। अंत में यह इस बात को समझ जाती है कि इसे एक उच्चतर कार्य और श्रेष्ठतर अवस्था के लिये आवाहन प्राप्त हुआ है और चाहे कितनी भी धीमे क्यों न हो, चाहे कितनी भी अनिच्छा के साथ और किसी भी आरंभिक या लंबी दुर्भावना एवं स्खलनशील अज्ञान के साथ ही क्यों न हो, यह अपने को परिवर्तन के लिये प्रस्तुत, अभिमुख और तैयार करने लगती है।

साक्षी और ज्ञाता की भी अवस्था से अतीत हमारी आत्मा की स्थितिशील स्वतंत्रता का परम उत्कर्ष होता है प्रकृति का सक्रिय रूपांतर। हमारे तीन करणों अर्थात् मन, प्राण, शरीर में एक दूसरे पर प्रभाव डालते हुए तीन गुणों का सतत मिश्रण एवं विषम व्यापार तब और अपनी साधारण, अव्यवस्थित, विक्षुब्ध तथा अशुद्ध क्रिया और गति नहीं करता। तब एक और प्रकार की क्रिया करना संभव हो जाता है जो आरंभ होती, बढ़ती तथा पराकाष्ठा को पहुंचती है,—एक ऐसी क्रिया जो अधिक सच्चे रूप में शुद्ध तथा अधिक प्रकाश-युक्त होती है और पुरुष और प्रकृति की गंभीरतम दिव्य परस्पर-लीला के लिये तो सहज एवं स्वाभाविक किंतु हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति के लिये असाधारण एवं अलौकिक होती है। स्थूल मन को सीमाओं में बांधनेवाला शरीर तब और उस तामसिक जड़ता पर आग्रह नहीं करता जो सदा एक ही अज्ञानमय चेष्टा को दुहराती रहती है। यह एक महत्तर शक्ति और ज्योति का निष्प्रतिरोध क्षेत्र और यंत्र बन जाता है, यह आत्मा की शक्ति की प्रत्येक मांग का उत्तर देता है और प्रत्येक प्रकार के नये दिव्य अनुभव और उसकी तीव्रता को आश्रय देता है।

हमारी सत्ता के गतिशील और सक्रिय प्राणिक भाग, हमारे स्नायविक, भाविक, सांवेदनिक और संकल्पात्मक भाग अपनी शक्ति में विस्तृत हो जाते हैं और अनुभव के आनंदपूर्ण उपभोग तथा अश्रांत कार्य के लिये अवकाश प्रदान करते हैं। पर साथ ही ये एक ऐसी विशाल, धीर-स्थिर और संतुलित शांति की आधारशिला पर स्थित और संतुलित होना भी सीख जाते हैं जो शक्ति में अत्युच्च और विश्रांति में दिव्य है, जो न हर्षित होती है न उत्तेजित और न दुःख एवं वेदना से पीड़ित, न कामना और हठीले आवेगों से व्याकुल होती है और न ही निर्बलता और अकर्मण्यता से हतोत्साह। बुद्धि किंवा चिंतनात्मक, बोधग्राही और विचारशील मन अपनी सात्त्विक सीमाएं त्यागकर सारभूत ज्योति और शांति की ओर खुल जाता है। एक अनन्त ज्ञान हमारे सामने अपने उज्ज्वल क्षेत्र प्रस्तुत करता है। एक ज्ञान—जो मानसिक रचनाओं से गठित तथा सम्मति एवं धारणा से बद्ध नहीं होता, न स्खलनशील संदिग्ध तर्क एवं इन्द्रियों के तुच्छ अवलंब पर ही निर्भर करता है, बल्कि सुनिश्चित, यथार्थ, सर्वस्पर्शी और सर्वग्राही होता है, एक अपार शांति और आनंद जो सर्जनशील शक्ति और वेगमय कर्म के कुंठित आयास से मुक्ति की प्राप्ति पर निर्भर नहीं करते और न कुछ एक सीमित सुखों से ही निर्मित होते हैं, बल्कि स्वयंसत् और सर्वसंग्राहक होते हैं,—ये सब हमारी सत्ता को अधिकृत करने के लिये उत्तरोत्तर-व्यापक क्षेत्रों में और नित्य-विस्तारशील एवं सदा अधिकाधिक मार्गों के द्वारा प्रवाहित होते हैं। एक उच्चतर शक्ति, आनंद और ज्ञान मन, प्राण तथा शरीर से परे के किसी स्रोत से प्रकट होकर नए सिरे से इनका दिव्यतर रूप गढ़ने के लिये इनपर अधिकार कर लेते हैं।

यहां हमारी निम्न सत्ता के त्रिविध गुण के विरोध-वैषम्य पार हो जाते हैं और दिव्य विश्व-प्रकृति का महत्तर त्रिविध गुण प्रारंभ होता है। यहां तम या जड़ता की अंधता का नाम-निशान नहीं। तम का स्थान ले लेता है दिव्य शम एवं प्रशांत शाश्वत विश्राम जिसमें से कर्म तथा ज्ञान की लीला इस प्रकार आविर्भूत होती है मानों निश्चल एकाग्रता के परम गर्भ से आविर्भूत हो रही हो। यहां कोई राजसिक गति एवं कामना नहीं होती, न कर्म, सर्जन तथा धारण का कोई हर्ष-शोकमय प्रयास ही होता है और न विक्षुब्ध आवेग की कोई सार्थक उथल-पुथल। रज का स्थान ग्रहण करती है धीर-स्थिर शक्ति एवं असीम बल-क्रिया जो अपनी अत्यंत प्रचण्ड तीव्रताओं में भी आत्मा की अचल समस्थिति को उद्वेलित नहीं करती और न ही इसकी शांति के विशाल गहन व्योमों तथा प्रकाशमान अथाह गह्वरों को कलुषित करती है। सत्य को निगृहीत तथा आबद्ध करने के लिये चतुर्दिक् खोजते फिरते हुए मन के निर्माणकारी प्रकाश का यहां अस्तित्व नहीं, चिन्ताकुल या निश्चेष्ट विश्राम का यहां नाम नहीं। सत्त्व के स्थान पर प्रतिष्ठित होता है प्रकाश तथा आध्यात्मिक आनंद जो आत्मा की गभीरता एवं अनंत सत्ता से एकीभूत है और सीधे गुह्य सर्वज्ञता के प्रच्छन्न तेजःपुंज से निःसृत होनेवाले प्रत्यक्ष एवं सत्य ज्ञान से अनुप्राणित है। यह वह महत्तर चेतना है जिसमें हमें अपनी निम्न चेतना को रूपांतरित करना है, त्रिगुण की क्षुब्ध एवं असंतुलित क्रिया से युक्त इस अज्ञानमय प्रकृति को हमें इस महत्तर ज्योतिर्मय परा प्रकृति में परिवर्त्तित करना है। सर्वप्रथम हम त्रिगुण से मुक्त, निर्लिप्त और अक्षुब्ध 'निस्त्रैगुण्य'-स्थिति प्राप्त करते हैं। परंतु यह तो उस अंतरात्मा, आत्मा एवं आत्मतत्त्व की सहज अवस्था की प्राप्ति है जो स्वतंत्र है और अज्ञान-शक्ति से युक्त प्रकृति की चेष्टा का अपनी अचल शांति में निरीक्षण करती है। यदि

इस भित्ति पर प्रकृति और इसकी गति को भी स्वतंत्र बनाना हो तो इसके लिये कर्म को एक ऐसी ज्योतिर्मयी शांति एवं नीरवता के अंदर शांत और स्थिर करना होगा जिसमें सभी आवश्यक क्रियायें इस प्रकार की जाती हैं कि मन या प्राण-सत्ता किसी प्रकार की सचेतन प्रतिक्रिया या भागग्रहण या कार्यारंभ नहीं करती, न विचार की कोई तरंग या प्राणिक भागों की कोई लहर ही उठती है; साथ ही, इसके लिये एक निर्वैयक्तिक वैश्व या परात्पर शक्ति की प्रेरणा, प्रवर्तना और क्रिया की सहायता भी प्राप्त करनी होगी। वैश्व मन, प्राण और सत्तत्त्व को अथवा हमारी अपनी वैयक्तिक सत्ता या इसकी प्रकृति-निर्मित देहपुरी से भिन्न किसी शुद्ध परात्पर आत्म-शक्ति और आनंद को सक्रिय होना होगा। यह एक प्रकार की मुक्त स्थिति है जो कर्मयोग में अहंभाव, कामना और वैयक्तिक उपक्रम के त्याग द्वारा और विश्वात्मा या विश्व-शक्ति के प्रति हमारी सत्ता के समर्पण के द्वारा प्राप्त हो सकती है। ज्ञानयोग में यह विचार के निरोध, मन की नीरवता और विश्व-चेतना, विश्वात्मा, विश्व-शक्ति या परम सद्वस्तु के प्रति संपूर्ण सत्ता के उद्घाटन के द्वारा अधिगत हो सकती है। भक्तियोग में यह अपनी सत्ता के आराध्य स्वामी के रूप में उस आनंदघन के हाथों में अपने हृदय और समस्त प्रकृति के समर्पण के द्वारा उपलब्ध हो सकती है। परंतु सर्वोच्च परिवर्तन तो एक अधिक निश्चयात्मक एवं क्रियाशील अतिक्रमण के द्वारा ही साधित हो सकता है; एक उच्च आध्यात्मिक स्थिति अर्थात् त्रिगुणातीत स्थिति में हमारा स्थानांतरण या रूपांतर हो जाता है जिसमें हम एक महत्तर आध्यात्मिक गतिशीलता में भाग लेने लगते हैं; क्योंकि तीन निम्नतर विषम गुण दैवी प्रकृति की शाश्वत शांति, ज्योति और शक्ति किंवा उसकी विश्रांति, गति और दीप्ति के सम त्रिविध गुण में परिवर्तित हो जाते हैं।

यह परम समस्वरता तब तक नहीं प्राप्त हो सकती जब तक अहंकारमय संकल्प, चुनाव तथा कर्म बंद न हो जायं और हमारी सीमित बुद्धि शांत न हो जाय। वैयक्तिक अहंभाव को बल लगाना छोड़ देना होगा, मन को मौन हो जाना होगा, कामनामय संकल्प को सर्वारंभपरित्याग करना सीखना होगा। हमारे व्यक्तित्व को अपने उद्गम में मिल जाना होगा और समस्त विचार तथा आरंभ को ऊर्ध्वलोक से उद्भूत होना होगा। हमारे कर्मों के गुप्त ईश्वर हमारे समक्ष शनैः शनैः प्रकाशित होंगे और परम संकल्प एवं ज्ञान की अभय छाया में दिव्य शक्ति को अनुमति देंगे और वह शक्ति ही विशुद्ध तथा उच्च प्रकृति को अपना यंत्र बनाकर हममें सभी कर्म करेगी। व्यक्तित्व का व्यष्टि-रूप केंद्र इहलोक में प्रकृति के कर्मों का भर्तामात्र होगा, यह उनका ग्रहीता तथा वाहन, उसकी शक्ति को प्रतिबिंबित करनेवाला तथा उसके प्रकाश, हर्ष तथा बल में ज्ञानपूर्वक भाग लेनेवाला होगा। यह कर्म करता हुआ भी अकर्ता रहेगा और निम्न प्रकृति की कोई भी प्रतिक्रिया इसे स्पर्श नहीं करेगी। प्रकृति के तीन गुणों का अतिक्रमण इस परिवर्तन की पहली अवस्था है, इनका रूपांतर इसकी अंतिम सीढ़ी है। इससे कर्मों का मार्ग हमारी तमसाच्छन्न मानवीय प्रकृति की संकीर्णता के गर्त में से निकलकर ऊर्ध्वस्थित सत्य तथा प्रकाश के अबाध विस्तार एवं बृहत् व्योम में आरोहण करता है।

ग्यारहवां अध्याय

कर्म का स्वामी

हमारे कर्मों का स्वामी और प्रेरक है वह 'एक', जो विराट् एवं परम है तथा सनातन एवं अनंत है। वह परात्पर, अविज्ञात या अज्ञेय परब्रह्म है, वह ऊर्ध्वस्थित, अप्रकट एवं अव्यक्त अनिर्वचनीय देव है; साथ ही वह सर्वभूत की आत्मा, सब लोकों का स्वामी, सब लोकों से अतीत, प्रकाशस्वरूप तथा पथप्रदर्शक, सर्वसुन्दर एवं आनंदघन, प्रेमी और प्रेम-भाजन भी है। वह विश्वात्मा है तथा हमारे चारों ओर की यह सब स्रष्ट्री शक्ति भी है; वह हमारे भीतर अन्तर्यामी देव है। जो कुछ भी है वह सब वही है, और जो कुछ है उस सबसे भी वह 'अधिक' है। हम स्वयं, चाहे हम इसे जानते नहीं, उसकी सत्ता की सत्ता एवं उसकी शक्ति की शक्ति हैं और उसकी चेतना से निर्गत चेतना के द्वारा ही चेतन हैं। हमारी मर्त्य सत्ता भी उसके सत्तत्त्व में से बनी है और हमारे अंदर एक अमर सत्ता भी है जो सनातन प्रकाश और आनन्द का स्फुलिंग है। अपनी सत्ता के इस सत्य को चाहे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति से या अन्य किसी भी साधन से जानना तथा उपलब्ध करना और यहां या और कहीं इसे कार्यक्षम बनाना ही योगमात्र का लक्ष्य है।

*

परंतु सुदीर्घ यात्रा तथा कठिन प्रयास के उपरांत ही हम सत्य का साक्षात् करनेवाली आंखों से भगवान् को देख पाते हैं, और यदि हम उसके सच्चे स्वरूप के अनुरूप अपने को फिर से गढ़ना चाहें तो हमें और भी दीर्घ काल तक तथा अधिक विकट पुरुषार्थ करना होगा। कर्म का स्वामी अपने आपको जिज्ञासु के समक्ष तुरंत ही प्रकाशित नहीं कर देता। चाहे बराबर ही उसी की शक्ति पर्दे के पीछे से कार्य कर रही होती है, किंतु वह प्रकट तभी होती है जब हम कर्तृत्व का अहंकार त्याग देते हैं, और जितना ही यह त्याग अधिकाधिक मूर्त्त होता जाता है उस शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया उतनी ही बढ़ती चली जाती है। किंतु उसकी पूर्ण उपस्थिति में निवास करने का अधिकार हमें तभी प्राप्त होगा जब उसकी दिव्य शक्ति के प्रति हमारा समर्पण पूर्ण हो जायगा। तभी हम यह भी देख सकेंगे कि हमारा कर्म अपने आपको एक सहज-स्वाभाविक तथा पूर्ण रूप से भागवत संकल्प के सांचे में ढाल रहा है।

अतएव इस पूर्णता की प्राप्ति में कुछ क्रम और सोपान अवश्य होने चाहियें जैसे कि प्रकृति के किसी भी स्तर पर अन्य समस्त पूर्णता की ओर प्रगति में होते हैं। इसकी पूर्ण गरिमा का अन्तर्दर्शन हमें पहले भी, एकाएक या शनैः शनैः, एक बार या अनेक बार, प्राप्त हो सकता है, परंतु जब तक आधारशिला पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो जाती, तब तक यह एक अल्पकालिक और केंद्रित अनुभूति ही होती है, स्थायी और सर्वतोव्यापी अनुभूति एवं शाश्वत उपस्थिति नहीं। भागवत उन्मेष के विशाल और अनन्त वैभव तो बाद में ही प्राप्त होते हैं और अपना बल-माहात्म्य शनैः शनैः अनावृत करते हैं। अथवा, एक स्थिर अन्तर्दर्शन भी हमारी प्रकृति के शिखरों पर विद्यमान हो सकता है किंतु निम्नतर अंगों का पूर्ण प्रत्युत्तर तो क्रमशः ही प्राप्त होता है। सभी योगों में सर्वप्रथम आवश्यक वस्तुएं हैं—श्रद्धा और धैर्य। यदि हृदय की उत्कण्ठाएं और उत्सुक संकल्प की उग्रताएं,—जो स्वर्ग के राज्य को बलपूर्वक

अपने अधिकार में कर लेना चाहती हैं,–इन अधिक विनीत और शांत सहायकों को अपनी प्रचंडता का आधार बनाने से घृणा करें, तो वे दुःखदायी प्रतिक्रियाएं पैदा कर सकती हैं। इस दीर्घ और कठिन पूर्णयोग के लिये सर्वांगीण श्रद्धा एवं अविचल धैर्य का होना अत्यंत आवश्यक है।

परंतु हृदय तथा मन की अधीरता और हमारी राजस प्रकृति की उत्सुक पर स्खलनशील इच्छाशक्ति के कारण योग के विषम एवं संकीर्ण पथ पर इस श्रद्धा तथा धैर्य का उपार्जन वा अभ्यास करना कठिन होता है। प्राणिक प्रकृति का मनुष्य सदा ही अपने परिश्रम के फल के लिये तरसता है और यदि उसे ऐसा लगता है कि फल देने से इन्कार किया जा रहा है या इसमें बहुत देर लगायी जा रही है तो वह आदर्श तथा पथप्रदर्शन में विश्वास करना छोड़ देता है। कारण, उसका मन सदा पदार्थों की बाह्य प्रतीति के द्वारा ही निर्णय करता है, क्योंकि यह उस बौद्धिक तर्क का प्रमुख और दृढ़ स्वभाव है जिसमें वह इतना अपरिमित विश्वास करता है। जब हम चिरकाल तक कष्ट भोगते या अंधेरे में ठोकरें खाते हैं तब अपने हृदयों में भगवान् को कोसने से अथवा जो आदर्श हमने अपने सामने रखा है उसे त्याग देने से अधिक आसान हमारे लिये और कुछ नहीं होता। कारण, हम कहते हैं, "मैंने सर्वोच्च सत्ता पर विश्वास किया है और मेरे साथ विश्वासघात करके मुझे दुःख, पाप और भ्रांति के गर्त में गिरा दिया गया है।" अथवा, "मैंने एक ऐसे विचार पर अपने सारे जीवन की बाजी लगा दी है जिसे अनुभव के दृढ़ तथ्य खंडित तथा निरुत्साहित करते हैं। यह अधिक अच्छा होता कि मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे आदमी हैं जो अपनी सीमाएं स्वीकार करते हैं और सामान्य अनुभव के स्थिर आधार पर विचरण करते हैं।" ऐसी घड़ियों में–और ये कभी कभी बारम्बार आती हैं और देर तक रहती हैं–समस्त उच्चतर अनुभव विस्मृत हो जाता है और हृदय अपनी कटुता में डूब जाता है। यहां तक कि इन अंधेरे रास्तों में हम सदा के लिये पतित भी हो सकते हैं अथवा दिव्य संघर्ष से पराङ्मुख हो सकते हैं।

परंतु यदि कोई पथ पर दूर तक तथा दृढ़ता से चल चुका हो तो हृदय की श्रद्धा उग्र से उग्र विरोधी दबाव में भी स्थिर रहेगी; यह आच्छादित या प्रत्यक्षतः अभिभूत भले ही हो जाय तो भी, यह पहला अवसर पाते ही फिर उभर आवेगी। कारण, हृदय या बुद्धि से ऊंची कोई वस्तु इसे अतिनिकृष्ट पतनों के होते हुए भी तथा अत्यंत दीर्घकालीन विफलता में भी सहारा देगी। परंतु ऐसी दुर्बलताएं या अंधकार की अवस्थाएं एक अनुभवी साधक की प्रगति में भी व्याघात पहुंचाती हैं और नौसिखुए के लिये तो ये अत्यंत ही भयानक होती हैं। अत-एव यह आरंभ से ही आवश्यक होता है कि हम इस पथ की विकट कठिनाई को समझें और इसे अंगीकार करें तथा उस श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करें जो बुद्धि को भले ही अंध प्रतीत होती हो फिर भी हमारी तर्कशील बुद्धि से अधिक ज्ञानपूर्ण होती है। कारण, श्रद्धा ऊपर से मिलनेवाला अवलंब है; यह उस गुप्त ज्योति की उज्ज्वल छाया है जो बुद्धि और इसके ज्ञात तथ्यों से अतीत है। यह उस निगूढ़ ज्ञान का हृदय है जो प्रत्यक्ष प्रतीतियों का दास नहीं है। हमारी श्रद्धा, अटल रहकर, अपने कर्मों में युक्तियुक्त सिद्ध होगी और अंत में दिव्य ज्ञान की स्वयंप्रकाशता में उन्नीत तथा रूपांतरित हो जायगी। हमें सदा ही गीता के इस आदेश का दृढ़ता से अनुसरण करना होगा कि "निराशा एवं अवसाद से

रहित हृदय के द्वारा योग का निरंतर अभ्यास करना चाहिये।"[1] सदा ही हमें संदेहशील बुद्धि के सम्मुख ईश्वर की यह प्रतिज्ञा दुहरानी होगी, "मैं तुझे समस्त पाप एवं अशुभ से निश्चित-रूपेण मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर।" अंत में, श्रद्धा की चंचलता दूर हो जायगी; क्योंकि हम भगवान् की मुखछवि निहार लेंगे और भागवत उपस्थिति को अनवरत अनुभव करेंगे।

*

हमारे कर्मों का स्वामी जब हमारी प्रकृति का रूपांतर कर रहा होता है तब भी वह इसका मान करता है; वह सदा हमारी प्रकृति के द्वारा ही अपनी क्रिया करता है, मन की मौज के अनुसार नहीं। हमारी इस अपूर्ण प्रकृति में हमारी पूर्णता की सामग्री भी निहित है, पर वह अविकसित, विकृत तथा स्थानभ्रष्ट है और अव्यवस्था या त्रुटिपूर्ण दुर्व्यवस्था के साथ एक ही जगह पटकी हुई है। इस सब सामग्री को धैर्यपूर्वक पूर्ण बनाना है, शुद्ध, पुनर्व्यवस्थित, नव-घटित तथा रूपांतरित करना है; इसे न तो छिन्न-भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट वा क्षत-विक्षत करना है और न कोरे बलात्कार वा इन्कार से मिटा ही देना है। यह संसार तथा इसमें रहनेवाले हम सब उसी की रचना एवं अभिव्यक्ति हैं, और वह इसके साथ तथा हमारे साथ ऐसे ढंग से बर्ताव करता है जिसे हमारा क्षुद्र एवं अज्ञ मन तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह शांत होकर दिव्य ज्ञान के प्रति उन्मुक्त न हो जाय। हमारी भूलों में भी एक ऐसे सत्य का उपादान रहता है जो हमारी अन्धान्वेषक बुद्धि के प्रति अपना अर्थ प्रकाशित करने का यत्न करता है। मानव बुद्धि भूल को अपने अंदर से निकालती है पर साथ ही साथ सत्य को भी निकाल फेंकती है और उसके स्थान पर एक और अर्द्ध-सत्य अर्द्ध-भ्रांति को ला बिठाती है। परंतु भागवत प्रज्ञा हमारी भूलों को तब तक बनी रहने देती है जब तक हम प्रत्येक मिथ्या आवरण के नीचे गुप्त और सुरक्षित रखे हुए सत्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो जाते। हमारे पाप उस अन्वेषक शक्ति के भ्रांत पग होते हैं जिसका लक्ष्य पाप नहीं वरन् पूर्णत्व होता है अथवा एक ऐसा कर्म होता है जिसे हम दिव्य पुण्य कह सकते हैं। बहुधा वे एक ऐसे गुण को ढकनेवाले पर्दे होते हैं जिसे रूपांतरित करके इस भद्दे आवरण से मुक्त करना होता है; अन्यथा, वस्तुओं के पूर्ण विधान में, उन्हें पैदा होने या रहने ही न दिया जाता। हमारे कर्मों का स्वामी न तो प्रमादी है न उदासीन साक्षी और न ही अनावश्यक बुराइयों की रंगरलियों से मन बहलानेवाला, वह हमारी बुद्धि से अधिक ज्ञानी है, वह हमारे पुण्य से भी अधिक ज्ञानी है।

यही नहीं कि हमारी प्रकृति इच्छाशक्ति की दृष्टि से भ्रांत तथा ज्ञान की दृष्टि से अज्ञ है बल्कि शक्ति की दृष्टि से दुर्बल भी है। किंतु भागवती शक्ति संसार में विद्यमान है और यदि हम उसपर विश्वास रखें तो वह हमें मार्ग दिखावेगी और हमारी दुर्बलताओं तथा हमारी क्षमताओं को दिव्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त करेगी। यदि हम अपने तात्कालिक लक्ष्य में असफल होते हैं तो वह इसलिये कि असफलता ईश्वर को अभिमत होती है। प्रायः हमारी विफलता या दुष्परिणाम ही ठीक मार्ग होता है जिससे हमें तात्कालिक एवं पूर्ण सफलता से प्राप्य फल की अपेक्षा अधिक सच्चा फल प्राप्त होता है। यदि हम दुख भोगते हैं तो वह इसलिये कि हमारे अंदर के किसी भाग को आनंद की एक अधिक दुर्लभ संभावना के लिये

---

[1] स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। गीता ६–२३

तैयार करना होता है। यदि हम ठोकर खाते हैं तो इसलिये कि अंत में अधिक पूर्ण ढंग से चलने का रहस्य जान जायं। शांति, पवित्रता और पूर्णता प्राप्त करने के लिये भी हमें अति प्रचण्ड रूप में उतावले नहीं हो जाना चाहिये। शांति हमारी संपदा अवश्य होनी चाहिये, परंतु एक रिक्त या लुण्ठित प्रकृति की अथवा उन घातित या अपंग शक्तियों की शांति नहीं जो चेष्टा करने में समर्थ ही नहीं रहतीं, क्योंकि हम उन्हें बल, ओज और तेज के अयोग्य बना डालते हैं। पवित्रता हमारा लक्ष्य अवश्य होनी चाहिये, किंतु एक शून्य या निरानन्द एवं कठोर उदासीनता की पवित्रता नहीं। पूर्णता की हमसे मांग की जाती है, पर उस पूर्णता की नहीं जो अपने क्षेत्र को संकुचित सीमाओं में घेरकर अथवा अनन्त के नित्य-विस्तारशील कुंडल को मनमाने ढंग से छोटा करके ही अस्तित्व रख सकती है। हमारा लक्ष्य दिव्य प्रकृति में रूपांतरित होना है, परंतु दिव्य प्रकृति कोई मानसिक या नैतिक नहीं वरन् एक आध्यात्मिक अवस्था है जिसकी उपलब्धि करना यहां तक कि कल्पना करना भी हमारी बुद्धि के लिये कठिन है। हमारे कर्म तथा हमारे योग का स्वामी यह जानता है कि उसे क्या करना है, और हमारा कर्तव्य है कि हम उसे उसी की साधन-सामग्री तथा उसी की प्रणाली से अपने भीतर कार्य करने का अवकाश दें।

अज्ञान की गति मूलतः अहंकारमय होती है और जब हम अभी अपनी अनिष्पन्न प्रकृति के अर्द्ध-प्रकाश एवं अर्द्ध-बल में व्यक्तित्व को अंगीकार करते तथा कर्म में आसक्त होते हैं तब अहंकार से छुटकारा पाना हमारे लिये एक अत्यंत कठिन कार्य होता है। कर्म करने की प्रवृत्ति का त्याग कर अहं को भूखों मारना अथवा व्यक्तित्व की समस्त क्रिया से संबंध-विच्छेद कर अहं का नाश कर डालना अपेक्षाकृत सुगम है। इसे शांतिमय समाधि में या दिव्य प्रेम के परमानंद में निमग्न आत्म-विस्मृति के स्तर पर ऊंचा उठा ले जाना भी अपेक्षाकृत सरल है। परंतु सच्चे 'पुरुष' को विमुक्त करके एक ऐसी दिव्य मानवता प्राप्त करना जो दिव्य बल का शुद्ध आधार तथा दिव्य कर्म का पूर्ण यंत्र हो, एक अधिक कठिन समस्या है। एक के बाद एक सभी सोपानों को दृढ़ता से पार करना होगा; एक के बाद एक सभी कठिनाइयों का पूरी तरह से अनुभव करना और उन्हें पूरी तरह से जीतना होगा। दिव्य प्रज्ञा और शक्ति ही हमारे लिये यह कार्य कर सकती है और वह ऐसा करेगी ही यदि हम पूर्ण श्रद्धा से उसके चरणों में नतमस्तक होकर दृढ़ साहस तथा धैर्य के साथ उसकी कार्यप्रणालियों को हृदयंगम करें और उन्हें अपनी सहमति दें।

इस दीर्घ पथ का प्रथम सोपान यह है कि हम अपने सभी कर्म अपने में तथा जगत् में विद्यमान भगवान् को यज्ञ-रूप में अर्पित करें। यह अर्पण मन तथा हृदय का भाव है; इसमें प्रथम प्रवेश तो इतना कठिन नहीं, किंतु इसे पूर्ण रूप में सच्चा एवं व्यापक बनाना अत्यंत कठिन है। द्वितीय सोपान है अपने कर्मों के फल में आसक्ति का परित्याग। कारण, यज्ञ का एकमात्र सच्चा, अवश्यंभावी तथा परम स्पृहणीय फल–एकमात्र आवश्यकीय वस्तु–यही है कि हमारे भीतर भागवत उपस्थिति एवं भागवत चेतना तथा शक्ति प्रकट हो और यदि यह फल उपलब्ध हो जाय तो और सब कुछ स्वयमेव प्राप्त हो जायगा। तृतीय सोपान है केंद्रीय अहंभाव तथा कर्तृत्व के अहंकार से भी छुटकारा प्राप्त करना। यह सबसे कठिन रूपांतर है और यदि पहले दो सोपान पार न कर लिये गये हों तो इसे पूर्णतया संपन्न किया ही नहीं जा सकता। पर वे प्रारंभिक सोपान भी तब तक पार नहीं हो सकते जब तक रूपांतर

की इस गति को सफल बनाने के लिये तीसरा सोपान प्रारंभ नहीं हो जाता और यह अहंभाव का विनाश कर कामना के असली मूल का ही उन्मूलन नहीं कर देता। जब कोई जिज्ञासु अपने क्षुद्र अहंभाव को अपनी प्रकृति में से निकाल फेंकता है तभी वह उस सच्चे पुरुष को जान सकता है जो भगवान् के अंश और शक्ति के रूप में ऊपर अवस्थित है और तभी वह भागवत शक्ति के संकल्प से भिन्न अन्य समस्त प्रेरक-शक्ति का परित्याग भी कर सकता है।

*

सर्वांगीण सिद्धि प्रदान करनेवाली इस अंतिम गति के कई सोपान हैं; क्योंकि यह एकदम या उन लंबे प्रवेश-पथों के बिना पूरी नहीं की जा सकती जो इसे उत्तरोत्तर निकट ले आते हैं तथा अंत में इसे संभव बना देते हैं। सर्वप्रथम हमें यह भाव धारण करना होगा कि हम अपने आपको कर्त्ता समझना छोड़ दें और दृढ़तापूर्वक यह अनुभव करें कि हम तो वैश्व शक्ति के केवल एक यंत्र हैं। प्रारंभ में ऐसा दीख पड़ता है कि एक ही शक्ति नहीं वरन् अनेक वैश्व शक्तियां हमें चला रही हैं। किंतु इन्हें अहं की पोषक शक्तियों के रूप में भी परिणत किया जा सकता है और यह दृष्टि मन को तो मुक्त कर देती है पर शेष प्रकृति को मुक्त नहीं करती। जब हमें यह ज्ञान हो जाय कि सब कुछ एक ही वैश्व शक्ति का तथा उसके मूल में विराजमान भगवान् का व्यापार है तब भी यह आवश्यक नहीं कि यह ज्ञान सारी प्रकृति को मुक्त कर ही देगा। यदि कर्तृत्व का अहंकार लुप्त हो जाय तो यंत्रभाव का अहंकार इसका स्थान ले सकता है या एक छद्मवेश में इसी को जारी रख सकता है। जगत् का जीवन इस प्रकार के अहंभाव के दृष्टांतों से भरा पड़ा है और यह अन्य किसी भी अहंभाव की अपेक्षा अधिक ग्रस्त करनेवाला तथा अधिक घोर हो सकता है। यही भय योग में भी है। कोई मनुष्य मनुष्यों का नेता बन जाता है अथवा किसी बड़े या छोटे क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हो जाता है और अपने को एक ऐसी शक्ति से पूर्ण अनुभव करता है जो उसकी समझ में उसके अपने अहं-बल से परतर होती है। वह अपने द्वारा काम करनेवाले एक दैव से अथवा एक गुह्य एवं अगम संकल्पशक्ति या एक अतिभास्वर अन्तर्ज्योति से सचेतन हो सकता है। ऐसे मनुष्य के विचारों और कार्यों अथवा उसकी सर्जनशील प्रतिभा के असाधारण परिणाम होते हैं। वह या तो एक बड़ा भारी विनाश करता है जो मानवता के लिये पथ प्रशस्त कर देता है अथवा वह एक महान् निर्माण करता है जो मानवजाति का एक क्षणिक पड़ाव होता है। वह या तो दण्ड देनेवाला होता है या प्रकाश एवं सुख का वाहक, या तो सौंदर्य का स्रष्टा होता है या ज्ञान का अग्रदूत। अथवा, यदि उसका कार्य तथा उस कार्य के परिणाम अपेक्षाकृत कम महान् हों और यदि उनका क्षेत्र भी सीमित हो तो भी उसके अंदर यह भाव प्रबल रूप में रहता है कि वह एक यंत्र है और अपने भगवदीय कार्य या अपने प्रयास के लिये चुना हुआ है। जो लोग ऐसे भाग्य तथा इन शक्तियों से संपन्न होते हैं वे अपने को सहज में ही ईश्वर या नियति के हाथों के निमित्तमात्र मानने तथा घोषित करने लगते हैं। परंतु उस घोषणा में भी हम देख सकते हैं कि एक इतना अधिक तीव्र एवं बढ़ा-चढ़ा अहंकार भीतर घुस सकता या आश्रय पा सकता है जिसे घोषित करने का साहस या अपने अंदर आश्रय देने का सामर्थ्य साधारण मनुष्यों में नहीं होता। बहुधा यदि इस प्रकार के लोग ईश्वर की बात करते हैं तो ऐसा वह उसकी एक ऐसी प्रतिमूर्त्ति खड़ी करने के लिये

ही करते हैं जो वास्तव में स्वयं उनके या उनकी अपनी प्रकृति के विशाल प्रतिबिंब के सिवाय और उनके अपने विशिष्ट प्रकार के संकल्प, विचार, गुण तथा बल के पोषक दैविक सार के सिवाय और कुछ नहीं होती। उनके अहं का यह परिवर्द्धित आकार ही वह स्वामी होता है जिसकी वे सेवा करते हैं। योग में, प्रबल पर असंस्कृत प्राणिक प्रकृति या मनवाले उन लोगों के साथ जो चटपट ऊंचे उठ जाते हैं ऐसा प्रायः ही होता है जब कि वे महत्त्वाकांक्षा, अभिमान या बड़े बनने की कामना को अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा में घुसने देते हैं तथा उसके द्वारा इसके प्रेरकभाव की शुद्धता को कलुषित होने देते हैं। वास्तव में उनके और उनकी सच्ची सत्ता के बीच में एक परिवर्द्धित अहं स्थित होता है। यह अहं उस, दिव्य या अदिव्य, महत्तर अगोचर शक्ति से, जो उनके द्वारा काम कर रही होती है और जिससे वे अस्पष्ट या तीव्र रूप में सचेतन हो जाते हैं, अपने वैयक्तिक प्रयोजन के लिये बल आयत्त कर लेता है। अतः, इस प्रकार का बौद्धिक ज्ञान या प्राणगत बोध कि एक शक्ति है जो हमसे महत्तर है और हम उसी से परिचालित होते हैं, हमें अहं से मुक्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है।

यह ज्ञान अथवा यह-बोध कि हममें या हमारे ऊपर एक महत्तर शक्ति विद्यमान है और वह हमें चला रही है कोई भ्रम या गर्वोन्माद नहीं होता। जिन्हें ऐसा अनुभव एवं साक्षात्कार होता है उनकी दृष्टि साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विशाल होती है और वे सीमित स्थूल बुद्धि से एक पग आगे बढ़े हुए होते हैं, परंतु उनकी दृष्टि पूर्ण दृष्टि या साक्षात् अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उनके मन में स्पष्टता वा ज्ञान-ज्योति तथा उनकी आत्मा में सचेतनता नहीं होती, और क्योंकि उनकी जागृति आत्मा के आध्यात्मिक तत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक प्राणमय भागों में ही होती है, वे भगवान् के सचेतन यंत्र नहीं बन सकते अथवा अपने स्वामी का साक्षात्कार नहीं कर सकते, बल्कि भगवान् ही उन्हें उनकी भ्रांतिशील तथा अपूर्ण प्रकृति के द्वारा अपने उपयोग में लाते हैं। देवत्व को वे अधिक से अधिक दैव या एक वैश्व शक्ति के रूप में ही देखते हैं अथवा वे एक सीमित देव को या, इससे भी निकृष्ट रूप में, एक दानवीय या राक्षसी शक्ति को, जो उसे छिपाये होती है, देव का नाम दे देते हैं। यहां तक कि कई धर्म-संस्थापकों ने भी एक साम्प्रदायिक ईश्वर या राष्ट्रीय ईश्वर की, अथवा आतंक एवं दण्ड की किसी शक्ति की या सात्त्विक प्रेम, दया और पुण्य के देवता की प्रतिमा खड़ी कर दी है और प्रतीत होता है कि एकमेव और सनातन का साक्षात्कार उन्होंने नहीं किया है। भगवान् उस प्रतिमा को स्वीकार कर लेते हैं जो वे उनकी बनाते हैं और उस माध्यम के द्वारा उनमें अपना कार्य करते हैं। परंतु क्योंकि वह एक शक्ति उन्हें अपने अंदर दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप में अनुभूत होती है और उनकी अपूर्ण प्रकृति में वह अधिक प्रबलता से कार्य करती है, अहंभाव का प्रेरक तत्त्व भी उनके अंदर दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कट हो सकता है। एक उन्नत राजसिक या सात्त्विक अहंभाव अभी भी उन्हें अपने अधिकार में किये होता है और उनके तथा सर्वांगीण सत्य के बीच में आड़े आता है। यह भी एक वस्तु अवश्य है, एक आरंभ अवश्य है, चाहे सत्य और पूर्ण अनुभव से यह अभी दूर ही है। जो लोग मानवीय बंधनों को थोड़ा बहुत तोड़ डालते हैं किंतु पवित्रता और ज्ञान से रहित होते हैं, उनकी तो और भी अधिक दुर्दशा हो सकती है, क्योंकि वे यंत्र तो बन सकते हैं, पर भगवान् के नहीं; बहुधा वे भगवान् के नाम पर 'वृत्रों' की, अर्थात् उसके आवरणों तथा काले विरोधियों एवं अंधकार की शक्तियों की ही अनजान में सेवा करते हैं।

हमारी प्रकृति को अपने में वैश्व शक्ति की प्रतिष्ठा अवश्य करनी चाहिये किंतु इसके निम्नतर रूप में अथवा इसकी राजसिक वा सात्त्विक गतिवाले रूप में नहीं; इसे वैश्व संकल्प की सेवा अवश्य करनी चाहिये, पर एक महत्तर मोक्षकारी ज्ञान के प्रकाश में। हमारे यंत्रत्व के भाव में किसी प्रकार का अहंकार कदापि नहीं होना चाहिये, तब भी नहीं जब हम अपनी अन्तःस्थ शक्ति की महत्ता से पूर्णतः सचेतन हों। प्रत्येक मनुष्य, सचेतन रूप से हो या अचेतन रूप से, एक वैश्व शक्ति का यंत्र है और किसी एक तथा दूसरे कार्य में एवं किसी एक तथा दूसरे प्रकार के यंत्र में आभ्यंतर उपस्थिति के सिवाय और कोई ऐसा सारभूत भेद नहीं होता जो अहंमूलक अभिमान की मूर्खता को उचित ठहरा सके। ज्ञान और अज्ञान में अंतर केवल आत्मा की कृपा का ही होता है; भागवत शक्ति का प्राण जिसे वरण करता है उसी में वह प्रवाहित होता है और आज एक को तथा कल किसी दूसरे को वाणी या बल से पूरित कर देता है। यदि कुंभकार एक पात्र दूसरे की अपेक्षा अधिक पूर्णता से गढ़ता है तो उसका श्रेय पात्र को नहीं बल्कि निर्माता को होता है। हमारे मन का भाव यह नहीं होना चाहिये कि "यह मेरा बल है" अथवा देखो "मुझमें ईश्वर की शक्ति", वरन् यह कि "इस मन तथा शरीर में भागवती शक्ति कार्य कर रही है और यह वही है जो सभी मनुष्यों तथा प्राणियों में, पौधे तथा धातु में, सचेतन तथा सजीव वस्तुओं में और अचेतन तथा निर्जीव प्रतीत होनेवाली वस्तुओं में भी कार्य करती हैं।" एक ही देव सबमें कार्य कर रहा है और संपूर्ण संसार समान रूप से एक दिव्य कर्म तथा क्रमिक आत्म-अभिव्यक्ति का यंत्र है—यह विशाल दृष्टि यदि हमारी अखंड अनुभूति बन जाय तो यह हमें अपने अंदर से समस्त राजसिक अहंकार को निकाल डालने में सहायक होगी और फिर सात्त्विक अहं-बुद्धि भी हमारी प्रकृति से क्रमशः दूर होने लगेगी। अहं के इस रूप का परित्याग हमें सीधा उस वास्तविक यंत्रीय कार्य की ओर ले जाता है जो सर्वांगीण कर्मयोग का मूलतत्त्व है। कारण, जब हम यंत्रभाव के अहंकार का पोषण कर रहे होते हैं, तब हम अपने निकट तो यह दावा कर सकते हैं कि हम भगवान् के सचेतन यंत्र हैं, पर वास्तव में हम भागवत शक्ति को अपनी कामनाओं या अपने अहंमूलक प्रयोजन का यंत्र बनाने का यत्न कर रहे होते हैं। यदि अहं को वश में कर लिया जाय पर इसका उन्मूलन न किया जाय तो हम दिव्य कर्म के इंजन तो अवश्य बन सकते हैं, पर हम अपूर्ण उपकरण ही रहेंगे और अपने मन की भूलों, प्राण की विकृतियों या भौतिक प्रकृति की हठीली दुर्बलताओं के द्वारा शक्ति की क्रिया को पथच्युत या क्षत-विक्षत ही कर देंगे। यदि यह अहं नष्ट हो जाय तो हम सच्चे अर्थों में ऐसे शुद्ध यंत्र बन सकते हैं जो हमें चलानेवाले दिव्य हस्त की प्रत्येक गति को सचेतन रूप से अंगीकार करेंगे, इतना ही नहीं बल्कि हम अपनी सच्ची प्रकृति से सज्ञान भी हो सकते हैं, उस एकमेव सनातन तथा अनंत के ऐसे सचेतन अंश बन सकते हैं जिन्हें परम शक्ति ने अपने अंदर अपने कार्यों के लिये प्रसारित किया है।

★

अपना यंत्र-स्वरूप अहं भागवती शक्ति को समर्पित करने के बाद एक और महत्तर सोपान पार करना होता है। भागवती शक्ति के इस रूप का ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि यही वह एकमात्र वैश्व शक्ति है जो मन, प्राण तथा जड़ के स्तर पर हमें तथा सब प्राणियों को प्रचालित करती है। कारण, यह तो निम्नतर प्रकृति है और, यद्यपि भागवत ज्ञान, प्रकाश

एवं बल अज्ञान में भी निगूढ़ तथा क्रियाशील रूप में विद्यमान हैं और इसके आवरण को कुछ भेद करके अपना सत्य-स्वरूप यत्किंचित् व्यक्त कर सकते हैं अथवा ऊपर से अवतीर्ण होकर इन हीन क्रियाओं को ऊंचा उठा सकते हैं, तथापि अपने अध्यात्म-भावित मन, अध्यात्म-भावित प्राण-गति और अध्यात्म-भावित देह-चेतना के अंदर हमें एकमेव का अनुभव हो जाने पर भी, हमारे क्रियाशील अंगों में अपूर्णता बनी ही रहती है । परम शक्ति के प्रति हमारा प्रत्युत्तर तब भी स्खलनशील होता है, भगवान् का मुखमंडल तब भी आवृत रहता है और अज्ञान का सतत मिश्रण भी बना ही रहता है। भागवत शक्ति के बल एवं ज्ञान के पूर्ण यंत्र तो हम तभी बन सकते हैं यदि हम उसके प्रति—इस निम्न प्रकृति का अतिक्रम करने-वाले उसके सत्य स्वरूप के प्रति—उन्मीलित हो जायं।

केवल मुक्ति ही नहीं अपितु परिपूर्णता कर्मयोग का लक्ष्य होनी चाहिये। भगवान् हमारी प्रकृति द्वारा तथा हमारी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करता है; यदि हमारी प्रकृति अपूर्ण हो तो भगवान् का कर्म भी अपूर्ण, मिश्रित एवं अयुक्त होगा। यहां तक कि वह स्थूल भ्रांतियों, असत्यों, नैतिक दुर्बलताओं और विक्षेपक प्रभावों से व्याहत भी हो सकता है। भगवान् का कर्म हमारे अंदर तब भी होता रहेगा, पर होगा हमारी दुर्बलताओं के अनुसार, अपने उद्गम की शक्ति और पवित्रता के अनुसार नहीं। यदि हमारा योग सर्वांगीण योग न होता, यदि हमें अपनी अंतःस्थित आत्मा की मुक्ति, या प्रकृति से वियुक्त पुरुष की निश्चल सत्ता ही अभीष्ट होती, तो इस व्यावहारिक अपूर्णता की हमें कुछ भी परवा न होती। शांत, अक्षुब्ध, हर्ष और विषाद से रहित, पूर्णता और अपूर्णता, गुण और दोष तथा पाप और पुण्य को अपना न मानते हुए, और यह अनुभव करते हुए कि प्रकृति के गुण ही अपने क्षेत्र में कार्य करते हुए यह मिश्रण पैदा करते हैं, हम आत्मा की नीरवता में प्रतिगमन कर सकते थे और शुद्ध एवं निर्लिप्त रहकर केवल साक्षी की भांति प्रकृति के व्यापारों को देख सकते थे। परंतु सर्वांगीण उपलब्धि में यह निश्चलता हमारे मार्ग का एक सोपानमात्र हो सकती है, अंतिम पड़ाव नहीं, क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्मसत्ता की स्थितिशीलता में ही नहीं वरन् प्रकृति की गति में भी दिव्य चरितार्थता उपलब्ध करना है। ऐसा पूरी तरह से तब तक नहीं हो सकता जब तक हम अपने कार्यों के प्रत्येक पग में तथा इनकी प्रत्येक गतिविधि और रूप-रेखा में, अपने संकल्प के प्रत्येक झुकाव तथा प्रत्येक विचार, भाव एवं आवेग में भगवान् की उपस्थिति और शक्ति को अनुभव नहीं कर लेते। इसमें संदेह नहीं कि एक दृष्टि से हम अज्ञान की प्रकृति में भी भगवान् की उपस्थिति एवं शक्ति का अनुभव कर सकते हैं, परंतु वह होगी एक प्रच्छन्न दिव्य शक्ति तथा उपस्थिति, एक वामनाकृति एवं क्षुद्र मूर्त्ति। हमारी मांग इससे बहुत बड़ी है, वह यह कि हमारी प्रकृति भगवान् के परम सत्य एवं परा ज्योति में, नित्य आत्म-सचेतन संकल्प की शक्ति, और सनातन ज्ञान की बृहत्ता में भगवान् की ही एक विभूति बन जाय।

अहं का पर्दा हटाने के बाद प्रकृति और इसके उन निम्नतर गुणों का पर्दा हटाना होता है जो हमारे तन-मन-जीवन पर शासन करते हैं। अहं की सीमाएं ज्योंही लुप्त होने लगती हैं त्योंही हमें पता चल जाता है कि वह पर्दा किस चीज का बना हुआ है और हम अपने में विश्व-प्रकृति की क्रिया होती देखते हैं एवं विश्व-प्रकृति के भीतर या इसके मूल में विश्वात्मा की उपस्थिति तथा जगद्व्यापी ईश्वर की विराट् गति अनुभव करते हैं। यंत्र का

स्वामी इस अखिल क्रिया के पीछे अवस्थित है और इसके भीतर भी उसका स्पर्श किंवा उसके महान् पथप्रदर्शक या प्रवर्तक प्रभाव की प्रेरणा उपस्थित रहती है। तब हम अहं या अहं-शक्ति की सेवा नहीं करते; हम जगत् के स्वामी और उसके विकाससंबंधी संवेग का अनुसरण करते हैं। पग पग पर हम संस्कृत के एक पद्य की भाषा में कहते हैं कि "मेरे हृदय में बैठे हुए आप मुझे जैसे प्रेरित करते हैं वैसे ही, हे स्वामिन्, मैं कार्य करता हूं।"[1] फिर भी वह कार्य दो अत्यंत भिन्न कोटियों का हो सकता है, एक तो वह जो केवल प्रकाश-युक्त होता है और दूसरा वह जो महत्तर एवं परा प्रकृति में रूपांतरित तथा उन्नीत हुआ होता है। कारण, हम अपनी प्रकृति द्वारा धारित तथा अनुसृत होकर कर्ममार्ग पर चलते चले जा सकते हैं और जहां पहले हम प्रकृति और इसके अहंता-रूपी भ्रम के द्वारा "यंत्रारूढ़ की भांति चलाये जाते थे", वहां अब हम इस बात को पूर्ण रूप से समझते हुए चल सकते हैं कि इस यंत्र की क्रिया क्या है और सब कर्मों के स्वामी, जिन्हें हम इस क्रिया के पीछे अनुभव करते हैं, अपने जागतिक प्रयोजनों के लिये इसका क्या उपयोग करते हैं। निश्चय ही यह वह अवस्था है जिसे अनेक महान् योगी भी आध्यात्मीकृत मन के स्तरों पर प्राप्त कर चुके हैं; परंतु यह आवश्यक नहीं कि हम सदा-सर्वदा ऐसी ही स्थिति में रहें, क्योंकि एक इससे भी महान् एवं अतिमानसिक संभावना विद्यमान है। अध्यात्मभावापन्न मन से ऊंचे उठ जाना तथा परमोच्च माता की आद्या भागवती सत्य-शक्ति की जीवंत उपस्थिति में सहज स्फुरणापूर्वक कर्म करना भी संभव है। हमारी गति उसकी गति से एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जायगी, हमारा संकल्प उसके संकल्प से एकीभूत, तथा हमारी शक्ति उसकी शक्ति में दायित्वमुक्त हो जायगी और हम अनुभव करेंगे कि वह हमारे द्वारा इस प्रकार कर्म कर रही है मानों परमा प्रज्ञा-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त साक्षात् भगवान् ही कर्म कर रहे हों। हमें अपने रूपांतरित मन, प्राण तथा शरीर ऐसे जान पड़ेंगे मानों वे अपनेसे अत्युच्च उस परा ज्योति एवं शक्ति की प्रणालिकाएंमात्र हों जो, अपने ज्ञान में परात्पर तथा परिपूर्ण होने के कारण, अपनी क्रिया-पद्धति में निर्भ्रांत हैं। हम इस ज्योति एवं शक्ति के वाहन, साधन तथा यंत्र ही नहीं अपितु एक परम उदात्त शाश्वत अनुभूति में इसके अंग बन जायंगे।

इस चरम पूर्णता तक पहुंचने से पहले ही, हम भगवान् के साथ अपने कर्मों में,—उसके अत्यंत ज्योतिर्मय शिखरों पर नहीं तो उसकी निरतिशय विशालता में,—मिलन लाभ कर सकते हैं। कारण, अब हम केवल प्रकृति या इसके गुणों को ही अनुभव नहीं करते, अपितु अपनी शारीरिक चेष्टाओं, स्नायविक एवं प्राणिक प्रतिक्रियाओं और मानसिक व्यापारों में एक ऐसी शक्ति को भी अनुभव कर लेते हैं जो शरीर, मन और प्राण से अधिक महान् है और जो हमारे सीमित करणों को अपने अधिकार में कर लेती और इनकी सभी गतियों का परिचालन करती है। अब हमें यह प्रतीति नहीं होती है कि हमीं गति कर रहे हैं और हमीं विचार या अनुभव कर रहे हैं वरन् यह कि वही हमारे अंदर गति, विचार और अनुभव कर रही है। यह शक्ति जिसे हम अनुभव करते हैं भगवान् की वैश्व शक्ति है, जो या तो आवृत रहती है या अनावृत, या तो स्वयं साक्षात् रूप में कार्य करती है या संसार के जीवों को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने देती है। यही एकमात्र सत् शक्ति है और

---

[1]त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

यही विश्वगत या व्यक्तिगत कार्य को संभव बनाती है। कारण, यह शक्ति तो स्वयं भगवान् ही है–अपनी शक्ति के विग्रह में। सब कुछ यह शक्ति ही है, सब कुछ कार्य की शक्ति, विचार एवं ज्ञान की शक्ति, प्रभुत्व एवं उपभोग की शक्ति और प्रेम की शक्ति ही है। प्रतिक्षण या प्रति वस्तु में, अपने में तथा दूसरों में, सचेतन रूप से यह अनुभव करते हुए कि सर्वकर्ममहेश्वर उनमें विद्यमान है तथा इस विराट् शक्ति से, जो शक्ति भी वह स्वयं ही है, सब वस्तुओं और सब घटनाओं को धारण करता है, इनमें निवास करता तथा इनका उपभोग करता है और इसी शक्ति द्वारा वह स्वयं इन सब वस्तुओं तथा सब घटनाओं के रूप में संभूत वा प्रकट होता है,–हम कर्मों द्वारा भागवत मिलन प्राप्त कर चुके होंगे और कर्मों में उपलब्ध इस कृतार्थता से वह सब भी अधिगत कर चुके होंगे जो कुछ दूसरों ने परा भक्ति या शुद्ध ज्ञान से उपलब्ध किया है। परंतु अभी भी एक और शिखर है जो हमें आहूत करता है, वह है–इस विश्वमय एकत्व से उठकर दिव्य परात्परता के एकत्व में आरोहण करना। हमारे कर्मों तथा हमारी सत्ता का स्वामी इहलोक में हमारा अंतर्यामी ईश्वर ही नहीं है, न ही वह विश्वात्मा या किसी प्रकार की सर्वव्यापी शक्तिमात्र है। जगत् और भगवान् बिलकुल एक ही चीज नहीं हैं, जैसा कि एक विशेष प्रकार के सर्वेश्वरवादी विचारकों का अभिमत है। जगत् अंशविभूति है; यह किसी ऐसी वस्तु पर अवलंबित है जो इसमें प्रकट तो होती है पर इससे सीमित नहीं हो जाती। भगवान् केवल यहां ही हों ऐसी बात नहीं; एक परतत्त्व का भी अस्तित्व है, अनंत परात्परता की भी अस्ति है। व्यष्टि-सत्ता भी, अपने आध्यात्मिक अंश में, वैश्व सत्ता के अंदर बनी हुई कोई रचना नहीं है–हमारा अहं, हमारा मन, प्राण और शरीर अवश्य ही ऐसी रचनाएं हैं; परंतु हमारे अंदर की नित्य निर्विकार आत्मा किंवा हमारा अविनाशी जीव परात्परता में से प्रादुर्भूत हुआ है।

★

वह परात्पर, जो सकल जगत् और संपूर्ण प्रकृति से परे है और फिर भी जगत् तथा इसकी प्रकृति का स्वामी है, जो अपने एकांश से इसमें अवतरित है और इसे एक अभूतपूर्व वस्तु में रूपांतरित कर रहा है,–वह हमारी सत्ता का भी मूल है और वही हमारे कर्मों का उद्गम एवं स्वामी भी है। परंतु परात्पर चेतना का धाम है ऊर्ध्व में, दिव्य सत्ता की केवलता में–और सनातन देव की परा शक्ति, सत्य एवं आनंद भी वहीं हैं; हमारा मन उस केवलता की तनिक भी कल्पना नहीं कर सकता और हमारा बड़े से बड़ा आध्यात्मिक अनुभव भी हमारे अध्यात्मभावित मन तथा हृदय में उस केवलता का एक क्षीण प्रतिबिंबमात्र होता है. उसकी एक मंद छाया एवं क्षुद्र शाखा ही होता है। तथापि इसीसे उद्भूत, ज्योति, शक्ति आनंद और सत्य का एक प्रकार का सौवर्ण प्रभामंडल भी विद्यमान है जिसे प्राचीन गुह्यदर्शियों की भाषा में दिव्य ऋत-चेतना, अतिमानस वा विज्ञान कह सकते हैं। इस अविद्याजन्य, हीनतर-चेतनामय जगत् का उस विज्ञान से गूढ़ संबंध है और वह विज्ञान ही इसे धारण करता तथा विघटित अस्तव्यस्त स्थिति में गिरने से बचाता है। जिन शक्तियों को हम आज प्रज्ञान, अंतर्ज्ञान या ज्ञानदीप्ति का नाम देकर संतोष कर लेते हैं वे तो केवल क्षीणतर प्रकाश हैं जिनका वह पूर्ण एवं जाज्वल्यमान उद्गम है। उच्चतम मानवीय बुद्धि के तथा उसके बीच आरोहणशील चेतना के अनेक स्तर हैं, उच्चतम मानसिक या अधिमानसिक स्तर हैं जिन्हें अधिकृत करने के बाद ही हम वहां पहुंच सकते हैं अथवा उसकी

महिमा-गरिमा यहां उतार ला सकते हैं। यह आरोहण अथवा यह विजय कठिन भले ही हो पर यह मानव आत्मा की नियति है और दिव्य सत्य का ज्योतिर्मय अवरोहण या अवतारण पृथ्वी-प्रकृति के कृच्छ्र विकास की एक अवश्यंभावी अवस्था है। वह उद्दिष्ट पूर्णता ही मानव आत्मा के अस्तित्व का हेतु है, हमारी सर्वोच्च अवस्था तथा हमारे पार्थिव जीवन का मर्म है। कारण, यद्यपि परात्पर भगवान् हमारी रहस्यमयता के गुह्य हृदय में पुरुषोत्तम के रूप में यहां पहले से ही विराजमान है, तथापि वह अपनी संमोहिनी विश्वव्यापी योगमाया के नाना आवरणों एवं छद्मवेशों के द्वारा आवृत है। इहलोक में इस देह के भीतर आत्मा के आरोहण एवं विजय से ही ये आवरण-पट खुल सकते हैं, और अर्द्ध-सत्य का यह उलझा हुआ बाना जो सर्जनकारी भ्रम बन जाता है तथा यह उदयनशील ज्ञान जो जड़-तत्त्व की निश्चेतना में डुबकी लगाकर धीमे धीमे थोड़ा थोड़ा अपनी ओर लौटता हुआ एक प्रबल अज्ञान में परिणत हो जाता है—इन दोनों के स्थान पर परम सत्य की क्रियाशीलता प्रतिष्ठित हो सकती है।

कारण, यहां इस जगत् के अंदर विज्ञान सत्ता के मूल में गुप्त रूप से चाहे विद्यमान है, किंतु जो शक्ति यहां क्रिया कर रही है वह विज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान-अज्ञान का इन्द्रजाल है, एक अपरिमेय पर प्रत्यक्षतः-यांत्रिक अधिमानस-माया है। भगवान् हमें यहां अखंड दृष्टि में यों दिखाई देता है कि वह एक सम, निष्क्रिय एवं र्व्यिक्तिक साक्षी आत्मा है, गुण या देश-काल के बंधन से रहित एक अचल अनुमंता पुरुष है और उसका आश्रय या अनुमति समस्त कर्म तथा उन सब शक्तियों की क्रीड़ा को निष्पक्ष रूप से प्राप्त होती है जिन्हें परात्पर संकल्प ने इस जगत् में अपने आपको चरितार्थ करने के लिये एक वार स्वीकृति और अधिकार दे दिया है। वस्तुओं में निहित यह साक्षी आत्मा या यह अचल आत्म-तत्व किसी प्रकार का भी संकल्प और निर्धारण नहीं करता प्रतीत होता। परंतु हमें यह अनुभव हो जाता है कि उसकी यह निष्क्रियता एवं मौन उपस्थिति ही सब वस्तुओं को उनके अज्ञान में भी एक दिव्य लक्ष्य की ओर यात्रा करने के लिये बाध्य करती है और विभाजन की अवस्था से उन्हें एक अद्यावधि-अचरितार्थ एकत्व की ओर आकृष्ट करती है। तथापि कोई परम निर्भ्रांत भागवत संकल्प यहां विद्यमान प्रतीत नहीं होता, केवल एक विपुलतया विस्तारित विश्व-शक्ति अथवा एक यांत्रिक कार्यवाहक 'प्र-क्रिया' या 'प्र-कृति' ही प्रतीत होती है। यह विश्वात्मा का एक पार्श्व है। उसका एक दूसरा पार्श्व भी है जो अपने को विश्वमय भगवान् के रूप में प्रस्तुत करता है, वह सत्ता में एक है, व्यक्तित्व एवं शक्ति में बहुविध। जब हम उसकी विराट् शक्तियों की चेतना में प्रवेश करते हैं तो वह हमें अनंत गुण, संकल्प, कर्म, विश्वव्यापी विशाल ज्ञान तथा एक किंतु असंख्यविध आनंद की अनुभूति प्रदान करता है। कारण, उसके द्वारा हम सर्वभूतों के साथ सारतः ही नहीं बल्कि उनकी कार्यलीला में भी एक हो जाते हैं, अपने को सबमें और सबको अपने में देखते हैं, समस्त ज्ञान, विचार एवं भाव को एक ही मन तथा हृदय की चेष्टाएं और समस्त बल एवं कर्म को एक ही सर्वसमर्थ संकल्प की गति अनुभव करते हैं; समस्त जड़तत्त्व और आकार को एक ही देह के अंग-प्रत्यंग, सब व्यक्तित्वों को एक ही व्यक्ति की शाखा-प्रशाखाएं एवं सब अहंभावों को एकमेवाद्वितीय वास्तविक सत्स्वरूप "मैं" की विकृतियां अनुभव करते हैं। उसमें तब हमारी कोई पृथक् स्थिति नहीं रह जाती, वरन् हमारा सक्रिय अहंकार वैश्व गति में वैसे ही खो जाता है जैसे निर्गुण, नित्य-निर्लिप्त एवं अना-

सक्त साक्षी' के द्वारा हमारा स्थितिशील अहंभाव सार्वभौम शांति में लीन हो जाता है।

परंतु अभी भी, दूरस्थ दिव्य निश्चल-नीरवता तथा सर्वव्यापी दिव्य कर्म, इन दोनों अवस्थाओं में विरोध बना रहता है। इसका हम अपने अंदर एक ऐसे प्रकार से एवं ऐसे बड़े प्रमाण में समाधान कर सकते हैं जो हमें पूर्ण प्रतीत होता है, पर वास्तव में पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह रूपांतर एवं विजय को पूण रूप से संपन्न नहीं कर सकता। सार्वत्रिक शांति, ज्योति, शक्ति एवं आनंद की संपदा हमें प्राप्त हो जाती है, पर इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति वही नहीं होती जो ऋत-चेतना या दिव्य विज्ञान की हो सकती है; यद्यपि यह अद्भुत रूप में स्वतंत्र, उदात्त एवं आलोकित होती है फिर भी विश्वात्मा की वर्तमान अभिव्यक्ति का ही समर्थन करती है। यह अज्ञानमय जगत् के अस्पष्ट प्रतीकों एवं आवृत रहस्यों का वैसा रूपांतर नहीं करती जैसा कि परात्पर अवतरण करेगा। हम स्वयं स्वतंत्र हो जाते हैं, पर पृथ्वी-चेतना बंधन में ही ग्रस्त रहती है। एक और भी आगे का परात्पर आरोहण एवं अवरोहण ही इस विरोध का पूर्ण रूप से समाधान कर हमें रूपांतरति और बंधनमुक्त कर सकता है।

कर्मों के स्वामी का एक तीसरा अत्यंत घनिष्ठ एवं वैयक्तिक रूप भी है जो उसके अनुत्तम गूढ़ रहस्य एवं आनंदातिरेक की कुंजी है। कारण, वह गुप्त परात्परता के रहस्य से तथा वैश्व गति के अस्पष्ट प्राकटच से भगवान् की एक व्यष्टि-शक्ति को वियोजित करता है जो दोनों के बीच मध्यस्थ का काम कर सकती है तथा एक से दूसरे तक पहुंचने के लिये सेतु बांध सकती है। इस रूप में भगवान् का विश्वातीत और विश्वमय व्यक्तित्व हमारे व्यष्टि-भावापन्न व्यक्तित्व के अनुरूप है और हमारे साथ वैयक्तिक संबंध स्थापित करना स्वीकार करता है। हमारी परम आत्मा के रूप में वह हमसे एकाकार रहता है और फिर भी हमारे स्वामी, सखा, प्रेमी, गुरु, पिता एवं माता तथा महान् विश्वलीला में हमारे क्रीड़ा-सहचर के रूप में हमारे निकट और हमसे भिन्न भी रहता है। इन सब रूपों में उसने हमारे मित्र एवं शत्रु या सहायक एवं बाधक रहकर बराबर ही अपने को छिपाये रखा है और, हमपर प्रभाव डालनेवाले सभी संबंधों तथा व्यापारों में उसने हमें हमारी पूर्णता तथा मुक्तता का मार्ग दिखाया है। इस अधिक वैयक्तिक अभिव्यक्ति के द्वारा ही परात्पर के पूर्ण अनुभव की प्राप्ति के द्वार हमारे लिये खुल सकते हैं। कारण, वैयक्तिक भगवान् के अंदर हम एकमेव से जो संपर्क प्राप्त करते हैं वह केवल मुक्त निश्चलता और शांति में अथवा कर्मगत निष्क्रिय या सक्रिय समर्पण के द्वारा या अपने अंदर व्याप्त तथा अपने मार्ग-निर्देशक वैश्व ज्ञान एवं बल के साथ एकत्व के रहस्य के द्वारा ही प्राप्त नहीं करते बल्कि दिव्य प्रेम और दिव्य आनंद के उल्लास के द्वारा भी हम उससे संपर्क प्राप्त करते हैं–ऐसे उल्लास के द्वारा जो प्रशांत साक्षी और सक्रिय विश्व-शक्ति को तीव्र वेग से अतिक्रांत करके एक महत्तर आनंदपूर्ण रहस्य का विशेष निश्चयात्मक पूर्वज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारे साथ अत्यंत घनिष्ठ रूप से संबद्ध पर अद्यावधि अत्यंत अस्पष्ट यह वैयक्तिक रूप अपने प्रगाढ़ आवरण में हमारे लिये परात्पर परमेश्वर के गहन और मादक रहस्य को और उसकी पूर्ण सत्ता तथा उसके तन्मयकारी परम सुख एवं रहस्यमय आनंद की एक चरम निश्चयता को जितना अधिक आवेष्टित रखता है उतना न तो वह ज्ञान ही आवेष्टित रखता है जो किसी अनिर्वचनीय परतत्त्व की ओर ले जाता है और न वह कर्मकलाप जो हमें जगत्-प्रक्रिया से परे अपने आदि-कारण, परम ज्ञाता और परम प्रभु की ओर ले जाता है।

परंतु भगवान् से वैयक्तिक संबंध सर्वदा या प्रारंभ से ही एक बृहत्तम विस्तार या उच्चतम आत्म-अतिक्रमण को बलपूर्वक स्थापित नहीं कर देता। हमारी सत्ता के निकटवर्ती या हमारा अंतर्यामी यह देवाधिदेव पहले पहल हमें अपनी वैयक्तिक प्रकृति तथा अनुभूति के क्षेत्र में ही, नायक एवं स्वामी, मार्गदर्शक एवं गुरु और मित्र एवं प्रेमी के रूप में अथवा एक आत्मसत्ता, शक्ति या उपस्थिति के रूप में भी पूर्णरूपेण अनुभूत हो सकता है। सुतरां, हमें यह अनुभव हो सकता है कि वह हमारे हृदय में अवस्थित अपने अंतरंग सत्य-स्वरूप की शक्ति के द्वारा हमारी ऊर्ध्वमुख और विस्तारशील गति को निर्मित तथा उन्नीत करता है या हमारी उच्चतम बुद्धि के भी ऊपर से हमारी प्रकृति पर शासन करता है। हमारा वैयक्तिक विकास ही उसका मुख्य कार्य है, उसके साथ हमारा वैयक्तिक संबंध ही हमारा हर्ष और हमारी परिपूर्णता है, अपनी प्रकृति को उसकी दिव्य प्रतिमा में गढ़ना ही हमारी आत्म-उपलब्धि और सिद्धि है। मालूम होता है यह बाह्य जगत् इसीलिये बनाया गया है कि यह इस विकास के क्षेत्र का काम करे और इसकी क्रमिक अवस्थाओं के लिये साधन-सामग्री या सहायक एवं बाधक शक्तियां जुटाये। इस जगत् में हम जो भी काम करते हैं वे सब उसी के काम हैं, परंतु जब वे कोई अस्थायी सार्वभौम उद्देश्य पूरा करते हैं तब भी हमारे लिये उनका मुख्य प्रयोजन इस अंतर्यामी भगवान् से अपने संबंधों को बाह्यतः सक्रिय बनाना या इन्हें आभ्यंतर शक्ति प्रदान करना ही होता है। अनेक जिज्ञासु इससे अधिक कुछ नहीं मांगते अथवा वे इस आध्यात्मिक प्रस्फुटन की अविच्छिन्नता और परिपूर्णता केवल पर-तर लोकों में ही अनुभव करते हैं; भगवान् से मिलन पूर्ण रूप से उपलब्ध हो जाता है और उसके पूर्णत्व, हर्ष एवं सौंदर्य के नित्य धाम में यह शाश्वत हो जाता है। परंतु सर्वांग उपलब्धि के अन्वेषक के लिये यह पर्याप्त नहीं है। दूसरों से अलग-थलग निजी वैयक्तिक उपलब्धि, वह चाहे कैसी भी महान् और भव्य क्यों न हो, उसका संपूर्ण लक्ष्य या समग्र अस्तित्व नहीं हो सकती। एक ऐसा समय अवश्य आता है जब व्यक्ति विराट् की ओर खुलता है; यहां तक कि हमारा आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व्यष्टिभाव ही नहीं अपितु शारीरिक व्यष्टिभाव तक विश्वमय हो जाता है। यह देवाधिदेव की वैश्व शक्ति तथा विश्वात्मा का शक्त्यंश दिखाई देता है अथवा यह जगत् को उस अनिर्वचनीय विशालता में धारण करता है जो व्यष्टि-चेतना को तब प्राप्त होती है जब यह अपने बंधन तोड़कर ऊपर परात्पर की ओर तथा सब तरफ अनंत में प्रवाहित होती है।

★

जो योग केवल अध्यात्मभावित मानसिक स्तर पर ही चरितार्थ किया जाता है उसमें भगवान् की वैयक्तिक या अंतर्यामी तथा विश्वमय और विश्वातीत इन तीन मूल अवस्थाओं का पृथक् पृथक् अनुभवों के रूप में प्रत्यक्ष होना संभव है और ऐसा प्रायः ही होता है। तब इन अनुभवों में से प्रत्येक अकेला ही जिज्ञासु की उत्कंठा की पूर्ति के लिये पर्याप्त प्रतीत होता है। निभृत ज्योतिर्मय हृदय-गुहा में वैयक्तिक भगवान् के साथ एकाकी विचरता हुआ वह अपनी सत्ता को प्रियतम के अनुरूप गढ़ सकता है और अवपतित प्रकृति से निस्तार पा-कर आत्मा के किसी उच्च लोक में उसके साथ निवास करने के लिये आरोहण कर सकता है। सार्वभौम विशालता में स्वतंत्र, अहं से मुक्त, निज व्यक्तित्व में विश्व-शक्ति की क्रिया का केंद्रमात्र, निज सत्ता में शांत-मुक्त, विश्वमयता में अमर, असीम देश-काल में अनंततः

विस्तृत पर साक्षी आत्मा में निश्चल वह संसार में सनातन के स्वातंत्र्य का उपभोग कर सकता है। किसी अनिर्वचनीय परात्परता में एकाग्र होकर, अपने पृथक् व्यक्तित्व का विसर्जन कर, जागतिक हलचल के आयास-प्रयास को तिलांजलि देकर वह अवर्णनीय निर्वाण की शरण में जा सकता है, अकथनीय की ओर एक असहिष्णु ऊंची उड़ान में वह सभी वस्तुओं को मिथ्या घोषित कर सकता है।

परंतु जो व्यक्ति सर्वांगीण योग से लभ्य विशाल पूर्णता चाहता है उसके लिये इनमें से कोई भी उपलब्धि पर्याप्त नहीं है। वैयक्तिक मोक्ष उसके लिये बस नहीं; क्योंकि वह अपने को उस विश्व-चैतन्य की ओर खुलता अनुभव करता है जो अपनी विशालता एवं बृहत्ता से हमारी सीमित वैयक्तिक पूर्णता की संकीर्णतर तीव्रता को सर्वथा अतिक्रांत किये हुए है। इस चैतन्य की पुकार अलंघ्य होती है; इसकी अति महत् प्रेरणा से प्रचालित होकर उसे सब विभाजक सीमाएं तोड़ डालनी होंगी, अपने को विश्व-प्रकृति में फैला देना तथा संसार को अपने में समा लेना होगा। ऊर्ध्व में भी एक अनिर्वचनीय सक्रिय उपलब्धि उसके लिये प्रस्तुत है जो परम देव के धाम से इस प्राणि-जगत् पर दबाव डाल रही है। वह अद्यावधि-अवतरित ऐश्वर्य यहां तभी व्यक्त हो सकता है यदि हम पहले विश्व-चेतना को किसी अंश में परिव्याप्त करें और फिर इसे भी अतिक्रांत कर जायं। परंतु विश्व-चैतन्य भी काफी नहीं है, क्योंकि यह अशेष भागवत सद्वस्तु नहीं है, यह संपूर्ण सत्ता नहीं है। व्यक्तित्व के मूल में एक दिव्य रहस्य निहित है जिसे ढूंढ़ निकालना पूर्णयोग के साधक के लिये आवश्यक है; परात्परता के देह-धारण का रहस्य वहां उपस्थित है और काल के भीतर व्यक्त होने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है। इस विश्व-चेतना के अंदर भी अंत में एक छिद्र रह जाता है, वह यह कि एक उच्चतम ज्ञान, जो मुक्त तो कर सकता है पर कुछ भी क्रियान्वित नहीं कर सकता, विश्व-शक्ति के साथ समान रूप से संतुलित नहीं होता, क्योंकि यह शक्ति सीमित ज्ञान का प्रयोग करती प्रतीत होती है अथवा यह अपने आप को एक ऐसे तलीय अज्ञान से आवृत रखती है जो सर्जन तो कर सकता है पर केवल अपूर्णता का या एक क्षणिक, सीमित और निगड़ित पूर्णता का। एक ओर तो स्वतंत्र निष्क्रिय साक्षी होता है और दूसरी ओर होती है एक बद्ध कार्यकर्त्री जिसे कार्य के सब साधन प्राप्त ही नहीं हैं। प्रतीत होता है कि इन दो सहचरों और प्रतिपक्षियों का समन्वय एक 'अव्यक्त' में जो अभी हमसे परे है, रक्षित, स्थगित और निरुद्ध रखा हुआ है। दूसरी ओर, केवल किसी प्रकार की कूटस्थ परात्परता में पलायन कर जाने से ही हमारा व्यक्तित्व कृतार्थ नहीं होता और इससे वैश्व कर्म भी निरर्थक ही हो जाता है। अतएव पूर्ण सत्य के जिज्ञासु को इससे संतुष्टि नहीं हो सकती। वह अनुभव करता है कि नित्य सत्य एक ऐसी शक्ति है जो सर्जन करती है और साथ ही वह एक अविनाशी सत्ता भी है; वह केवल मायिक या अज्ञानमय अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं है। सनातन सत्य अपने सत्यों को काल में व्यक्त कर सकता है। वह निश्चेतना और अज्ञान में ही नहीं बल्कि ज्ञान में भी सृष्टि कर सकता है। भगवान् की ओर आरोहण करने के समान ही भगवान् का अवतरित होना भी संभव है; भावी पूर्णता और वर्त्तमान मुक्ति को अवतारित करने की संभावना भी विद्यमान है। जैसे जैसे उसका ज्ञान विस्तृत होता है, उसके सामने यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि सर्वकर्ममहेश्वर ने यहां उसके अंदर अंतरात्मा को

अंधकार के भीतर अपनी अग्नि के स्फुलिंग के रूप में इसीलिये निक्षिप्त किया था कि यह सनातन ज्योति के एक केंद्र के रूप में विकसित हो सके।

परात्पर, विश्वात्मा तथा व्यष्टि—ये तीन शक्तियां संपूर्ण अभिव्यक्ति के ऊपर वितान की की तरह छाई हुई हैं, ये इसके आधार में निहित और इसके अंदर प्रविष्ट हैं; यह त्रैतों में से प्रथम त्रैत है। चेतना के उन्मेष में भी यही तीन मूल अवस्थाएं प्रकट होती हैं और यदि हम सत्ता के संपूर्ण सत्य का अनुभव करना चाहें तो इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। व्यष्टि-चेतना में से हम विशालतर एवं स्वतंत्रतर विश्व-चेतना में जागरित होते हैं; किंतु आकृतियों एवं शक्तियों की जटिल ग्रंथि से युक्त विश्व-चेतना में से हम एक और भी महान् आत्म-अतिक्रमण के द्वारा एक ऐसी निःसीम चेतना में उदित होते हैं जो परब्रह्म पर आधारित है। तथापि इस आरोहण में जिस चीज को हम छोड़ते प्रतीत होते हैं उसे वास्तव में हम नष्ट नहीं कर डालते वरन् उन्नीत और रूपांतरित कर देते हैं। कारण, एक ऐसा शिखर भी है जहां ये तीनों शक्तियां नित्य रूप से एक दूसरे में निवास करती हैं। उस शिखर पर ये अपने समस्वरित एकत्व की नाभि में सानन्द संयुक्त हो जाती हैं। परंतु वह शिखर ऊंचे से ऊंचे तथा विस्तृत से विस्तृत अध्यात्ममय मन से भी परे है, चाहे मन में भी उसकी कुछ छाया अवश्य अनुभव की जा सकती है। उसे प्राप्त करने तथा उसमें निवास करने के लिये मन को अपने आपको पार करके अतिमानसिक विज्ञानमय ज्योति, शक्ति एवं सत्तत्त्व में रूपांतरित होना होगा। इस निम्नतर क्षीण चेतना में समस्वरता के लिये प्रयत्न अवश्य किया जा सकता है, पर वह समस्वरता सदा अपूर्ण ही रहेगी। एक प्रकार की सुसंगति तो संभव है पर समकालिक एकीभूत परिपूर्णता नहीं। किसी भी महत्तर उपलब्धि के लिये मन को पार कर ऊपर आरोहण करना अपरिहार्य है। अथवा, आरोहण के साथ या इसके परिणामस्वरूप उस स्वयंभू सत्य का क्रियाशील अवतरण होना भी आवश्यक है जो प्राण और जड़तत्त्व की अभिव्यक्ति से पूर्वतर एवं सनातन है और नित्य ही मन से ऊपर अपने निज प्रकाश में उन्नीत रहता है।

कारण, मन माया है, अर्थात् यह सत्-असत् है। सत्य और मिथ्या, सत् और असत् के आलिंगन का भी अपना एक क्षेत्र है और उस द्विधा-संकुल क्षेत्र में ही मन शासन करता प्रतीत होता है। पर वास्तव में यह अपने राज्य में भी एक परिक्षीण चेतना है, यह सनातन की आद्या परमोत्पादिका शक्ति का अंश नहीं है। मूल तात्त्विक सत्य की किसी प्रतिमा को प्रतिक्षिप्त करने में यह समर्थ भले ही हो, किंतु इसमें सत्य की गतिशील शक्ति और क्रिया सदा छिन्न-भिन्न ही दीख पड़ती है। मन तो केवल टुकड़ों को जोड़ सकता है अथवा एकता का अनुमानमात्र कर सकता है; मन का सत्य या तो केवल एक अर्द्ध-सत्य होता है या पहेली का एक अंश। मानसिक ज्ञान सदा आपेक्षिक, आंशिक और अनिर्णायक होता है। इस की बहिर्मुखी क्रिया और रचना इसके व्यापारों में और भी अधिक भ्रांत रूप धारण कर लेती हैं अथवा ये केवल संकीर्ण सीमाओं में ही यथार्थ होती हैं, किंवा खण्ड सत्यों को अपूर्ण ढंग से मिलाने पर ही कोई यथार्थ वस्तु बनती हैं। इस क्षीण चेतना में भी भगवान् मनोगत आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है, ठीक वैसे ही जैसे वह प्राण के अंदर एक आत्मा के रूप में विचरण करता है अथवा और भी अधिक अस्पष्टतया जड़ के अंदर एक आत्मा के रूप में वास करता है। परंतु उसका पूर्ण क्रियाशील प्राकट्य मन में नहीं है, सनातन के पूर्ण

तादात्म्य यहां नहीं है। हमारे अस्तित्व का स्वामी अपनी सत्ता और अपनी शक्तियों एवं क्रियाओं के अक्षय अखण्ड सत्य में हमारे समक्ष तभी प्रकाशित होगा जब हम मन की सीमा पार कर उस विशालतर ज्योतिर्मय चेतना तथा आत्म-सचेतन सत्ता में पहुंच जायंगे जहां दिव्य सत्य का निज धाम है और जहां वह परदेशी की तरह निवास नहीं करता। वहीं हमारे भीतर हमारी सत्ता के स्वामी के कार्य उसके अमोघ अतिमानसिक प्रयोजन की अविकल गति का रूप धारण कर लेंगे।

*

यह फल सुदीर्घ एवं कठिन यात्रा के अंत में ही प्राप्त होता है। परंतु कर्मों का स्वामी योगमार्ग के जिज्ञासु पथिक से मिलने और उसपर तथा उसके अंतर्जीवन एवं कार्यों पर अपना अदृश्य या अर्द्ध-दृश्य दिव्य हस्त धरने को तब तक प्रतीक्षा नहीं करता रहता। इस संसार में वह विद्यमान तो पहले से ही है,—अचित् के सघन आवरणों के पीछे वह कर्मों के प्रवर्तक और ग्रहीता के रूप में विराजमान है, परा प्राण-शक्ति के भीतर वह प्रच्छन्न रूप में अवस्थित है तथा प्रतीकात्मक देवताओं एवं प्रतिमाओं के द्वारा मन के लिये गोचर भी है। यह भी खूब संभव है कि वह पूर्णयोग के मार्ग के लिये नियत भाग्यशाली आत्मा को पहले पहल इन छद्म-वेशों में ही दर्शन दे। अथवा यह भी हो सकता है कि इनसे भी अधिक अस्पष्ट आवरणों से आवृत उस सर्वकर्ममहेश्वर को हम एक आदर्श के रूप में परिकल्पित करें या उसे प्रेम, शुभ, सौंदर्य या ज्ञान की एक अमूर्त्त शक्ति का मानसिक रूप दे दें। अथवा, जैसे ही हम पथ की ओर पग बढ़ायें वह मानवता की एक ऐसी पुकार या एक ऐसे विश्वगत संकल्प के प्रच्छन्न वेष में हमारे समक्ष प्रकट हो सकता है जो हमें अज्ञान के प्रधान चतुष्टय—अंधकार, असत्य, मृत्यु और दुःख—के पंजे से जगत् का परित्राण करने के लिये प्रेरित करता है। पीछे जब हम इस मार्ग में पदार्पण कर चुकते हैं, वह हमें अपनी विशाल एवं महान् स्वातंत्र्यप्रद निर्व्यक्तिकता के द्वारा सब ओर से व्याप्त कर लेता है, या वह व्यक्तित्ववान् ईश्वर की छवि और आकृति के साथ हमारे समीप विचरता है। अपने भीतर तथा चारों ओर हम एक ऐसी शक्ति की उपस्थिति अनुभव करते हैं जो धारण-भरण, रक्षण तथा पालन-पोषण करती है। हम एक मार्गदर्शिका वाणी का श्रवण करते हैं। हमसे महत्तर एक सचेतन संकल्प हमपर शासन करता है। एक अलंघ्य शक्ति हमारे विचार एवं कार्य-कलाप और हमारे शरीर तक का संचालन करती है। एक नित्य-विस्तारशील चेतना हमारी चेतना को आत्मसात् कर लेती है, ज्ञान की एक जीवंत ज्योति अंतर में सर्वत्र प्रज्वलित हो जाती है, अथवा एक दिव्यानन्द हमें अधिकृत कर लेता है। एक ठोस, बृहत् और अदम्य शक्तिमत्ता ऊपर से दबाव डालती है, हमारी प्रकृति के उपादान तक के भीतर पैठ जाती है और अपने को इसके अंदर उंडेल देती है। शांति, ज्योति, आनंद, शक्ति और महिमा-गरिमा वहां अवस्थित हो जाती हैं। अथवा, वहां संबंध भी होते हैं,—वैयक्तिक, स्वयं जीवन की ही भांति घनिष्ठ, प्रेम के समान मधुर, गगन के समान व्यापक, अगाध सिंधु की भांति गभीर। एक सखा हमारे पास विचरता है; एक प्रेमी हमारे हृदय की गुहा में हमारे संग होता है, कर्म और अग्नि-परीक्षा का स्वामी हमें मार्ग दिखाता है; वस्तुओं का स्रष्टा हमें अपने यंत्र के रूप में प्रयुक्त करता है; हम अनाद्यनन्त जननी की गोद में होते हैं। ये सब अधिक ग्राह्य रूप, जिनमें वह अनिर्वचनीय हमसे मिलता है, सत्य हैं, ये केवल सहायक, प्रतीक या उपयोगी कल्पनाएं ही नहीं हैं। परंतु

जैसे जैसे हम विकसित होते हैं, हमारे अनुभव में विद्यमान इनके आदिम अपूर्ण रूप अपने मूलवर्ती एकमेव सत्य की विशालतर दृष्टि के अनुगत होते जाते हैं। पद पद पर भगवान् के इन नाना रूपों के निरे मानसिक आवरण हटते जाते हैं और ये अधिक विस्तृत, अधिक गंभीर एवं अधिक अंतरीय अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। अंत में अतिमानसिक सीमाओं पर ये सब देवता अपने पवित्र रूपों को मिला देते और, अपना अस्तित्व जरा भी खोये बिना, परस्पर घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। इस पथ पर भागवत रूप केवल त्याग दिये जाने के लिये ही प्रकट नहीं होते, न ये केवल अस्थायी आध्यात्मिक सुविधाएं या मायामय चेतना के साथ सम-झौते ही होते हैं और न ऐसी स्वप्न-मूर्त्तियां जो परब्रह्म की अवर्णनीय अतिचेतना के द्वारा गुह्य ढंग से हमपर प्रतिक्षिप्त कर दी जाती हैं। इसके विपरीत, जैसे जैसे ये अपने उद्गम-भूत सत्य के निकट पहुंचते हैं वैसे वैसे इनकी शक्ति बढ़ती जाती है और इनकी निरपेक्ष पूर्णता प्रकट होती जाती है।

वह अद्यावधि-अतिचेतन परात्परता एक शक्ति भी है और सत्ता भी। अतिमानसिक परा-त्परता कोई शून्य महाश्चर्य नहीं है बल्कि एक अनिवर्चनीय तत्त्व है जो अपने से उत्पन्न सभी मौलिक वस्तुओं को सदा अपने अंदर समाये रखता है। उन्हें यह उनकी परम नित्य सत्यता में तथा उनके अपने विशिष्ट चरम रूपों में धारण करता है। ह्रास, विभाजन तथा अवपतन, जो यहां एक असंतोषजनक पहेली की वा माया के रहस्य की भावना पैदा करते हैं, हमारे आरोहण में स्वयं क्षीण हो जाते हैं तथा हमसे झड़ जाते हैं, और भागवत शक्तियां अपने वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं तथा उत्तरोत्तर ऐसी प्रतीत होती हैं कि ये यहां चरितार्थ होते हुए सत्य की ही अवस्थाएं हैं। भगवान् की आत्मा यहां विद्यमान है और जड़ निश्चेतना में अपने निवर्तन तथा आवेष्टन में से शनैः शनैः जाग रही है। हमारे कर्मों का स्वामी भ्रमों का स्वामी नहीं है, बल्कि एक परम सद्वस्तु है जो अविद्या के उन कोयों से क्रमशः प्रसूत होनेवाली अपनी आत्म-प्रकाशक सद्वस्तुओं का निर्माण कर रहा है जिनमें वे विकासात्मक अभिव्यक्ति के प्रयोजनों के लिये कुछ देर सोई पड़ी रहने दी गई हैं। अतिमानसिक परात्परता कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमारे वर्तमान अस्तित्व से सर्वथा पृथक् एवं असंबद्ध हो। यह एक महत्तर ज्योति है जिसमें से यह सब कुछ इसलिये प्रादुर्भूत हुआ है कि आत्मा शनैः शनैः निश्चेतना में पतित होने और फिर उसमें से आविर्भूत होने का अद्भुत कर्म कर सके। इस भगीरथ कर्म के चलते रहते यह हमारे मन के ऊपर अतिचेतन रूप में प्रतीक्षा करती रहती है जिससे यह अंत में हमारे अंदर सचेतन रूप धारण कर सके। आगे चलकर यह अपने आपको अनावृत करेगी और इस अनावरण के द्वारा हमारी सत्ता तथा हमारे कर्मों का संपूर्ण मर्म हमारे समक्ष प्रकाशित कर देगी। यह उस भगवान् को आविर्भूत करेगी जिसकी इस जगत् में पूर्णतर अभिव्यक्ति सत्ता के गुप्त मर्म को उद्घाटित और चरितार्थ कर देगी।

उस आविर्भाव में परात्पर भगवान् हमारे सम्मुख उत्तरोत्तर इस रूप में प्रकाशित होता जायगा कि वह परम सत् है तथा हम जो कुछ भी हैं उस सबका पूर्ण उद्गम है। पर साथ ही हम इस रूप में भी उसके दर्शन करेंगे कि वह कर्मों तथा सृष्टि का स्वामी है जो अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपने को अधिकाधिक प्रवाहित करने को उद्यत रहता है। विश्वचेतना तथा उसका व्यापार तब पहले की तरह एक विशाल एवं नियमित आकस्मिक संयोग नहीं बल्कि अभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रतीत होंगे। वहां भगवान् इस रूप में दिखाई देगा कि वह अधि-

ष्ठातृस्वरूप सर्वव्यापी विश्वात्मा है जो सब कुछ परात्परता में से ग्रहण करता है तथा जो कुछ इस प्रकार अवतरित होता है उसे वह ऐसे आकारों में विकसित करता है जो अभी अपारदर्शक छद्मरूप या प्रवंचक अर्द्ध-छद्मरूप हैं पर जो आगे चलकर अवश्य ही एक पारदर्शक अभिव्यक्ति बन जायंगे। तब वैयक्तिक चेतना अपना सच्चा मर्म और व्यापार पुनः अधिगत कर लेगी, क्योंकि यह आत्मा का एक ऐसा रूप है जो पुरुषोत्तम से भेजा गया है और, समस्त प्रतीतियों के रहते हुए भी, यह एक ऐसा बीज वा नीहारिका है जिसके भीतर भगवती मातृ-शक्ति कार्य कर रही है जिससे कि वह काल तथा जड़तत्त्व में कालातीत एवं निराकार भगवान् की एक विजयशाली अभिव्यक्ति साधित कर सके। हमारी दृष्टि और अनुभूति के सामने शनैः शनैः यह तथ्य प्रकट होता जायगा कि यही कर्मों के स्वामी की इच्छा है तथा यही उसका अपना अंतिम मर्म है, और इस मर्म से ही जगत् की उत्पत्ति को एवं जगत् में हमारे कर्म को सार्थकता एवं प्रकाश प्राप्त होते हैं। इस तथ्य को हृदयंगम करना तथा इसकी चरितार्थता के लिये यत्न करना पूर्णयोग में दिव्य-कर्ममार्ग का संपूर्ण सार-सर्वस्व है।

बारहवां अध्याय

दिव्य कर्म

जब कर्ममार्ग के साधक की खोज अपने स्वाभाविक रूप में पूरी हो जाती है या पूरी होने लगती है तब भी उसके सामने एक प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि मुक्ति के बाद आत्मा के लिये कोई कर्म शेष रहता है या नहीं और यदि रहता है तो कौनसा तथा किस प्रयोजन के लिये? समता उसकी प्रकृति में प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी संपूर्ण प्रकृति पर शासन करती है; अहं-बुद्धि तथा विस्तृत अहंभाव से और अहंकार की समस्त भावनाओं एवं प्रेरणाओं तथा इसकी स्वेच्छा और कामनाओं से उसे आमूल मुक्ति प्राप्त हो गई है। उसके मन और हृदय में ही नहीं बल्कि उसकी सत्ता के सभी जटिल भागों में पूर्ण आत्म-निवेदन संपन्न हो चुका है। पूर्ण पवित्रता या त्रिगुणातीत अवस्था समस्वर ढंग से प्रतिष्ठित हो गयी है। अंतरात्मा ने अपने कर्मों के स्वामी के दर्शन कर लिये हैं और वह उसी के सान्निध्य में निवास करती है या उसी की सत्ता में सचेतन रूप से निहित रहती या उससे एकमय हो रहती है अथवा उसे हृदय में या ऊपर अनुभव करती तथा उसके आदेशों का पालन करती है। उसने अपनी सच्ची सत्ता को जान लिया है और अज्ञान का आवरण उतार फेंका है। तब मनुष्य के अंदर के कर्मी के लिये क्या कर्म शेष रहता है और किस हेतु से, किस उद्देश्य के लिये तथा किस भावना से वह किया जायगा?

*

इसका एक उत्तर तो वह है जिससे हम भारत में खूब परिचित हैं; कर्म बिलकुल रहता ही नहीं, क्योंकि शेष रह जाती है निश्चलता। जब आत्मा 'परम' की शाश्वत उपस्थिति में निवास कर सकती है अथवा जब यह परब्रह्म के साथ एक हो जाती है, तब हमारे जागतिक जीवन का लक्ष्य,—यदि यह कहा जा सकता हो कि इसका कोई लक्ष्य है,—तुरंत परिसमाप्त हो जाता है। आत्म-विभाजन तथा अज्ञान के अभिशाप से मुक्त मनुष्य इस दूसरे प्रकार के

क्लेश अर्थात् कर्मों के अभिशाप से भी मुक्त हो जाता है। तब तो कर्म करना मात्र परम स्थिति की मर्यादा से उतरना और अज्ञान में लौटना होगा। जीवनविषयक इस मनोवृत्ति के पक्ष में जो विचार प्रस्तुत किया जाता है वह प्राणिक प्रकृति की एक भ्रांति पर आधारित है। क्योंकि, प्राणिक प्रकृति को अपने कर्म की प्रेरणा तीन निम्न आशयों–आवश्यकता, राजसिक प्रवृत्ति और आवेग या कामना–में से किसी एक से या तीनों से प्राप्त होती है। प्रवृत्ति या आवेग के शांत हो जाने पर और कामना के लुप्त हो जाने पर कर्मों के लिये स्थान ही कहां रह जाता है? कोई यांत्रिक आवश्यकता तो रह सकती है पर और किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं रह सकती, और वह भी शरीर छूटने के साथ सदा के लिये समाप्त हो जायगी। परंतु यह सब होते हुए भी, जब तक जीवन है तब तक कर्म अनिवार्य है। केवल विचार करना भी या, विचार के अभाव में, केवल जीना भी अपने आपमें एक कर्म है और अनेक कार्यों का कारण है। संसार में विद्यमान सत्तामात्र–मिट्टी के ढेले की जड़ता भी और निर्वाण के किनारे पर पहुंचे हुए निश्चल बुद्ध की शांति भी–एक कर्म है, शक्ति है, सामर्थ्य है और वह अपनी उपस्थितिमात्र से समष्टि पर सक्रिय प्रभाव डालती है। वास्तव में प्रश्न तो है केवल कर्म के प्रकार का, तथा उन करणों का जो काम में लाये जाते हैं या जो अपने आप ही कार्य करते हैं, और इसके साथ ही कर्म करनेवाले के भाव एवं ज्ञान का भी प्रश्न है। सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अंतःस्थ शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये उसके द्वारा कार्य करती है और वह शक्ति उद्भूत होती है अनंत से। इस बात को जानना और कामना से तथा अहंमूलक प्रेरणा के भ्रम से मुक्त होकर प्रकृति के स्वामी की उपस्थिति में तथा उसकी सत्ता में निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है, न कि शरीर के द्वारा कर्म का त्याग; क्योंकि कर्मों का बंधन तो तुरंत ही समाप्त हो जाता है। कोई मनुष्य सदा के लिये स्थिर और निश्चेष्ट बैठा रह सकता है और फिर भी वह अज्ञान से उतना ही बंधा हो सकता है जितना एक पशु या कृमि। किंतु यदि वह इस महत्तर चेतना को अपने अंदर क्रियाशील बना सके तो सब लोकों का सब कर्म उसके हाथों से संपन्न हो सकता है और फिर भी वह निश्चल, पूर्णतया स्थिर एवं शांत और समस्त बंधन से मुक्त रह सकता है। जगत् में कर्म हमें प्रथम तो अपने विकास और परिपूर्णता के साधन के रूप में प्रदान किया गया है; पर चाहे हम चरम संभवनीय दिव्य आत्म-पूर्णता तक पहुंच जायं, तो भी जगत् में दिव्य प्रयोजन तथा उस बृहत्तर विश्वात्मा की, जिसका प्रत्येक जीव एक अंश है,–ऐसा अंश जो विश्वात्मा के साथ ही परात्परता से अवतीर्ण हुआ है,–चरितार्थता के साधन के रूप में कर्म विद्यमान रहेगा ही।

एक विशेष अर्थ में, जब मनुष्य का योग एक निश्चित शिखर तक पहुंच जाता है, तब उसके लिये कोई कर्म शेष नहीं रह जाता। कारण, तब उसे निज के लिये कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती, न उसके अंदर यह भाव होता है कि कर्म स्वयं मैं ही करता हूं। परंतु उसे कर्म से भागने या आनंदपूर्ण निष्क्रियता की शरण लेने की भी आवश्यकता नहीं होती। अब तो वह उसी प्रकार कर्म करता है जिस प्रकार भगवान् कर्म करते हैं,–बिना किसी अलंघ्य आवश्यकता और बिना किसी दुर्धर्ष अज्ञान के। वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता; वह व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य आरंभ नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अंदर उसकी प्रकृति द्वारा कर्म करती है। उसका कर्म परा शक्ति के सहज प्रवाह के द्वारा विकसित होता

है। उसके करण अब उसी शक्ति के अधिकार में होते हैं, वह उसी का एक अंग होता है, उसका संकल्प उसी के संकल्प से एकमय होता है, उसकी शक्ति उसी की शक्ति होती है। उसके अंदर की आत्मा इस कर्म को धारण करती है, इसे आश्रय देती और इसकी देख-रेख करती है। वह ज्ञान में इसके ऊपर अधिष्ठातृत्व करती है, पर आसक्ति या आवश्यकता के कारण इससे चिपट नहीं जाती, न इसके साथ बंध ही जाती है; न इसके फल की कामना से आबद्ध होती है और न किसी प्रवृत्ति या आवेग की दासी बनती है।

यह समझना कि कामना के बिना कर्म असंभव है या कम से कम निरर्थक है एक आम भूल है। हमें बताया जाता है कि यदि कामना का अंत हो जाय तो कर्म का भी अंत हो जायगा। परंतु यह सिद्धांत, अन्य अति-अज्ञानकल्पित सिद्धांतों की भांति, विभेदक और परिच्छेदक मन के लिये जितना आकर्षक है उतना यह सच्चा नहीं है। संसार में होनेवाले काम का बहुत बड़ा भाग कामना के किसी भी तरह के हस्तक्षेप के बिना संपन्न होता है; यह प्रकृति की शांत आवश्यकता तथा स्वाभाविक नियम के कारण चलता रहता है। मनुष्य भी सहज आवेग, अंतर्ज्ञान तथा प्रेरणा के वश निरंतर नाना प्रकार के कार्य करता है अथवा वह मानसिक आयोजना या सचेतन प्राणिक इच्छा या भावमय कामना की प्रेरणा के बिना शक्तियों की स्वाभाविक आवश्यकता और नियम के अनुसार ही काम करता है। कितनी ही बार उसका कार्य उसके संकल्प या उसकी कामना के विपरीत होता है; यह किसी आवश्यकता या दबाव के अधीन, किसी आवेग के वश, उसके अंदर की जो शक्ति आत्माभिव्यक्ति के लिये प्रेरणा देती है उसकी आज्ञा के अनुकूल अथवा सचेतन रूप से एक उच्चतर नियम के अनुसार उसके अंदर से निःसृत होता है। कामना एक और प्रलोभन है जिसे प्रकृति ने अपने अवान्तर उद्देश्यों के लिये अपेक्षित एक विशेष प्रकार का राजसिक कर्म संपन्न करने के लिये चेतन प्राणियों के जीवन में महान् स्थान दिया है। परंतु यह उसका एकमात्र इंजन नहीं है, यहां तक कि यह प्रधान इंजन भी नहीं है। जब तक कामना रहती है तब तक इसका एक बड़ा लाभ होता है: यह हमें जड़ता से उठने में सहायता पहुंचाती है और अनेक तामसिक शक्तियों का विरोध करती है, अन्यथा वे शक्तियां कर्म को रोक ही देतीं। परंतु जो जिज्ञासु कर्ममार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया है वह इस मध्यवर्ती अवस्था को पार कर चुका है जिसमें कामना सहायक इंजन होती है। इसका वेग अब उसके काम के लिये अनिवार्य नहीं रहता, बल्कि यह अत्यंत भयानक रूप में बाधक होता है और स्खलन, अयोग्यता तथा विफलता को जन्म देता है। दूसरे लोग वैयक्तिक रुचि या वैयक्तिक हेतु के अनुसार कार्य करने को बाध्य होते हैं, परंतु उसे निर्वैयक्तिक या वैश्व मन के द्वारा अथवा अनंत पुरुष के अंग या यंत्र के रूप में कार्य करना सीखना होगा। शांत उदासीनता, प्रसन्न तटस्थता या दिव्य शक्ति को आनंदपूर्ण प्रत्युत्तर–भले ही उस शक्ति का आदेश कुछ भी क्यों न हो–यह एक आवश्यक अवस्था है जिसमें वह कोई प्रभावपूर्ण कर्म कर सकता है या किसी सार्थक कार्य का बीड़ा उठा सकता है। उसे कामना एवं आसक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होना चाहिये बल्कि उस संकल्प के द्वारा परिचालित होना चाहिये जो दिव्य शांति में गतिमान् होता है, उस ज्ञान के द्वारा जो परात्पर प्रकाश से आता है, उस प्रसन्न संवेग के द्वारा जो परम आनंद से प्राप्त बल होता है।

*

योग की एक ऊंची अवस्था में जिज्ञासु, किसी वैयक्तिक अभिरुचि के अर्थ में, इस ओर से उदासीन होता है कि वह क्या काम करेगा और क्या नहीं। यहां तक कि यह बात भी कि वह काम करेगा भी या नहीं उसकी निजी पसंद या प्रसन्नता के द्वारा निश्चित नहीं होती। वह सदैव वही कुछ करने को प्रेरित होता है जो सत्य के साथ समस्वर होता है अथवा जिसकी मांग भगवान् उसकी प्रकृति के द्वारा करता है। इससे कभी कभी एक मिथ्या परिणाम निकाला जाता है कि आध्यात्मिक पुरुष उस स्थिति को, जिसमें दैव या ईश्वर या अतीत कर्म ने उसे रखा है, शिरोधार्य करके उस कुटुम्ब, वंश, जाति, राष्ट्र और व्यवसाय के, जो जन्म और परिस्थिति से उसके अपने हैं, क्षेत्र एवं ढांचे के भीतर कर्म करने में संतुष्ट रहकर उनका अतिक्रमण करने या किसी महान् लौकिक उद्देश्य का अनुसरण करने की चेष्टा नहीं करेगा और शायद उसे ऐसा करना भी नहीं चाहिये। क्योंकि वास्तव में उसके लिये कर्तव्य कर्म कोई नहीं होता और क्योंकि, जब तक वह इस शरीर में है, उसे कर्मों का, वे चाहे कोई भी क्यों न हों, उपयोग केवल मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही करना पड़ता है अथवा, मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, परम संकल्प का अनुसरण और उसके आदेशों का पालन करने के लिये ही उसे कर्म करने होते हैं, अतएव जो क्षेत्र उसे वास्तव में दिया गया होता है वह इस प्रयोजन के लिये पर्याप्त होता है। एक बार स्वातंत्र्य लाभ हो जाने पर, उसे केवल अदृष्ट तथा परिस्थितियों के द्वारा नियत क्षेत्र में कर्म करते रहना होता है जब तक कि वह महान् मुहूर्त्त नहीं आ जाता जिसमें वह अंततः अनंत में लय प्राप्त कर सके। किसी विशेष लक्ष्य पर आग्रह करना अथवा किसी महान् लौकिक उद्देश्य के लिये कर्म करना कर्मों की माया में फंसना है। यह इस भ्रम को प्रश्रय देना है कि पार्थिव जीवन का एक बुद्धिगम्य आशय भी है और इसके अंदर कुछ प्राप्तव्य वस्तुएं भी हैं। माया का वह महान् सिद्धांत, जो परमार्थतः भगवान् की उपस्थिति को अंगीकार करने पर भी व्यवहारतः इस जगत् में उसकी सत्ता का निषेध करता है, एक बार फिर हमारे सामने आता है। परंतु भगवान् यहां जगत् में उपस्थित है,–स्थितिशील रूप में ही नहीं वरन् गतिशील रूप में भी, आध्यात्मिक सत्ता और उपस्थिति के रूप में ही नहीं बल्कि शक्ति, बल और ऊर्जा के रूप में भी और अतएव संसार में दिव्य कर्म करना संभव है।

ऐसा कोई संकीर्ण सिद्धांत नहीं, बंधे-बंधाये कर्म का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो कर्मयोगी पर उसके नियम या क्षेत्र के रूप में थोपा जा सके। इतनी बात सत्य है कि प्रत्येक प्रकार का काम, चाहे वह मनुष्य की समझ में छोटा हो या बड़ा, क्षेत्र की दृष्टि से क्षुद्र हो या विशाल, मोक्ष की ओर प्रगति या आत्म-साधना के लिये समान रूप से उपयोग में लाया जा सकता है। यह भी सच है कि मुक्ति के बाद मनुष्य जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में रहे और चाहे किसी भी प्रकार का काम करे उसी में वह भगवान् के अंदर अपने अस्तित्व को चरितार्थ कर सकता है। वह आत्मा से जिस प्रकार भी प्रेरित हो उसके अनुसार वह अपने लिये जन्म और परिस्थिति द्वारा नियत क्षेत्र में रह सकता है अथवा उस चौखट को तोड़कर एक ऐसे बंधनमुक्त कर्म की ओर बढ़ सकता है जो उसकी महिमान्वित चेतना तथा उच्चतर ज्ञान का उपयुक्त शरीर हो। मनुष्यों के चर्मचक्षुओं को ऐसा दीख सकता है कि उसकी आभ्यंतरिक मुक्ति के कारण उसके बाह्य कर्मों में कोई स्पष्ट अंतर नहीं आया है। अथवा, इसके विपरीत, अंतःस्थ स्वतंत्रता एवं अनंतता अपने आपको एक ऐसी विशाल और नवीन

बाह्य शक्तिशाली क्रिया में परिणत कर सकती है कि सभी की दृष्टि इस शक्ति की ओर आप से आप आकृष्ट हो। यदि उसके अंतर्यामी परमदेव का ऐसा ही संकल्प हो तो मुक्त आत्मा उन्हीं पुरानी मानवी परिस्थितियों में सूक्ष्म और सीमित कर्म से संतुष्ट रह सकती है; तब वे परिस्थितियां अपना बाह्य रूप किसी प्रकार भी बदलना नहीं चाहेंगी। परंतु उसे एक ऐसा कर्म करने के लिये भी आह्वान प्राप्त हो सकता है जो उसके अपने बहिर्जीवन के रूपों तथा क्षेत्र को ही नहीं बदल डालेगा अपितु उसके चारों ओर की किसी भी चीज को परिवर्त्तित या प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ेगा और नए जगत् एवं नई व्यवस्था को जन्म देगा।

*

एक प्रचलित विचार हमें यह विश्वास बंधायेगा कि संसार के नश्वर जीवन में व्यष्टि-आत्मा के लिये शारीरिक पुनर्जन्म से छुटकारा प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र प्रयोजन है। यदि ऐसा छुटकारा एक बार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाय तो आत्मा के लिये इहलोक या परलोक के जीवन में कोई और कर्म शेष नहीं रहता अथवा केवल वही कर्म शेष रहता है जिसकी जरूरत शरीर की सत्ता बनाये रखने के लिये होती है या जो गत जन्मों के अभुक्त कर्मफलों के कारण आवश्यक होता है। यह थोड़ा सा कर्म भी, योग की अग्नि से शीघ्र ही निःशेष या दग्ध होकर, मुक्त आत्मा के शरीर से प्रयाण करने पर समाप्त हो जायगा। पुनर्जन्म से छुटकारे का लक्ष्य भारतीय मन के अंदर चिरकाल से इस रूप में घर किये हुए है कि यही आत्मा का परम पुरुषार्थ है। इसने पारलौकिक स्वर्ग के उस सुख-भोग का स्थान ले लिया है जिसे अनेक धर्मों ने अपने दैवी प्रलोभन के रूप में भक्तों के मन में प्रतिष्ठित किया था। जब वैदिक सूक्तों के स्थूल बाह्य अर्थ का मत अत्यंत प्रबल था तब भारतीय धर्म ने भी इस अधिक पुरातन और निम्नतर पुकार का ही समर्थन किया। परवर्ती भारत में द्वैतवादियों ने भी इसे अपने परमोच्च आध्यात्मिक लक्ष्य का अंग बनाये रखा। इसमें संदेह नहीं कि मन और शरीर की सीमाओं से परे आत्मा की शाश्वत शांति, स्थिरता और नीरवता में मुक्ति प्राप्त करना मानसिक हर्षों या चिरस्थायी शारीरिक सुखों के स्वर्ग के प्रस्ताव की अपेक्षा अत्यधिक आकर्षक है, पर यह भी अंततः एक प्रलोभन ही है। ऐसी मुक्ति का यह आग्रह कि, मन को जगत् से विरक्त और प्राण-सत्ता को जन्म लेने के साहसिक कर्म से पराङमुख हो जाना चाहिये, एक प्रकार की दुर्बलता को ही ध्वनित करता है और इसलिये ऐसी मुक्ति हमारा परम लक्ष्य नहीं हो सकती। वैयक्तिक मोक्ष की कामना अहंकार की ही उपज है, भले ही इस कामना का स्वरूप कैसा भी ऊंचा क्यों न हो। इसका मूल आधार है हमारे निजी व्यक्तित्व का तथा इसकी कामना और भलाई का विचार, इसकी दुःख से छूटने की लालसा या जन्मग्रहण के कष्ट के अवसान के लिये इसकी चीख-पुकार। इन चीजों को ही यह हमारे जीवन का परम लक्ष्य निश्चित करती है। अहंकार के इस आधार के पूर्ण निराकरण के लिये वैयक्तिक मोक्ष की कामना से ऊपर उठना आवश्यक है। यदि हम भगवान् को खोजते हैं तो यह खोज भगवान् के लिये ही होनी चाहिये और किसी चीज के लिये नहीं, क्योंकि यही हमारी सत्ता की परम पुकार है और यही हमारी आत्मा का गभीरतम सत्य है। मोक्ष की प्राप्ति एवं आत्मा के स्वातंत्र्य के लिये तथा अपनी सच्ची एवं सर्वोच्च आत्मा की उपलब्धि और भगवान् के साथ मिलन के लिये प्रयत्न करने का समर्थन केवल इस कारण

किया जाता है कि यह हमारी प्रकृति का उच्चतम विधान है एवं हमारे अंदर के निम्नतर तत्त्व का परमोच्च तत्त्व की ओर आकर्षण है और यही हमारे अंदर भगवान् की इच्छा है। यह कारण इसे पर्याप्त रूप से सार्थक सिद्ध करता है और यह इसका सच्चे से सच्चा कारण है। अन्य सब कारण तो प्रपंचमात्र हैं, गौण या आनुषंगिक सत्य अथवा उपयोगी प्रलोभन हैं और ज्यों ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय और परमदेव तथा भूतमात्र के साथ एकत्व की स्थिति हमारी सामान्य चेतना, और इस स्थिति का आनंद हमारा आध्यात्मिक वातावरण बन जाय, त्यों ही आत्मा को उन सबका त्याग कर देना होगा।

प्रायः हम देखते हैं कि एक और आकर्षण, जो हमारी प्रकृति की एक उच्चतर प्रवृत्ति से संबंध रखता है और मुक्त आत्मा को जो कर्म करना चाहिये उसके मूल स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है, वैयक्तिक मोक्ष की कामना को अभिभूत कर देता है। अमिताभ बुद्ध का महान् आख्यान उसी आकर्षण की ओर इंगित करता है। जब उनकी आत्मा निर्वाण की ड्योढ़ी पर पहुंची तो वे वापिस मुड़े और प्रतिज्ञा की कि जब तक एक भी जीव दुःख और अज्ञान में रहेगा तब तक वे इसे कभी नहीं लांघेंगे। भागवत पुराण के उस उत्कृष्ट पद्य के मूल में भी यही अर्थ अंतर्निहित है "मुझे न तो आठों सिद्धियों से युक्त परम पद की कामना है और न पुनर्जन्म से छुटकारे की। मैं चाहता हूं कि सभी संतप्त प्राणियों का दुःख अपने ऊपर ले लूं और उनके अंदर प्रविष्ट हो जाऊं जिससे वे कष्ट से मुक्त हो जायं।" यही स्वामी विवेकानंद के एक पत्र के एक अद्भुत संदर्भ का प्रेरक है। उस महान् वेदांती ने लिखा था, "मुझे अपनी मुक्ति की कोई इच्छा नहीं रही है। मैं चाहता हूं कि मैं फिर फिर पैदा होऊं और हजारों कष्ट भोगूं जिससे मैं उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूं जो वस्तुतः सत् है; उस एकमात्र ईश्वर की जिसे मैं मानता हूं, जो सब आत्माओं का कुल-योग है,—और इससे भी बढ़कर अपने उस ईश्वर की जो सब जातियों और उपजातियों के दुष्ट जनों में है, अपने उस ईश्वर की जो सब दीन-दुःखियों में है, उस दरिद्रनारायण की जो मेरा विशेष पूजापात्र है। जो उच्च और नीच, संत और पापी, देवता और कृमि है, उसकी पूजा करो, दृश्य, ज्ञेय, वास्तविक और सर्वव्यापक की पूजा करो; और सब मूर्त्तियां तोड़ फेंको। जिसमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु न आवागमन, जिसमें हम सदा एक रहे हैं और सदा ही एक रहेंगे, उसकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियां तोड़ फेंको।"

अंतिम दो वाक्यों में सचमुच ही विषय का संपूर्ण सार आ जाता है। सच्चा मोक्ष प्राप्त करना या पुनर्जन्म के बंधन से सच्चा छुटकारा पाना यह नहीं कि पार्थिव जीवन का त्याग कर दिया जाय या व्यक्ति एक आध्यात्मिक स्व-विलोप के द्वारा जीवन से भाग जाय, जैसे कि सच्चा संन्यास यह नहीं है कि परिवार या समाज का केवल स्थूल रूप से त्याग कर दिया जाय। सच्चा मोक्ष उस भगवान् के साथ आंतर तादात्म्य है जिसमें अतीत जीवन और भावी जन्म का कोई बंधन नहीं है बल्कि इनके स्थान पर अज आत्मा की शाश्वत सत्ता है। गीता कहती है कि जो अंदर से स्वतंत्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; प्रकृति ही उसके अंदर अपने स्वामी की अधीनता में कार्य करती है। इसी प्रकार, चाहे वह सैंकड़ों बार शरीर धारण करे तो भी वह जन्म के हर प्रकार के बंधन से या सत्ता के यंत्रवत् घूमनेवाले चक्र से मुक्त रहता है क्योंकि वह अज एवं अविनाशी आत्मा में निवास करता है, शरीर के जीवन में नहीं। अतएव आवागमन से छुटकारे में आसक्ति एक ऐसी प्रतिमा है

जिसे और कोई भले ही सुरक्षित रखे पर जिसे पूर्णयोग के साधक को तोड़कर अपने से दूर फेंक देना होगा। कारण, उसका योग समस्त जगत् से परे विद्यमान परात्पर की व्यष्टि-आत्मा द्वारा उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है; यह विराट्, अर्थात् "सकल आत्माओं के कुलयोग" की उपलब्धि को भी समाविष्ट करता है, अतएव यह वैयक्तिक मोक्ष तथा पलायन की गति के भीतर ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। वैश्व सीमाओं के अतिक्रमण की अवस्था में भी वह भगवान् में सर्व के साथ एक होता है; संसार में दिव्य कर्म उसके लिये तब भी शेष रहता है।

*

वह कर्म किसी मनोनिर्मित नियम या मानवीय प्रतिमान से निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी चेतना मानवीय नियमों और मर्यादाओं को पार कर दिव्य स्वातंत्र्य में पहुंच जाती है, बाह्य और क्षणभंगुर के राज्य से निकलकर आंतर और नित्य के आत्म-शासन में तथा सांत के बंधनकारी रूपों से परे हटकर अनंत के स्वतंत्र आत्म-निर्धारण में प्रविष्ट हो जाती है। "वह चाहे जैसे भी रहता और काम करता हो", गीता कहती है, "वह मुझमें ही रहता और काम करता है।"[1] मनुष्यों की बुद्धि जिन नियमों को प्रस्थापित करती है वे मुक्त आत्मा पर लागू नहीं हो सकते। उनके मानसिक संस्कार और पूर्वनिर्णय जिन बाह्य कसौटियों और परीक्षाओं को निश्चित करते हैं उनके द्वारा ऐसे व्यक्ति के विषय में निर्णय नहीं किया जा सकता। वह इन भ्रांतिपूर्ण न्यायालयों के संकीर्ण अधिकार-क्षेत्र से बाहर होता है। इसका कुछ महत्त्व नहीं कि वह संन्यासी का वेष धारण करता है अथवा गृहस्थी का भरापूरा जीवन बिताता है; वह उन कार्यों में, जिन्हें लोग पवित्र कहते हैं, अथवा संसार के बहुमुख कार्य-व्यवहार में अपने दिन बिताता है; वह अपना **जीवन** बुद्ध, ईसा या शंकर के समान प्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को प्रकाश की ओर ले जाने में लगाता है अथवा जनक की भांति राज्यों का संचालन करता है अथवा श्रीकृष्ण की भांति एक राज-नीतिज्ञ या सेनानायक के रूप में लोगों के सामने उपस्थित होता है; वह क्या खाता-पीता है; उसकी आदतें या प्रवृत्तियां क्या हैं; वह सफल होता है या असफल; उसका कार्य निर्माण का है या विनाश का; क्या वह पुरातन व्यवस्था का समर्थन या उसकी पुनः प्रतिष्ठा करता है अथवा उसके स्थान पर नई व्यवस्था की स्थापना करने की चेष्टा करता है; क्या उसके संगी-साथी वे लोग हैं जिनका मान करने में मनुष्य हर्ष अनुभव करते हैं अथवा वे लोग जिन्हें उनकी उत्कृष्ट पवित्रता की भावना बहिष्कृत और तिरस्कृत करती है; क्या उसके समकालीन लोग उसके जीवन और कार्य-कलाप का अनुमोदन करते हैं अथवा उसे मनुष्यों को कुमार्ग पर चलानेवाला और धार्मिक, नैतिक या सामाजिक पाखंडों को उत्तेजित करनेवाला कहकर उसकी निंदा करते हैं। वह मनुष्यों के निर्णयों या अज्ञानियों के निश्चित किये हुए नियमों के अनुसार नहीं चलता, वह अंतर की वाणी का अनुसरण करता है और अदृश्य शक्ति से चालित होता है। उसका वास्तविक जीवन भीतर होता है जिसका वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह ईश्वर में और भगवान् तथा अनंत में रहता-सहता, चलता-फिरता और काम-काज करता है।

पर यद्यपि उसका कर्म किसी बाह्य नियम से अनुशासित नहीं होता, तो भी यह एक ऐसे

---

[1]सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। गीता ६–३१

नियम का अनुसरण करता है जो बाह्य नहीं होता; यह किसी वैयक्तिक कामना या लक्ष्य से प्रेरित नहीं होता, बल्कि यह संसार में एक सचेतन तथा आत्म-शासित और परिणामतः सुशासित दिव्य क्रिया का भाग होता है। गीता स्पष्ट कहती है कि मुक्त मनुष्य का कर्म कामना से परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उसका लक्ष्य होना चाहिये लोक-संग्रह, संसार को एकत्र रखना और इसका शासन, मार्गदर्शन तथा प्रचालन करना तथा इसे इसके नियत पथ पर स्थिर रखना। इस उपदेश का यह अर्थ किया गया है कि क्योंकि संसार एक ऐसा भ्रम है जिसमें अनेक मनुष्यों को रखना ही होता है—कारण, वे मोक्ष के अयोग्य होते हैं,—उसे बाहर से इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि वह सामाजिक नियम द्वारा उनके लिये निर्दिष्ट किये हुए आचारिक कर्मों में उनकी आसक्ति को दृढ़ बनाये रखे। यदि ऐसा ही हो तो यह एक हीन और तुच्छ नियम होगा और प्रत्येक भद्रहृदय व्यक्ति इसका त्याग कर अमिताभ बुद्ध के दिव्य व्रत, भागवत की उदात्त प्रार्थना और विवेकानंद की उत्कट अभीप्सा का ही अनुसरण करना चाहेगा। विशेषकर यदि हम इस विचार को स्वीकार करें कि संसार प्रकृति की एक ऐसी गति है जो दैवी ढंग से परिचालित हो रही है, जो मनुष्य के अंदर ईश्वर की ओर उच्छलित हो रही है और इसी कार्य में, गीता के ईश्वर कहते हैं कि, वे निरंतर लगे हुए हैं, चाहे स्वयं उनके लिये ऐसी कोई अप्राप्त वस्तु नहीं है जो उन्हें अभी प्राप्त करनी हो,—तो इस महान् उपदेश का गंभीर और सत्य आशय हमारे सामने प्रकट हो जायगा। उस दिव्य कर्म में भाग लेना और संसार में ईश्वर के लिये जीना कर्मयोगी के कर्म का नियम होगा; संसार में ईश्वर के लिये जीना और अतएव इस प्रकार कर्म करना कि भगवान् अपने आपको अधिकाधिक प्रकट कर सके और संसार अपनी अज्ञात यात्रा के चाहे जिस भी मार्ग से आगे बढ़ता हुआ दिव्य आदर्श के अधिक निकट पहुंच सके।

यह कार्य वह कैसे करेगा, किस विशेष ढंग से करेगा यह किसी सामान्य नियम के द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। यह तो अंदर से ही विकसित या निर्धारित होगा। इसका निश्चय ईश्वर और हमारी आत्मा, परम आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के—जो कर्म का यंत्र होती है—बीच की बात है। मुक्ति से पहले भी, अंतरात्मा ही, ज्यों ही हम इससे सचेतन होते हैं, हमारी अनुमति या हमारे अध्यात्मतः निर्धारित चुनाव का उद्गम बन जाती है। करणीय कर्म का ज्ञान पूर्णरूपेण अंदर से ही प्राप्त होना चाहिये। ऐसा कोई विशिष्ट कर्म नहीं है, न ही कर्मों का ऐसा कोई विधि-विधान या बाह्यतः स्थिर या नियत ढंग है जिसे मुक्त जीव का कर्म या उसके कर्म का विधि-विधान या ढंग कहा जा सके। करणीय कर्म को सूचित करने के लिये गीता में जो शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ, निश्चय ही, यह लगाया गया है कि हमें फल का विचार किये बिना अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिये। किंतु यह एक ऐसा विचार है जो यूरोपीय संस्कृति की उपज है और आध्यात्मिक की अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक है और अपने बोधनों (concepts) में अंतर्गभीर होने की अपेक्षा कहीं अधिक बाह्य है। कर्तव्य नाम की किसी सामान्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। हमारे सामने तो केवल अनेक कर्तव्य होते हैं जो प्रायः परस्परविरोधी होते हैं। ये हमारी परिस्थिति, हमारे सामाजिक संबंधों और हमारी बाह्य जीवन-स्थिति से निर्धारित होते हैं। इनका एक बड़ा लाभ यह होता है कि ये अपरिपक्व नैतिक प्रकृति को सधाते हैं तथा स्वार्थ-पूर्ण कामना के कर्म को निरुत्साहित करनेवाले प्रतिमान की स्थापना करते हैं। यह कहा ही

जा चुका है कि जब तक अभीप्सु को आंतरिक ज्योति प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक उसे स्वलब्ध सर्वोत्तम प्रकाश के अनुसार ही चलना होगा; कर्तव्य, सिद्धांत और ध्येय उन प्रतिमानों में से हैं जिनका वह कुछ काल के लिये निर्माण तथा अनुसरण कर सकता है। परंतु यह सब होते हुए भी, कर्तव्य कर्म बाह्य चीजें हैं, आत्मा की वस्तु नहीं। ये इस पथ में कर्म के चरम आदर्श नहीं हो सकते। सैनिक का कर्तव्य यह है कि जब उसे आह्वान प्राप्त हो वह युद्ध करे, यहां तक कि अपने बंधु-बांधवों पर भी गोली चलावे। परंतु ऐसा या इससे मिलता-जुलता और कोई मानदण्ड मुक्त पुरुष पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, प्रेम या करुणा करना, अपनी सत्ता के उच्चतम सत्य का अनुसरण करना और भगवान् के आदेश का पालन करना भी कोई कर्तव्य नहीं हैं। ये तो प्रकृति का धर्म बनते जाते हैं जैसे जैसे कि यह भगवान् की ओर ऊपर उठती है, ये आत्म-स्थिति से कर्म का प्रवाह तथा आत्म-सत्ता का उच्च सत्य हैं। कर्मों के मुक्त कर्ता का कर्म आत्मा से निःसृत इस प्रकार का प्रवाह ही होना चाहिये। यह भगवान् के साथ उसके आध्यात्मिक मिलन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में उसे प्राप्त होना चाहिये अथवा उसके अंदर प्रकट होना चाहिये न कि मानसिक विचार एवं संकल्प और व्यावहारिक बुद्धि या सामाजिक भावना की किसी उन्नायक रचना से निर्मित होना चाहिये। साधारण जीवन में वैयक्तिक, सामाजिक या परंपरागत निर्मित नियम, प्रतिमान या आदर्श ही मार्गदर्शक हाता है। परंतु जब एक बार आध्यात्मिक यात्रा शुरू हो जाय, तो इसके स्थान पर आंतरिक जीवन-यापन का एक ऐसा बाह्य एवं आभ्यंतर नियम या प्रणाली प्रतिष्ठित करनी चाहिये जो हमारी आत्म-साधना के लिये तथा हमें स्वतंत्र एवं पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हो, एक ऐसी जीवनप्रणाली जो हमारे अवलंबित पथ के उपयुक्त या आध्यात्मिक मार्गदर्शक और शिक्षक–'गुरु'–से आदिष्ट हो अथवा हमारे अंतःस्थ पथप्रदर्शक से निर्दिष्ट हो। परंतु आत्मा की अनंतता और स्वतंत्रता की चरम अवस्था में सभी बाह्य प्रतिमान पदच्युत या बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और तब केवल यही प्रतिमान रह जाता है कि जिस भगवान् के साथ हम योगयुक्त हो चुके हैं उसके आदेश का पालन हम सहज और पूर्ण रूप से करें तथा ऐसा कर्म करें जो हमारी सत्ता और प्रकृति के सर्वांग आध्यात्मिक सत्य को सहज-स्वाभाविक रूप से चरितार्थ करता हो।

*

गीता के इस वचन को कि स्वभाव के द्वारा निर्धारित और परिचालित कार्य ही हमारे कर्मों का नियम होना चाहिये, हमें इस गभीरतर अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिये। निश्चय ही, यहां 'स्वभाव' शब्द से स्थूल स्वभाव या चरित्र या अभ्यासगत आवेग अभिप्रेत नहीं हैं, बल्कि संस्कृत शब्द के मूल अर्थ के अनुसार हमारी "अपनी सत्ता", हमारी मूल प्रकृति, हमारी आत्माओं का दिव्य सत्त्व ही अभिप्रेत है। इस मूल से उद्भूत या इन स्रोतों से प्रवाहित होनेवाली प्रत्येक वस्तु गभीर, सारभूत और यथार्थ होती है। शेष सब वस्तुएं–सम्मतियां, कामनाएं, आवेग और अभ्यास–सत्ता की केवल तलीय रचनाएं या आकस्मिक विभ्रम या बाह्य अध्यारोप ही हो सकती हैं। इनमें हेरफेर और परिवर्तन होता रहता है पर वह स्थिर रहती है। प्रकृति हमारे अंदर जो जो कार्यवाहक रूप ग्रहण करती है वे हमारा अपना आप या हमारा नित्यतः स्थिर और व्यंजक आकार नहीं होते, हमारे अंदर की आध्यात्मिक सत्ता

ही–इसके अंदर इसकी आत्मिक अभिव्यक्ति भी आ जाती है–विश्व में काल के भीतर अचल और अटल रहती है।

तथापि अपनी सत्ता के इस सत्य आंतरिक नियम को हम सुगमता से नहीं जान सकते। जब तक हमारी बुद्धि और हृदय अहंभाव के कारण अशुद्ध रहते हैं, यह हमसे छिपा ही रहता है। तब तक हम अपने परिपार्श्व से प्राप्त सब प्रकार के स्थूल और अस्थायी विचारों, आवेगों, कामनाओं, सुझावों और अध्यारोपों का अनुसरण करते रहते हैं अथवा अपने अल्प-कालिक मन-प्राण-शरीररूप व्यक्तित्व की रचनाओं को ही कार्यान्वित करते रहते हैं। यह व्यक्तित्व एक नश्वर, परीक्षणात्मक और सांस्थानिक स्व है जो हमारी सत्ता, और अपरा प्रकृति के दबाव की परस्पर-क्रिया के द्वारा हमारे लिये बनाया गया है। जितना ही हम शुद्ध होते हैं उतना ही हमारे अंदर की सच्ची सत्ता अपने को अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करती है; हमारी इच्छाशक्ति बाहर से आनेवाले सुझावों में उतना ही कम फंसती है अथवा हमारी निजी उथली मानसिक रचनाओं में उतना ही कम आबद्ध होती है। अहंकार के छूट जाने पर, प्रकृति के शुद्ध हो जाने पर, कर्म अंतरात्मा के आदेश से एवं आत्मा की गहराइयों या ऊंचाइयों से प्रेरित होगा, अथवा यह स्पष्टतया उस ईश्वर के द्वारा परिचालित होगा जो हमारे हृदयों के भीतर गुप्त रूप में सदा से ही आसीन है। योगी के लिये गीता का चरम और परम वचन यह है कि उसे धर्म-कर्म के सब रूढ़ सूत्रों, आचार-व्यवहार के सब बंधे-बंधाये बाह्य नियमों, स्थूल गोचर प्रकृति की सभी रचनाओं–सर्व 'धर्मों' को–त्याग करके एकमात्र भगवान् की शरण लेनी चाहिये। जब वह कामना और आसक्ति से मुक्त और प्राणिमात्र के साथ एकीभूत हो जायगा, अनंत सत्य और पवित्रता में निवास करेगा, अपनी अंतश्चेतना की गहनतम गहराइयों से कार्य करेगा और अपनी अमर, दिव्य एवं सर्वोच्च आत्मा से परिचालित होगा, तब अंतरस्थ शक्ति ही ईश्वर को जगत् में चरितार्थ करने और सनातन को काल में व्यक्त करने के लिये हमारे अंदर की उस सारभूत आत्मा और प्रकृति के द्वारा, जो ज्ञानोपार्जन, युद्ध-पराक्रम, कार्य-व्यवसाय और सेवा-परिचर्या करती हुई भी सदा दिव्य रहती है, उसके सभी कर्मों का संचालन करेगी।

भगवान् के साथ योगयुक्त हमारी आध्यात्मिक सत्ता की ज्योति एवं शक्ति से सहज, स्वतंत्र और निर्भ्रांत रूप में उद्‌भूत होनेवाला दिव्य कर्म ही इस सर्वांगीण कर्मयोग की चरम अवस्था है। हमें मोक्ष की खोज क्यों करनी चाहिये इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि हम व्यक्तिगत रूप में जगत् के दुःख से मुक्त हो जायं,–यद्यपि दुःख से मुक्ति भी हमें प्राप्त होगी ही,–वरन् यह है कि हम भगवान्, पुरुषोत्तम और सनातन के साथ एक हो जायं। पूर्णता की खोज–परम स्थिति, पवित्रता, ज्ञान, बल, प्रेम और सामर्थ्य की खोज–हमें क्यों करनी चाहिये इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप में हम दिव्य प्रकृति का उपभोग करें, यह भी नहीं कि हम देवताओं के समान बन जायं,–यद्यपि ऐसा दिव्य उपभोग भी हमें अवश्य प्राप्त होगा,–वरन् यह है कि इस मुक्ति और पूर्णता को प्राप्त करना ही हमारे अंदर भगवान् की इच्छा है, यही प्रकृति में हमारी आत्मा का सर्वोच्च सत्य है, यही विश्व में वर्द्धनशील अभिव्यक्ति का सदा-अभिमत लक्ष्य है। दिव्य प्रकृति–स्वतंत्र, परिपूर्ण और आनंदमय प्रकृति–व्यक्ति में अवश्य प्रकट होनी चाहिये जिससे कि यह संसार में भी अभिव्यक्त हो सके। अविद्या में भी व्यक्ति वस्तुतः विराट् के अंदर और विराट् के

प्रयोजन के लिये ही निवास करता है। अपने अहं के प्रयोजनों और कामनाओं का अनुसरण करता हुआ भी वह विश्वप्रकृति के द्वारा बाध्य होकर अपने अहम्मूलक कार्य से इन लोकों के अंदर उसी (प्रकृति) के कार्य और प्रयोजन में ही सहयोग देता है। परंतु यह सहयोग वह बिना सचेतन संकल्प के एवं अपूर्ण ढंग से और उसकी अर्ध-विकसित एवं अर्द्ध-चेतन तथा अपूर्ण एवं स्थूल क्रिया को ही देता है। अहं से मुक्त होकर भगवान् से एकत्व प्राप्त करना उसके व्यक्तिभाव की मुक्ति है और यही उसकी परिपूर्णता भी है। इस प्रकार शुद्ध, मुक्त और पूर्णता-प्राप्त व्यक्ति—दिव्य आत्मा—जैसा प्रारंभ से ही अभिमत था, सचेतन तथा समग्र रूप में, विराट् और परात्पर भगवान् में और उसके लिये तथा उसके विश्वगत संकल्प के लिये जीवन यापन करने लगता है।

ज्ञानमार्ग में हम एक ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां हम व्यक्तित्व तथा विश्व का अतिक्रमण करके, समस्त विचार, संकल्प एवं कर्मकलाप तथा प्रकृति की समस्त गतिविधि को पार करके और अनंतता में लीन तथा उन्नीत होकर परात्परता में निमग्न हो सकते हैं। यह अवस्था ईश्वरज्ञानी के लिये अपरिहार्य तो नहीं है पर यह अंतरात्मा का एक स्व-निर्णीत लक्ष्य हो सकती है। यह हमारे अंदर की आत्मा द्वारा अनुसृत एक भूमिका-विशेष हो सकती है। भक्तिमार्ग में हम भक्ति और प्रीति की प्रगाढ़ता के द्वारा उस परमोच्च सर्व-प्रियतम से मिलन लाभ कर नित्य निरंतर उसके सान्निध्य के हर्षावेश में रह सकते हैं,—उसी में निमग्न, एक ही आनंदमय लोक में उसके घनिष्ठ सहचर बनकर। यही तब हमारी सत्ता का संवेग तथा इसका आध्यात्मिक चुनाव हो सकता है। परंतु कर्मों के मार्ग में हमारे सामने एक और ही प्रकार का भविष्य खुलता है। इस पथ पर यात्रा करते हुए हम सनातन देव के साथ प्रकृति का साधर्म्य और सादृश्य लाभ कर मुक्ति और सिद्धि में प्रवेश कर सकते हैं। हम अपनी इच्छाशक्ति और सक्रिय व्यक्तित्व में भी उसके साथ उतने ही तदाकार हो जाते हैं जितने कि अपनी आध्यात्मिक स्थिति में। कर्म करने का दिव्य ढंग इस मिलन का स्वाभाविक परिणाम होता है और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य में दिव्य जीवन का यापन इसकी अभिव्यक्ति का मूर्त्तिमंत रूप। पूर्णयोग में ये तीनों मार्ग अपने निषेधों का त्याग कर देते हैं और परस्पर घुलमिलकर एक हो जाते हैं अथवा स्वभावतः ही एक दूसरे में से उद्भूत होते हैं। हमारी आत्मा पर जो मन का पर्दा पड़ा हुआ था उससे मुक्त होकर हम परात्परता में निवास करने लगते हैं, हृदय की उपासना के द्वारा हम परम प्रेम और आनंद के एकत्व में प्रवेश करते हैं और परा शक्ति में हमारी सत्ता की सब शक्तियों के उन्नीत हो जाने तथा एक ही परम संकल्प और शक्ति में हमारे संकल्पों और कर्मों के समर्पित हो जाने पर हम दिव्य प्रकृति की क्रियाशील पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं।

संपादक, डा० इन्द्रसेन (श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी) ; प्रबन्ध-संपादक, श्री केशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाइड रो, कलकत्ता—२२) ; प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)
Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
482-53-6-1200

श्रीअरविन्द के पत्र (भाग २)

साधना, दर्शन, समाजशास्त्र, कला, साहित्य आदि विषयक पत्रों का यह संकलन अत्यंत सरल भाषा में श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन के लिये बहुमुखी पथ-प्रदर्शन प्रस्तुत करता है। मूल्य ३)

श्रीअरविन्द की प्रेरणा

श्रीअरविन्द के व्यक्तित्व तथा कार्य की पंचविध प्रेरणा को यह पुस्तक अत्यंत रोचक शैली से प्रस्तुत करती है। इसमें उनकी जीवनी, योग, समाजशास्त्र, दर्शन तथा साहित्य पर विभिन्न विद्वानों के पांच विस्तारपूर्ण निबंध हैं। बहुमुखी परिचय के लिये अत्यंत उपयोगी पुस्तक है। अदिति के साइज में १६३ पृष्ठ, मूल्य ३)।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२ की पूरी चारों चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ६), सजिल्द ८)। सन् ४७ के केवल ३रा और ४था अंक। प्रति अंक १।।)। सन् ५१ और ५२ के विशेषांक के दाम २।।)

भारत माता (मासिक) की फाइलें

सन् ५१ और ५२ की अर्चना विशेषांक सहित प्रति फाइल ६)।

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

★श्रीअरविन्दकृत पुस्तकें★

- श्रीअरविन्द के पत्र (भाग २) . . ३)
- कर्मयोगी . . . . २।।)
- चार साधन . . . . ।।)
- विचार और झांकियां . . . . . ।।।)
- दयानन्द . . . . ।।।)
- दुर्गास्तोत्र . . . . ।)
- गीताप्रबन्ध . . . . ६।।)
- माता . . . . ।।।)
- श्रीमां . . . . २।।)
- योगप्रदीप . . . . १)
- योग के आधार . . . . . . २।।)
- वेद-रहस्य (सजिल्द) खंड १, २ . ९), ४)
- वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,, . ८), ३)
- उत्तरपाड़ा अभिभाषण . . . . ।=)
- इस जगत् की पहेली . . . . १)
- जगन्नाथ का रथ . . . . . ।।।)
- श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम) . ।।)
- धर्म और जातीयता . . . १।)
- गीता की भूमिका . . . . १।।)

★माताजीकृत पुस्तकें★

- वार्षिक प्रार्थनाएं . . . . ।=)
- मातृवाणी भाग १, २ . . . २), ।।)
- सर्वोत्तम आविष्कार . . . ।=)
- सुन्दर कहानियां . . . . १।)
- शिक्षा . . . . १।)
- भविष्य की ओर . . . . ।।)

★अन्य पुस्तकें★

- पूर्णयोग . . . . . . १।)
- योगदीक्षा . . . . . . १)
- योगविचार . . . . . . २।)
- अदिति माता . . . . . . १)
- श्रीअरविंद और उनका योग. . ।।=)
- श्रीअरविंद और उनका आश्रम १, २ १)
- प्रकाश की ओर . . . . . ।।)
- श्रीअरविन्द की प्रेरणा . . . ३)

★★मिलने के पते★★

★१. श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी ★२. श्रीअरविन्द बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजंसी, ३२ रैम्पर्ट रो, फोर्ट, बम्बई ★ ३. श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली (स्थान—एस. एन. सण्डर्सन एण्ड को.)

